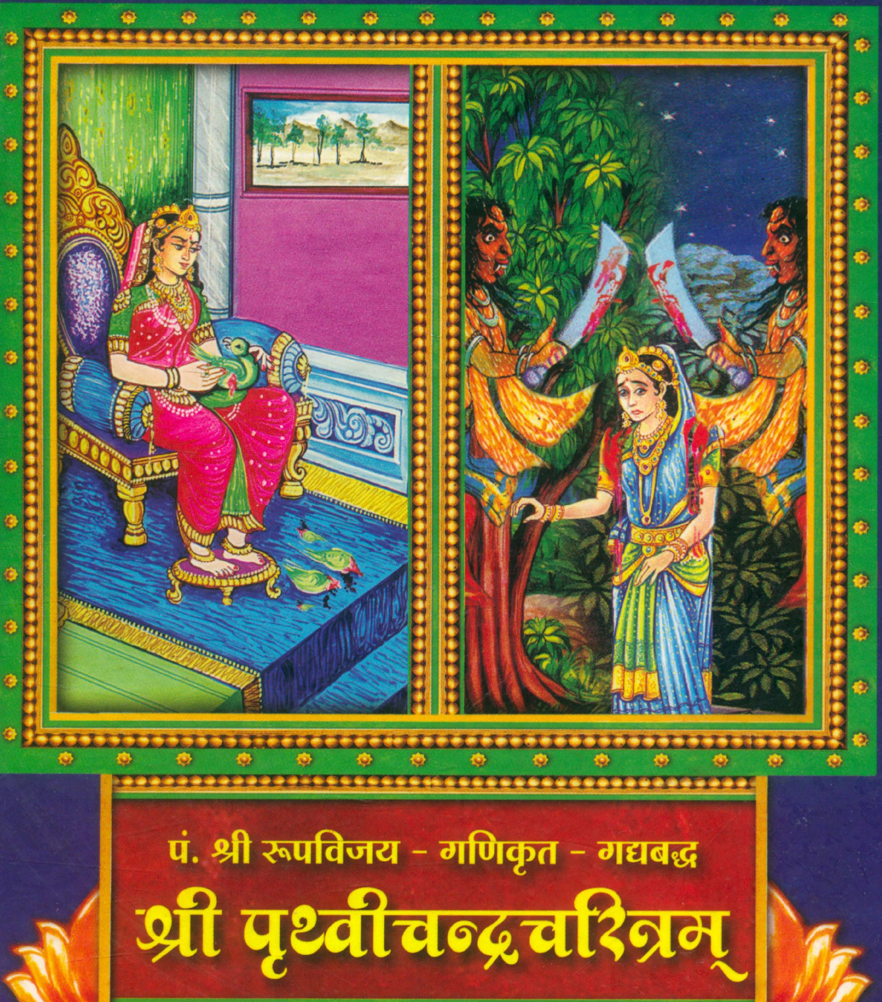

पं. श्री रूपविजय - गणिकृत - गद्यबद्ध

श्री पृथ्वीचन्द्रचरित्रम्

संपादक : मुनि श्री जयानन्दविजयादि मुनि मण्डलः

।। श्री-गोडी-पार्श्वनाथाय-नमः ।।

।। प्रभु-श्रीमद्विजय-श्रीराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

पण्डित-श्रीरूपविजयगणि-विरचितम्-गद्यबद्ध

श्री पृथ्वीचन्द्रचरित्रम्

.. दिव्याशिष ..

श्री विद्याचंद्रसूरीश्वराः • श्री रामचंद्र विजयाः

.. संपादक ..

पं. अमृतलालः

.. पुनः संपादक ..

मुनिराजश्री-जयानंद-विजयादिमुनि-मण्डलः

.. प्रकाशिका ..

गुरुश्री रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, (राज.)

.. मुख्य संरक्षक ..

(१) मुनिराज श्री जयानंद विजयजी आदि ठाणा की निश्रा में वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते

लेहर कुंदन ग्रुप

मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा,

(२) एक सद्गृहस्थ, भीनमाल

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा असो मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अट्ठाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी विजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद अेन्ड कं., तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडामें चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान्
'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

द्रव्य सहायक

आ. श्री विद्याचंद्रसूरीश्वरजी
के शिष्य एवं
मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी
के कृपापात्र

चातुर्मास प्रारंभ
आषाढ सुदि १३ बुधवार,
१६/७/०८
चातुर्मास समापन
कार्तिक सुदि १५ गुरुवार,
१३/११/०८

मुनिराज श्री
जयानंदविजयजी

मुनि श्री दिव्यानंदविजयजी
मुनि श्री वैराग्यानंदविजयजी
मुनि श्री तत्त्वानंदविजयजी
मुनि श्री रैवतचंद्रविजयजी
मुनि श्री अमृतविजयजी आदि ठाणा एवं
राष्ट्रसंत शिरोमणी आ. श्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी के
आज्ञा. शा. दी. प्र. वि. साध्वीश्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्याएँ

सा. श्री कुशलप्रभाश्रीजी
सा. श्री कीर्तिप्रभाश्रीजी - सा. श्री वसंतबालाश्रीजी
सा. श्री मुक्तिप्रज्ञाश्रीजी - सा. श्री मुक्तिरत्नाश्रीजी
सा. श्री मुक्तिदर्शिताश्रीजी - सा. श्री मुक्तिरिद्धिश्रीजी
सा. श्री मुक्तिसिद्धिश्रीजी - सा. श्री मुक्तिप्रियाश्रीजी

आदि ठाणा का शाश्वत तीर्थ शत्रुंजय क्षेत्रे पालीताना नगरे २०६५ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय की ज्ञान खाते की आय में से...

लेहर-कुंदन ग्रुप

मेंगलवा, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा

श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी कुंदनमलजी बालगोता परिवार मेंगलवा...

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो.नं.-१०८, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा. लि.- ५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षिल, प्रीष, कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : फ्राइब्रोस कुंदन ग्रुप, ३५ पेसमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. दिल्ली, मुंबई.

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी - मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार

बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्‌गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट) मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली.

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, ह्रितिक, आहोर। कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना नं.२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार - आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - ६०० ०७९.

(४१) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार, श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहील, पक्षाल बेटा पोता-परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.) जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापली-५३१ ००१.

(४२) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दांसपा, मुंबई.

(४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.)-फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१

(४५) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.

(४७) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(४८) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.

(४९) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.

सह संरक्षक

(१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(३) श्रीमती फेन्सीबेन सुखराजजी चमनाजी कबदी धाणसा, गोल्डन कलेक्शन, नं-५ चांदी गली, ३रा भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२.

(४) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स, के. सी. आई. वार्यर्स प्रा. लि. १६३, गोविंदाप्पा, नायकन स्ट्रीट, चेन्नई-६००००१.

(५) शा जेठमलजी सागरमलजी की स्मृति में मुलचंद, महावीरकुमार, आयुषी, मेहुल, रियान्सु, डोली, प्रागाणी ग्रुप-संखलेचा, मेंगलवा. राज रतन एसेंबली वर्क्स, १४६/११६९, मोतीलाल नगर नं.-१. सांई मंदिर के सामने, रोड नं.-३, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-१०४. संखलेचा मार्केटींग, ११-१३-१६, समाचारवारी स्ट्रीट, विजयवाडा-१.

(६) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल, प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज़, सुन्दर फर्नीचर, ७९४ सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(७) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.

प्रस्तावना

ग्रन्थोऽयं विरचयाञ्चक्रे *पण्डितश्रीपद्मविजयगणि*विनेयरत्नैः *पण्डितश्रीरूपविजयगणिवरै*रहम्मदावादनगरे वैक्रमीय १८८२ तमे संवत्सरे, इत्येतत्प्रान्तमुद्रितग्रन्थकृत्प्रशस्तित एव स्पष्टं ज्ञायते । अत इमे महात्मानो वैक्रमीयैकोन-विंशतितमशताब्द्यामिदं वसुधापीठं पावयाञ्चक्रुरिति निर्विवादमवगम्यते ।

विपश्चिद्वर्यैरेभिरेव आगमिक*श्रीजयतिलकसूरि*प्रणीतस्य सम्यक्त्वसम्भवनाम्नः सुलसाचरित्र-महाकाव्यस्य गुर्जरगिरायां जग्रन्थे बालावबोधो वैक्रमीयैकोनविंशतिशत (१६००) तमे संवत्सरे, अद्यावध्यमुद्रितश्चायम् । तत्प्रशस्ति-श्लोका हीमे --

शब्दा-ऽलङ्कृति-काव्य-च्छन्दनिपुणः साहित्यरत्नाकरो,
राद्धान्तस्य रहस्यविच्च नितरां भाष्याम्बुधिपारगः।
तर्के कर्कशतां दधद् धिषणया वादिगणांस्त्रासयन्,
जीयात् श्रीमतिसद्म *पद्मविजयो* वाचंयमो मद्गुरुः ॥१॥

रुपविजयशिष्येण, गुरुवाक्यानुयायिना ।
ज्ञानाराधनभक्तेन, परोपकृतिहेतवे ॥२॥

सम्यक्त्वसंभवे काव्ये, व्याख्यातं लेशतो मया ।
कृत*मिविजया*द्व-वाक्यात् सम्यक्त्वशुद्धये ॥३॥

व्योम°-व्योमा°-ऽङ्क९-१चन्द्रे च, वत्सरे विक्रमार्कतः ।
मार्गशीर्षे सिते पक्षे, पञ्चम्यां रविवासरे ॥४॥

एतत्प्रशस्तिश्लोकैर्निर्णीयतेऽनवद्यविद्यारसरसिकानामेषां सत्तासमयो वैक्रमीयविंशतितमशताब्द्याः प्रारम्भकालेऽपि।

गीर्वाणगीरनभिज्ञान् प्राकृतजनानपि जिनेन्द्रमतामृतरसास्वादसिस्वादयिषुभिः परोपकारैकदत्तदृष्टिभिश्चैभिरेव महात्मभिर्गूर्जरगिरायामपि शुभभावनाविवर्धकाः पूजा-रासक-चैत्यवन्दन-स्तुति-बालावबोधाद्यात्मका अनेके ग्रन्था निर्मापयाञ्चक्रिरे, दरीदृश्यन्ते च तेष्वधिकतमा मुद्रितप्राया विविधपूजासंग्रहादिषु ।

अस्त्येकादशसर्गात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे राजर्षिश्रीपृथ्वीचन्द्र-गुणसागरयोर्वैराग्यपुष्टिप्रदं सहृदयहृदयङ्गमं चित्ताह्लादकं च चरित्रम् । वरीवर्त्ति चैतत् शङ्खनृपति-कलावतीराज्ञीभवादारभ्यैकविंशतिभववर्णनस्वरूपम् । गद्यात्मकमिदं विद्वज्जनानामृजुभाषामयत्वेन च विशेषतः साधारणसंस्कृतगीर्ज्ञानामुपकारि। रसिकता त्वस्याऽपूर्वैव । प्रसङ्गतः प्रास्ताविकश्लोकाश्चात्र प्रभूताः। तत्तत्स्थानागतप्राकृतगाथानां तु संस्कृतच्छायाऽपि कृता कठिन-शब्दानां च टिप्पन्यः कृताः पर्यायशब्दैः । प्रान्ते च प्रास्ताविक-पद्यानाम् अकारादिः क्रमोऽपि ग्रथितः ।

ग्रन्थस्यास्य संशोधनार्थं पञ्चमारेऽपि संयमनैर्मल्यविख्यात-यशसां मुनिवर्यश्रीमत्केवलविजयपादानां शिष्यरत्नैर्बालब्रह्मचारिभिरनुग्रहपरैर्मुनिराजश्रीमदमरविजयैर्दत्तं स्वकीयपुस्तकभाण्डा-गारस्थं हस्तलिखितप्रतिद्वयम् । तयोरेका प्रतिः शुद्धप्राया, द्वितीया तु नातिशुद्धा । एवं च प्रतिद्वयाधारेण कृतेऽपि दत्तावधानतया संशोधनकर्मणि सुलभत्वाच्छद्मस्थ-स्खलनस्य, दृष्टिदोषाद्, अक्षर-योजकप्रमादाद्, मुद्रायन्त्रदोषाद्वा याः काश्चन स्खलना भवेयुस्ताः संशोध्य वाचयन्तु धीधनाः सज्जना इति प्रार्थयते स्याद्वादनिष्णम-नीषविद्वज्जनकृपाकाङ्क्षी —

अमृतलालः

प्रस्तावना

चतुर्ष्वनुयोगेषु कथानुयोगः सरलतमोऽस्ति। द्रव्यानुयोगादिविषये-ष्वतिगहनत्वाद् व्युत्पन्नमतय एव प्रवेष्टुं प्रभवः। मतिमन्देभ्यस्तेषां दुर्ज्ञेयतैव। अधिकृतजिनमार्गा अल्पधीमन्तः पूर्वर्षिभी रचितानि सरलगद्यपद्यचरित्राणि पठित्वा तात्त्विकविषये प्रविशेयुः। पूर्वमहात्मभी रचिताः कथाः संयमयोग-स्थिरतायै चात्मगुणविकासनाय च बहूपयोगिन्यः। महापुरुषचरित्रपठनेन जीवन आत्मसंबल प्राप्तिर्भवति तथा विकथायामसंलग्नः सदा शुभयोगे रतो भवति। अतः कथानुयोगोऽपि स्वात्मोन्नत्यै सुन्दरः साधनमस्ति।

प्रस्तुतपृथ्वीचन्द्रचरित्रमप्यात्मिकगुणानां क्रमशो विकासदिग्दर्शन-कारकं चरित्रम्। प्रथमे भवे कर्मणां दारुणविपाको दर्शितः। तत एव शङ्खकलावत्योर्जीवनयात्रायाः प्रारम्भो भवति। एकविंशतितमे भवे पूर्णतामेति। पुण्यानुबन्धिपुण्यस्यापीदं चरित्रं महत्त्वं दर्शयति, येन पुण्येन जीवस्य प्रतिभवं गुणवर्धनमेव भवति न कदापि पातः।

पूज्यपादेन श्रीहरिभद्रसूरिणा 'उपदेशपदे' ग्रन्थे शङ्खराजस्योल्लेखः कृतः, यत् 'प्रथमे भवे शङ्खनृपो दुःषमकाले चारित्रं गृहीत्वा तत्कालानुरूपा-ज्ञानुसारिणी यतना सेविता', तत्प्रभावात् पुण्यानुबन्धिपुण्यं संचितवान् येन भवे भवे भाववृद्ध्या सुगतिभागभवत्। विंशतितमे भवे भौतिकसुखपराकाष्ठां भागी सर्वार्थसिद्धविमाने सुरोत्तमोऽजायत। ततश्च्युत्वा एकविंशे भवे शाश्वत-सुखवानभवत्। पूज्यहरिभद्रसूरिणा लिखितम् –

संखो कलावई तह, आहरणं एत्थ मिहुणयं णेयं।
चरमद्धायऽवितहचरणजोगओ सति सुहं सिद्धं ॥७३६॥

–उपदेश पदः

चरमद्धदोसाओ संघयणाइविरहे वि भावेण।
संपुण्णधम्मपालणमणुदियहं चेव जयणाए ॥ ७६८ ॥

–उपदेश पदः

एकोनविंशतितमे भवे द्वौ पितापुत्ररूप उत्पन्नौ। दीक्षां लात्वा यत्तपः पिता कुर्यात् तदेव सुतः कुरुते। एकत्रैव तिष्ठतश्चरतश्च पूर्वस्नेहाभ्यासात्। तदा गुरुणा प्रतिबोधितौ तौ यत् स्नेहसम्बन्धः सर्वथा निवारणीयः, सूक्ष्मरागोऽपि भवबन्धनाय जिनेश्वरेण प्रोक्तम्। इति चोदितौ तौ स्नेहान्निवृत्तौ। अनेन गुरुकुलवासस्य महत्त्वं दर्शितम्। गुरुकुलवासं विना गुणाधानं न संभवः। सारणादयो गुरुकुल एव। गुरुपारतन्त्र्येणैव सिद्धिः। अतो गुरुकुलवासः सम्यक्सेव्यः।

पण्डित रूपविजयविबुधवरेण कथान्तरैः प्रास्तविकश्लोकैश्चायं ग्रन्थः समृद्धवान् येन पठनेऽलौकिकानन्दानुभवो जायते। प्राकृतभाषायाः क्लिष्टतायाः सरलगद्यमयसंस्कृते लिखितोऽयं ग्रन्थः।

संस्कृतस्य पठन-पाठनं साधुसमुदायेन सदा कर्तव्यम्। प्रतिदिनं संस्कृताध्ययनस्य नियमः कर्त्तव्यः। सुलभगद्यपद्यैः संस्कृते प्रवेष्टव्यम्, येन कालान्तरे क्लिष्टग्रन्थाणामपि सुलभता प्राप्येत।

संस्कृतेन सह प्राकृताध्ययनमप्यनिवार्यम्। कारणं त्वनयोर्द्वयोर्भाषयोः संपूर्णजैनवाङ्मयः संदृब्धः। जिनवचनस्य रहस्यप्राप्त्यै गुणप्राप्त्यै च द्वे भाषेऽपि मूलभूताधारौ। वर्तमाने प्राकृतभाषा यदुपेक्ष्यते तत्तु न वाञ्छनीयम्।

पूर्वेऽस्य ग्रन्थस्य पण्डितामृतलालेन संशोधनं संपादनं च कृतम्। स एवास्माभिः पुनः संपादितः।

अस्मिन् ग्रन्थे दृष्टिदोषेण यदि कापि त्रुटिः स्यात् पाठकैः क्षन्तव्या। जिनवचनविपरीतं यत्किञ्चिदपि लिखितं तद् मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु।

धानेरा — *शुभाभिलाषुकः*

वि. सं. २०६७ — *मुनि जयानन्द विजयादि मुनि मण्डलः*

कार्तिक शुक्लप्रतिपदा

अनुक्रमणिका

विगत	पृष्ठ	विगत	पृष्ठ
मङ्गलाचरणम्	१	गुणसुन्दरीकथा	८६
एकविंशतिभवसङ्ग्रहः	३	मुनीन्द्र–देशना	९३
शङ्खकलावत्योः कथा	५	नृपादयो दीक्षां जगृहुः	९५
पद्मनृपस्य कथानकम्	२३	केतुनृपकथा संपूर्णः	९६
धन्यस्य कथानकम्	२६	कमलसेनेन गुणसेना परिणीता	९७
पद्मनृपकथा	२९	समरसेनः प्राव्राजीत्	९८
कपिलकथा	३०	पितापुत्रो मिलितः	९९
दत्तः कलावती गवेषणाय गतः	३६	धर्मस्य प्रभावः	१००
तापसाश्रमात् कलावती आगतः	३७	शत्रुञ्जयनृपस्य दीक्षा	१०१
गुरोः देशना	३८	कमलसेनस्य वैराग्यं जातम्	१०२
देव–गुरु–धर्म–स्वरुपम्	३९	कमलसेनेन चारित्रं गृहीतम्	१०३
पूर्णकलशोनाम दत्तः	४१	पञ्चमे देवलोके गमनम्	१०४
'धर्मजागरणम्'	४२	मथुरानगरीवर्णनम्	१०५
श्री अमिततेजा आगमनम्	४३	मुक्तावल्याः पुत्रेच्छा	१०६
शङ्खकलावत्योः पूर्वभवः	४४	कमलसेनजीवोऽवतीर्णः	१०७
शङ्खकलावत्योः दीक्षा	४९	देवसिंहकनकसुन्दरी नाम्ना जातौ	१०८
शङ्खकलावत्योः स्वर्गगमनम्	५०	मुनीन्द्र देशना	१०९
शङ्खजीवः कमलसेननाम्नाजीवः	५१	द्वयोर्विवाहो जातः	१११
देवपरीक्षा	५३	सुरगुरुमुनीन्द्रदेशना	११२
चम्पापुरीं प्रवेशः	५६	मुनीन्द्र देशना	११५
श्रीकेतुनृपकथा	५७	शुकयुगलस्य कथानकम्	११६
श्री विनन्धरस्य पूर्वभवकथा	६२	निधिकुण्डलस्य कथानकम्	११७
श्री विनयन्धरस्यदाराणां पूर्वभवस्य चरितानि	६३	तीर्थङ्करदेशना	१२५
श्री रतिसुन्दरीकथा	६६	निधिकुण्डलस्य दीक्षा	१२६
बुद्धिसुन्दरीकथा	७३	ललिताङ्गस्य कथानकम्	१२७
ऋद्धिसुन्दरीकथा	७८	देवसेनस्य कथानकम्	१३६
		शुकयुगलस्य कथानकम्	१४३

देवसिंहस्य कथानकम् १४७
शुकयुगलस्य कथानकम् १४९
देवरथस्य कथानकम् १५१
धर्मयसुमुनेः देशना १६२
श्री रत्नशिखस्य दृष्टान्तः १६३
विराङ्गदसुमित्रयोः कथानकम् १६५
श्री रत्नशिखस्य दृष्टान्तः १८३
श्री देवरथस्य दृष्टान्तः १९२
श्री पूर्णचन्द्रस्य दृष्टान्तः १९४
रत्नायलीः पुष्पसुन्दरी जातः १९५
उद्याने द्वयोः मिलनम् १९६
प्रियवंदया कथिता यार्ता १९८
द्वयोः वियाहो जातः १९९
श्री सुरसुन्दरसूरेः देशना २००
श्री सुरसुन्दराचार्यस्य कथानकम् २०२
शत्रुञ्जय–शूरकुमारयोः
कथानकम् २०४
अलीकं स्वरुपम् २०७
धन्य–धरणयोः कथानकम् २०८
सिद्धदत्तकपिलयोः कथानकम् २१५
सूरेः देशना २२४
शीलसुन्दर्या कथानकम् २२५
सूरेः देशना २२९
गुणाकरगुणधरयोः कथानकम् २३०
सूरेः देशना २३९
सिंहसेनस्य दीक्षा २४१
सद्भावेनारणेकल्पेदेयौ जातौ २४२
द्वयोरारणेकल्पे गतौ २४३
सूरसेनस्य पितरौ यर्णनम् २४४
पुत्रहेतु विचारणा २४५
योगीन्द्रस्य माया २४६
शयस्थव्यन्तरेण मार्गदर्शितम् २४७
योगीन्द्रस्य दुष्टता २४८
पूर्णचन्द्रदेयस्य च्ययनम् २५०
दोहदस्य पूर्तिः २५१
जययेगस्य यर्णनम् २५२
सूरसेनस्य जन्मः २५३.
मुक्तायलीनामेन जन्मः २५४
सूरसेन–मुक्तायल्योः वियाहः २५५
मनोयिनोदार्थ प्रश्नोत्तरम् २५६
नरसिंहनृपस्य चिन्तनम् २५७
नरसिंहःप्रत्येकबुद्धो जातः २५८
मुनिदर्शनम् २५९
मुनेः देशना २६०
ईश्वरधनेश्वरयोः कथानकम् २६१
ग्राम्यपुत्रकथानकम् २६४
ईश्वरधनेश्वरयोः कथानकम् २६५
सूरसेनस्य यैराग्यम् २६८
यैराग्यभायना पुष्टिकृतः २६९
चारित्रं गृहितम् २७०
चारित्र प्रतिपालनम् २७१
ग्रैवेयके गमनम् २७२
सूरसेनजीयस्य च्ययनम् २७३
पद्मोत्तररुपेण जन्मः २७४
हरियेगस्य जन्मः २७५
हरियेगस्यस्ययंयरार्थे गमनम् २७६
यनमालाया कथानकम् २७७
पद्मोत्तरेण द्वे कन्ये यृत्ते २८५
यिदुरेण सह सङ्ग्रामः २८६
पद्मोत्तरेण यिदुरो जितः २८७

हरियेग द्वे कन्ये वृत्त २८८
हरियेगेन स्वपूर्वभयो ज्ञातः २८९
पद्मोत्तरोपदेशाय हरियेग आगतः २९०
हरियेगेनोपदेशो दत्तः २९१
हरियेगेन देयगुरुधर्मस्वरूपं कथितम् २९४
राजादिना जैन-धर्म-स्वीकृतम् २९५
श्रीगुणसागरकेयलीना देशना दत्ता २९६
केयलीना देशना दत्ता २९७
सूरपतिः मोक्षं गतः २९९
पद्मोत्तरः राजा जातः ३००
जिनमन्दिरादिनिर्मापितम् ३०१
घुतकारस्य दृष्टान्त ३०२
स्वात्मचिन्तनम् ३०३
श्रीरत्नाकरसूरेः देशना ३०४
चारित्रगृहीत्या देयलोके गमनम् ३०६
पद्मोत्तरहरियेगस्य च्ययनम् ३०७
गिरिसुन्दररत्नसारनामेन जन्मः ३०८
गिरिसुन्दरः चोरगवेषणाय निर्गतः ३०९
रुपपरायर्तिनी यिद्याप्राप्ता ३१०
स्त्रीरुपेण चोरगृहे गतः ३११
स्त्रीरुपेण सुभद्रा आश्वासिता ३१२
चन्द्रहासखड्गो गृहितम् ३१३
कुमारेण चोरो हतः ३१४
गिरिसुन्दरो रत्नसुन्दरं शोधनार्थं गतः ३१५
पथिकेन रत्नसारस्य कथा कथिता ३१६
पथिकेन कथा कथिता ३१७
कुमारपथिकौ गन्धारनगरे आगतौ ३२१
द्वयोर्भ्रातरौ मिलनम् ३२२
महसेनाय राज्यं दत्तम् ३२३
स्वनगरे आगतौ ३२४
श्रीजयनन्दनसूरेः देशना ३२५
श्रीबलादिनृपाणाम् पूर्वभययृतान्तः ३२६
यिद्याधरेण चारित्रं ग्रहितम् ३३३
श्रीबल-शतबलयोः चारित्रं गृहितम् ३३४
मुनेः देशना ३३५
श्रीजयनन्दनसुरीश्वरस्यागमनम् ३३६
द्वयोः भ्रातरौ दीक्षा गृहीता ३३७
नयमग्रैवेयके सूरोजातौ ३३८
कनकध्यज-जयसुन्दरनामानौ जातौ ३३९
पञ्च-पञ्चशती कन्यासह वियाहः ३४१
स्वयंयरसूरेः देशना ३४२
सुमङ्गलादिना चारित्र जग्राह ३४४
कनकध्यजस्य दिग्यात्राय गमनम् ३४५
सूरेः देशना ३४६
जीयसिद्धिः यर्णनम् ३४७
केशयकथानकम् ३४८
कपिञ्जलस्य कथानकम् ३६७
केशयकथानकम् ३६९
द्वयोः भ्रातरौ दीक्षा जग्राह ३७०
विजययिमाने सूरौ जातौ ३७१
कनकध्यजजीय प्रियमतीगर्भे आगतः ३७२
ग्रीष्मऋतेः आगमनम् ३७३

राज्ञा ब्रह्मव्रतं स्वीकृतम्	३७५
देव्या राज्ञीयने उज्झिता	३७६
राज्ञी श्रीपुरोद्याने आगता	३७७
धनञ्जयश्रेष्ठिगृहेस्थिता	३७८
कुसुमायुधनामेन जन्म	३७९
शिवयर्द्धननगरस्य राज्यप्राप्तिः	३८०
राजशेखरेण दूतःप्रेषितम्	३८१
राजशेखरस्य पश्चात्तापम्	३८२
श्रीगुणसागरसूरेः देशना	३८३
मोहराजस्य वर्णनम्	३८४
त्रयभूपस्य प्रव्रज्याः	३८९
जयस्य कुसुमकेतुरूपेण जन्मः	३९०
वियाहे निमन्त्रणम्	३९१
कुमारस्य वियाहो जातः	३९३
सुन्दराचार्यस्य देशना	३९४
पितापुत्रयोः दीक्षा	३९७
सुराचार्यस्य देशना	३९९
सर्वार्थसिद्धविमाने गमनम्	४००
कुसुमायुधस्य च्यवनम्	४०१
पृथ्वीचन्द्रनामेन जन्मः	४०२
पृथ्वीचन्द्रस्य वियाहः	४०३
केशवबटुकथानकम्	४०५
पत्नीभ्य उपदेशः	४०९
नृपेण राज्याभिषेकाय कथितम्	४११
राज्याभिषेकः कृतः	४१२
सुधनवणिकस्यागमनम्	४१३
गुणसागरस्य कथा	४१४
गुणसागरादिनां केयलोत्पतिः	४२१
गुणसागरेण कथितम्	४२२
पृथ्वीचन्द्रस्य ज्ञानोत्पत्तिः	४२३
पत्न्यां केयलोत्पत्तिः	४२४
रत्नदृष्टान्तः	४२५
पितरौ ज्ञानोत्पत्तिः	४२६
पूर्वभवाः कथिताः	४२७
द्वयोः मोक्षगमनम्	४२८
ग्रन्थकारप्रशस्ति	४२९

प्रथमः सर्गः

शङ्खनृपः – पृथ्वीचन्द्र जीवः

कलावती राज्ञी– गुणसागर–जीवः

दत्तश्रेष्ठी – गजश्रेष्ठिपुत्रः

विजयराजः – कलावती–जनकः

जयसेनकुमारः – कलावती–भ्राता

धीधनः, मतिसागरः

सुबुद्धिः, सुमतिः– शङ्ख–मन्त्रिणः

महामतिः – जयसेन–मन्त्री

निष्करुणः– शङ्खनृपभटः, कलावत्या वन–मोचकः ।

मुख्यकथान्तर्गतं गुरुणा देशितं पद्मनृपस्य कथानकम् पृ. २३–२६

पद्मः – नृपः

कमला – पद्मनृपभार्या

वरुण श्रेष्ठी – कमलापिता

विष्णुकण्ठः – सभासद्

पद्मनृपकथान्तर्गतं पद्मनृपाय विष्णुकण्ठेनोपदिष्टं कथानकम् पृ. २५–२८

धन्यः – श्रेष्ठी

श्रीः – धन्यपत्नी

धन–धनद–धर्म–सोमाः – धन्यपुत्राः

मुख्यकथान्तर्गतं गुरुणा कथितं कपिल कथानकम् पृ ३०–३५

कपिलः – विप्रः

मुख्यकथान्तर्गतं गुरुणा देशितं शङ्खकलावतीपूर्वभवः पृ. ४४–४८

त्रिविक्रमः – नृपः

लीलावती – त्रिविक्रमभार्या

सुलोचना – त्रिविक्रम–पुत्री (कलावती जीवः)

शुकः – शङ्खनृप–जीवः

ॐ अर्हं नमः । ऐं नमः ॥

॥ श्री गोडीपार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ प्रभु-श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ॥

पण्डित-श्री-रूपविजयगणिविरचितम्-

गद्यबद्ध-श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रम्

प्रथमः सर्गः । [प्रथम-द्वितीयौ भवौ]

सच्चिदानन्दसंपूर्णं, विश्वज्ञं[1] विश्वपावनम्[2] ।
शङ्खेश्वरपुरोत्तंसं, पार्श्वनाथं नमाम्यहम् ॥१॥

सर्वातिशयसंयुक्ताः, प्रातिहार्याष्टकान्विताः ।
येऽतीताः सन्ति चैष्यन्तस्ते जिना ददतां मुदम् ॥२॥

भगवद्वदनाम्भोज-वासिनीं पापनाशिनीम् ।
वाणीं सर्वविदां वन्दे, विश्वविश्वतमोऽपहाम्[3] ॥३॥

ऋद्धिसिद्धिप्रदातारं, सर्वलब्धिप्रतिष्ठितम् ।
वन्देऽहं गौतमस्वामि-गणराजं गुणोदधिम् ॥४॥

ज्ञान-ध्यान-तपोदान-त्रिविधार्थप्रदायकम् ।
वन्दे श्रीमद्गुरुं पद्म-विजयं विजयप्रदम् ॥५॥

1. सर्वज्ञम् 2. जगत्पावनम् 3. समग्रजगदन्धकारनाशिनीम्

स्वभावान्निर्मला नित्यं, दर्शनाद् मार्गदर्शिनः[1]
सन्तोऽर्कवत्सदा वन्द्या, दोषापगमकृत्कराः[2] ॥६॥

सम्पद्यते हृदालोको, यद्द्वयेन पदे पदे ।
न निन्द्या ध्वान्तवद् दोषात्मका अपि च दुर्जनाः ॥७॥

धर्मोपदेशो दातव्यः, स्वशक्त्या चागमोक्तितः ।
वक्ष्यामि जीवजीवातुं[3], किञ्चिद्धर्मकथामहम् ॥८॥

इह हि जगज्जन्तुजाताऽभयदानदानैकशौण्डीरेण भगवता श्रीमद्वर्धमानस्वामिना सर्वेषां पुमर्थपादपानामुत्तमं बीजं धर्म एव पुरुषार्थः प्रशंसितः । उक्तं च –

धर्माद्धनमनन्तं स्यात्, सर्वकामाश्च धर्मतः ।
लभ्यते धर्मतो मोक्षस्तेनोक्तो धर्म उत्तमः ॥९॥

यथा तरूणां सुरतरुः, ताराणां मध्ये चन्द्रः, गिरिषु मेरुः तथान्यधर्माणामर्हद्धर्मः शिरोमणिभावं बिभर्त्ति । असौ धर्मो जन्तुनां दुःखं हरति, उत्तमं सुखं करोति, ततः श्राद्धैः सदा धर्मकथा श्रोतव्या।

यादृक् श्रवणैः श्रूयते, तादृक् चित्ते रसो भवेत् ।

संवेगरसपीयूषप्लुष्टमोहमहाविषः श्रोता मोक्षसुखवत् चिदानन्दं लभते । परन्तु कामार्थमिश्रिता धर्मकथा श्रोतृणां प्रिया स्यात् । यतः --

1. सज्जनपक्षे–सद्धर्मपथदर्शकाः, सूर्यपक्षे–अन्धकारविनाशनेन मार्गदर्शकः।
2. सज्जनपक्षे–दोषविनाशकहस्ताः, सूर्यपक्षे–दोषाया रात्रेर्दूरीकारककिरणाः।
3. जीवजीवातुः :–जीवनौषधम् ।

सरसापि रसवती, निःशाका नैव रोचते ॥१०॥

किं बहुना? । कविना प्राक्कृतस्य प्राकृतपृथ्वीचन्द्रचरित्रस्य गद्यबन्धभाषया किञ्चिद् लिख्यते । यथा अयं पृथ्वीचन्द्रः शुद्ध-सम्यक्त्वतत्त्ववान् भावचारित्रबीजेन सभार्यः क्रमशो नरामरभवेष्व-धिकाधिकसुखं भुक्त्वा सुखेन च शिवं सम्प्राप्तः, तथा हे सज्जनाः! युष्माभिः श्रूयताम् । तद्भवसङ्ग्रहश्चायम् –

॥ एकविंशतिभवसङ्ग्रहः ॥

प्रथमभवे शङ्खो राजा कलावती राज्ञी ॥१॥ ससंयमौ तौ सौधर्मे कल्पे पञ्चपल्योपमजीविनौ द्वितीये भवे देवदेव्यौ जातौ ॥२॥ तृतीयभवे कमलसेनो नृपः, गुणसेना राज्ञी ॥३॥ संयमा-राधनात् चतुर्थे भवे पञ्चमकल्पे दशसागरजीविनौ द्वौ मित्रदेवौ जातौ ॥४॥ पञ्चमे भवे देवसिंहो नृपः, कनकसुन्दरी राज्ञी ॥५॥ षष्ठे भवे शुक्रदेवलोके सप्तदशसागरजीविनौ मित्रदेवौ बभूवतुः ॥६॥ सप्तमे भवे देवरथो नृपः रत्नावली राज्ञी ॥७॥ धर्ममाराध्य अष्टमे भवे आनतकल्पे एकोनविंशतिसागरायुष्कौ सुरौ ॥८॥ नवमे भवे साणुव्रतौ पूर्णचन्द्रो नृपः पुष्पसुन्दरी राज्ञी च ॥९॥ दशमे भवे आरणदेवलोके विंशत्यम्बुधिजीविनौ द्वौ मित्रदेवौ ॥१०॥ एकादशे भवे शूरसेनो नृपो मुक्तावली राज्ञी ॥११॥ संयमं प्रपाल्य द्वादशे भवे प्रथमग्रैवेयके त्रयोविंशतिसागरस्थितिकौ देवौ जातौ ॥१२॥ त्रयोदशे भवे पद्मोत्तर-हरिवेगौ विद्याधरराजानौ सुहृदौ मुनी च ॥१३॥ चतुर्दशे भवे मध्यमग्रैवेयके सप्तविंशत्यब्धिकालौ सुरौ जातौ ॥१४॥ पञ्चदशे भवे गिरिसुन्दर-रत्नसारौ अन्यमातृकौ

भ्रातरौ ॥१५॥ चारित्रं प्रतिपाल्य षोडशे भवे नवमग्रैवेयके एकत्रिंशद्वार्धिजीविनौ द्वौ सुरौ जातौ ॥१६॥ सप्तदशे भवे विमातृकौ कनकध्वज-जयसुन्दरनामानौ भ्रातरौ ॥१७॥ मुनित्व-माराध्य विजये विमाने अष्टादशे भवे द्वात्रिंशद्वार्धिमानायुषौ सुरौ जातौ ॥१८॥ एकोनविंशतितमे भवे कुसुमायुध-कुसुमकेतू पितृ-सुतौ ॥१९॥ संयमं प्रपाल्य विंशतितमे भवे त्रयस्त्रिंशत्सागरायुषौ सर्वार्थसिद्धे महाविमाने देवौ जातौ ॥२०॥ एकोनविंशतितमे भवे श्री पृथ्वीचन्द्रमहाराजो गुणसागरश्च श्रेष्ठी, गृहस्थमुद्रयोत्पन्नकेवलौ मोक्षं गतौ ॥२१॥

अथ प्रथमभवस्वरूपम् —

तथाहि-इह धरित्र्यां रविज्वालाज्वलन-मेरुवर्त्तिवार्ध्य-म्बुतैलभृद् मङ्गलदीपवदयं जम्बूद्वीपोऽस्ति । तत्र वैताढ्याद्रि-विभक्तार्द्धं गङ्गासिन्धुसरित्प्रवाहकृतषट्खण्डमण्डितं भरतक्षेत्र-मस्ति। भरतस्य दक्षिणार्द्धे मध्यखण्डस्य मण्डनं रम्यग्रामपुरः *श्रीमङ्गलनामा* देशोऽभवत् । तत्र दक्षिणावर्त्तशङ्खवद् मनोवाञ्छितदं लक्ष्मीयुतं विशदवर्णभृत् *शङ्खपुरं* नगरं भाति । यत् प्रासाद-ध्वजव्याजात् सदा अङ्गुलीरूर्ध्वीकृत्य घण्टाघोषेणेति वक्ति, यथा 'मत्समम् अन्यत् पुरं नास्ति' । तस्मिन् *शङ्खपुरे* शङ्खोज्ज्वलयशोभरः *शङ्खनामा* नरेन्द्रोऽस्ति । "यः शूरोऽपि सन्तापी न हि, पुनः सोमोऽपि कलङ्कितो नास्ति, पुनः सुपात्रे दानं दातुमुदारः, द्यूतादिव्यसने च कृपणः, परस्त्रीभ्यः पराङ्मुखः सर्वशत्रुषु च सम्मुखः । अन्तःपुर-प्रधानाद्यैः समं प्राज्यं राज्यं पालयतस्तस्य कियान् कालोऽगमत्।

अथान्यदा सदसि स्थितस्य तस्य प्रतिहारनिवेदितः *गजश्रेष्ठिनन्दनः* '*दत्त*' इति नामा समागतः । सोऽद्भुतं प्राभृतं मुक्त्वा प्रणम्य च पुरतः स्थितः । राज्ञा पृष्टः- 'भोः कुमारेन्द्र! ते कुशलमस्ति? चिरात्कथं समेतोऽसि?' । ततः सोऽवक्- "देवपादपद्मविलोकनेन मे कुशलं, परं चिरागमनकारणं श्रूयताम् । अस्माकं व्यवसायिनां एषा रीतिर्वर्त्तते यत्, कथञ्चिद् दिग्यात्रां कृत्वा तारुण्ये धनमर्ज्यते। यतः --

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं, हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥११॥

दुपरिच्चयघरणिघरो[1], जो न नियच्छेइ महियलं मणुओ ।
सो कूयदद्दुरो इय, सारासारं न जाणेइ ॥१२॥

नज्जंति[2] चित्तभासा, तह य विचित्ताउ देसनीईओ ।
अच्चब्भुयाइं बहुसो, दीसंति महिं भमंतिहिं ॥१३॥

ततो हे देव! इतः स्थानाद् *देवशालपुरेऽहं* गतः । त्वत्प्रसत्तेर्धनमुपार्ज्य कालेनाऽहमिहागतः" नृपोऽजल्पत् – "हे सौम्य! अतिदूरे *देवशालपुरे* गत्वा त्वया इदं सुभाषितं सत्यापितम्। यतः-

कोऽतिभारः समर्थानां, किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सुविद्यानां, कः परः प्रियवादिनाम् ॥१४॥

---

1. दुष्परित्यजगृहिणी-गृहो, यो न पश्यति महीतलं मनुजः ।
स कूपदर्दुर इव, सारासारं न जानाति ॥

2. ज्ञायन्ते चित्रभाषाः, तथा च विचित्रा देशनीतयः।
अत्यद्भुतानि बहुशो, दृश्यन्ते मह्यां भ्राम्यद्भिः ॥

परं हे उत्तम! तत्र त्वया यदाश्चर्यं दृष्टं तद् वद" । ततो *दत्तेन* प्रोक्तम् –"हे स्वामिन्! सावधानमनाः शृणु यत्र देवकुला-न्यप्रतिमान्यहो[1] दृश्यन्ते, यत्र मुनीन्द्राश्च सकलत्राः[2], श्रावका अपि धीवराः[3] । एवं सर्वाश्चर्यमये तस्मिन् पुरे यच्च विशेषतो दृष्टं तत् प्रफुल्लनयनो देवः स्वयं विलोकयतु" । इत्युक्त्वा तेन यत्नेन गोपिता वर्णैर्विचित्रा चित्रपट्टिका निष्काश्य भूपतिपुरतो ढौकिता। तस्याम् अगण्यलावण्यहसितत्रिदशाङ्गना सद्वर्णककृता धन्या कन्या राज्ञा निरीक्षिता। अहो नेत्रे! अहो वक्त्रम्! अहो स्तन-करा-ऽङ्घ्रयः! अहो लावण्यसर्वस्वम्! इत्याशंस्य चिरं हृदि, ततो 'देवी' इति तां मत्वा नृपेण सोऽप्रच्छि –'इयं कस्या देव्या मूर्त्तिः? कस्य चित्रकृतः कृतिः?' । *दत्त* उवाच –'हे देव! इयं मानुषी परं त्वत्-सङ्गाद् भाविनी देव्यपि । दृष्ट्वा च लिखिता नूनं, कृति-श्चित्रकृतश्च का?" ।।१।। राजा प्राह-'नाऽस्मिन् रूपे कापि न्यूनता। चन्द्रमण्डलवत्पूर्णं वदनम्, अहो केशपाशस्य चङ्गिमा!। तरले पक्ष्मले नेत्रे, हसन्त इव दन्तकाः । चलाङ्गुली कराम्भोजौ, चलन्तौ चरणौ च किम्? ।।१।। चित्रस्थिताऽपि इयं देवी मम चित्तं सर्वथा हरति" । ततो *दत्तेन* भणितम् – "हे देव! तस्यां मानव्यां याऽङ्गचङ्गिमाऽस्ति सा अन्या, सा लीलाऽप्यन्यैव, लिखनं पुनः स्मृत्यर्थम्" । ततो विस्मितेन राज्ञोक्तम् – 'हे सौम्य! यदीयं मानवी, तदा कथय, कैषा?' । सोऽभणत् 'मम भगिनी' । 'यद्येवं, तत्कथं *देवशालपुरे* त्वया दृष्टा?' इति राज्ञोक्ते दत्तेन भणितम् – "हे देव! तत्त्वमथ ब्रवीमि, जनकानुज्ञया वित्ताशया देशदिदृक्षया

1. असदृशानि । 2. समग्रत्रातारः । 3. बुद्धिश्रेष्ठाः ।

च सभाण्डो महता सार्थेन सह चलितोऽहं विविधान् देशान् लङ्घयन् विविधानि कौतुकानि विलोकयन् *देवशाल*देशसन्धौ भयङ्करमरण्यं प्राप्तः । ततोऽहं प्रौढतुरङ्गमारूढः सन् संनद्धविकट-सुभटपरिवृतः चौरभिल्लादिशङ्कया अग्रतो मार्गं शोधयामि । पुरः पथि सुरूपाङ्गम् आसन्नमृतवाजिनं दिव्यवेषं कञ्चित्पुरुषं व्यलोकयम् । अथ मया तत्समीपे गत्वा जीवितशेषं च मत्वा शीताम्बुना सद्यः सिक्तः ससंज्ञस्तत्[1] पायितः, क्षुधार्त्तः चित्तमोदकान्[2] मोदकांश्च भोजितः । पश्चाद् मया पृष्टम् – 'के यूयं? कथमत्रैवं विकटं कष्टं प्राप्तम्?'। ततः सोऽब्रवीत् –

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा[3], यया दिशा धावति चेतसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते, जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मना ॥१५॥

"ततो *देवनन्दिदेशाद्* हयापहृतोऽहमागतः । परं हे परोपकारिन्! यूयं कुत्र यास्यथ?" । इति तेन पृष्टे मयाप्युक्तम्- 'अहमेतद्देशमण्डनं *देवशालपुरं* गमिष्यामि, मार्ग आवयोरेक एवास्ति, ततो यूयमश्वखिन्नाः सुखासनमारोहत'। तथा कृत्वा सोऽहं च कथापरौ पथि यावः । घूत्कारघुर्घुरद्व्याघ्रं, सूत्कारशब्दोत्कृष्ट-शूकरं, महागिरिगुहामध्यगर्जत्पञ्चाननस्वनं दावानलविकटं सर्वथापि भयानकमटवीमध्यमायातौ । द्वितीये दिवसे हयहेषा-भिर्गजगर्जाभिर्व्याप्तं सञ्चरद्रथसङ्कुलं कोटिशः सुभटकृतकोलाहलं, ध्वनड्ढक्कादिवाद्यौघं च सैन्यं वीक्ष्य शङ्कितौ । यावद् भटाः संनह्यन्ति तावद् 'मा भेतव्यम्' इति वदन् एकोऽश्ववारः समागतः। 'कोऽपि हयापहृतो दृष्टः?' इति जल्पन् एतमुपलक्ष्य हृदि नितान्तं मुमुदे।

1. शीतजलम् । 2. हृदयाह्लादकान् । 3. प्रतिबन्धरहिता-कदाग्रहरहिता ।

विजयराजोऽपि तत्रागतः । बन्दिन उच्चैश्च पेठुः-'*जयसेनकुमारोऽयं* जीयाद् *विजयराजसूनुः*' । कुमारेणाङ्घ्रिचारेणाभ्येत्य भक्त्या नमस्कृतः स्वीयवृत्तान्तं श्रावितो यथा पिताऽऽनन्दितः । "तात! कुशिक्षितेन हयेनास्मिन्नरण्येऽहं प्रवेशितः । ततो मया उद्विग्नेन मुक्तायां वल्गायां स स्थित एवाऽकार्यकारित्वात् सद्यः प्राणैर्विमुक्तः। ममाप्यतुच्छा मूर्च्छा समागता । क्षुत्तृषार्दितमयं धर्मबन्धुर्मामजीवयत्"। तेनेति कथयित्वा दर्शितोऽहं राज्ञालिङ्ग्य पुत्रवद् मानितः । तत्र सार्थरक्षकान् सुभटान् मुक्त्वा राज्ञा स्वपुरे नीतः ।

देवशालपुरे राज-सुताभ्यां मन्मनस्तथा हृतं यथा मातृ-पितृ-स्वपुरादि न हि स्मरेत् । यतः --

ते[1] केइ मिलंति महियलम्मि, लोयणमहूसवा मणुआ ।
हिययाओ खणंपि न ऊसरंति जे टंकघडियव्व ॥१६॥

तस्य राज्ञः *श्रीदेवी*कुक्षिसंभवा जयसेनकुमारस्याऽनुजा सल्लक्षणान्विता सुताऽस्ति *तिलोत्तमा*सदृग्रूपा नयनमनोहारिणी कलाकलापकलिता नाम्ना अर्थेन च *कलावती* । तस्या अनुरूपो वरो वीक्षितोऽपि न लब्धः । ततश्चिन्तानलेन पिता माता बान्धवा दह्यन्ते । यतः –

[2]जम्मंतीए सोओ, वड्ढंतीए उ वड्ढए चिंता ।
परिणीयाए दंडो, जुवइपिया दुक्खिओ निच्चं ॥१७॥

1. ते केऽपि मिलन्ति महीतले, लोचनमहोत्सवा मनुजाः ।
हृदयात् क्षणमपि न उत्सरन्ति ये टङ्कघटिता इव ॥
2. जायमानायां शोको, वर्धमानायां तु वर्धते चिन्ता ।
परिणीतायां दण्डो, युवतिपिता दुःखितो नित्यम् ॥

या जाता जनयन्ति दीनमुखतां प्राप्ताश्च सद्यौवनं,
चिन्ताब्धिं किल वर्द्धयन्ति विपुलं यान्त्यः परेषां गृहे ॥१८॥

कान्तेनापि विवर्जिता अपसुताः पित्रोर्भृशं दुःखदाः,
पुत्रीणां नयनाम्बु जन्मसमये मात्रा ततो दीयते ॥१९॥

ततोऽहं ताभ्यां भणितः - "भो *दत्त*! भगिन्या वरं पश्यतात्, यतो बहुरत्ना पृथ्वी, त्वमत्र बहुहिण्डनः । यतः -

पदे पदे निधानानि, योजने रसकूपिका ।
भाग्यहीना न पश्यन्ति, बहुरत्ना वसुन्धरा ॥२०॥

'ओम्' इत्युक्त्वा प्रतिच्छन्दो मयैवाऽयं लिखितः । क्रमात् ताभ्यामनुज्ञातः कल्ये वेशमनि प्राप्तोऽस्मि? । चिन्तितं च चित्ते मया, यथा देवस्यैव योग्येयं कन्या । अथवा स्वस्वामिनं मुक्त्वा को वा रत्नमन्यस्य चार्पयेत्? । तस्याः प्रतिच्छन्दो मया प्रभोः पुरो मुक्तः, अतः परं युक्तायुक्तं देवेन विधीयताम्" ।

अथ कामकिरातोग्रबाणधोरणीविह्वलं[1] चित्ररूपरतं भूपं वीक्ष्य *धीधनो* मन्त्री प्राह, --

एषा त्यक्तकलङ्कचन्द्रवदना विस्मेरपद्मेक्षणा,
रक्ताशोकसुपल्लवाऽरुणकरा लावण्यनीरापगा ।
देवं देवकुमारसारमहसं मुक्त्वा च कस्योचिता,
हंसी हंसवरं विहाय कलयेदङ्कं च काकस्य किम् ॥२१॥

ततो *मतिसागरमन्त्री* प्राह - "भो भो! *दत्तो* मत्तोऽपि

1. किरातो भिल्लः ।

चाधिकः । अत्रस्थोऽहं स्वामिकार्यं करोमि, *दत्तेन* तु परस्थाने गत्वा यत्स्वामिकार्यं कृतम्" । ततः *सुबुद्धि*मन्त्री जगौ- "ये अन्यार्थनाशिनः स्वार्थैकबद्धादरास्ते अधमाः, स्वपरार्थसाधका मध्यमाः, परार्थकरणैकतत्पराः पुनरुत्तमाः पुरुषाः" ।

सुमतिः प्रोवाच –

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥२२॥

ततो *दत्तो* हसन्नवक् - " सत्यमिदमाभाणकमभूत्, 'यश्चौरपादं दर्शयेत् स हि प्राहरिको भवेत्" । एवं सभ्येषु सुधामिव मिष्टां गोष्ठीं कुर्वत्सु मध्याह्नोऽभवत् । तस्मिन्नवसरे कालनिवेदिनेति भणितम् --

आक्रामत्युल्लसत्तेजाः, सूरोऽयं जनमस्तकम् ।
तीव्रतेजस्विनां लोके, किमसाध्यं भवत्यहो! ॥२३॥

सुवर्णाढ्या च शृङ्गारोल्लासिनी कमलेक्षणा ।
सानन्दा दयिता लक्ष्मीर्लभ्यते देवपूजया ॥२४॥

अथ राजा सभां विसृज्य कृतस्नानार्चनादिको भोजनं च भुक्त्वा शयनस्थः प्रियागमोपायं व्यचिन्तयत् –

देवास्तु भद्रं तव येन निर्मिता, सुलोचना सा विजितामराङ्गना ।
पक्षौ कुरु त्वं खगतिक्षमौ ममाऽधुनैव पश्यामि यथा प्रियाननम् ॥२५॥

"का रात्रिर्दिवसः को वाऽमृतोपमो भविता? यत्र पुण्यानुभावतो दुर्लभां तां सुनयनामहं लप्स्ये" । इति चिन्ताब्धिसङ्कल्पलोलकल्लोलधूतहृद् नृपः कञ्चित्कालमतिक्रम्याऽऽस्थानमण्डपे स्थितः। पुनः सेवागतमहामात्यकथाश्रवणतोषितस्य दिवसो ह्यवशेषो नृपस्याऽगात् साऽथ रजन्यपि । अथ द्वितीयदिवसे सामन्तामात्यसंसेवितो नरेन्द्रः श्वाससंरुद्धकण्ठेन चारेण केनचित् पुरुषेण विज्ञप्तः- 'हे देव! विनम्रसीमसामन्तैर्दैवसूत्रवदज्ञातं रथाश्वेभभटाकुलं महत्सैन्यं समायातम्; यस्य कोलाहलारवो वनसत्त्वानां त्रासकृद् अकालक्षुब्धवार्द्धिवद् विश्वं बिभर्ति' । ततः क्रोधधूताधरः, भृकुटिभीषणः चपेटाहतभूतलः रणकेलिप्रियो नृपोऽवादीत्- "भो भो! द्विषद्हक्कां, ढक्कां द्रुतं हि वादय । सामन्ताः सज्जीभवत, अद्यागाद् रणखेलनम् । तदाकर्ण्य समग्रा विकटा भटा विविधायुधपूर्विकां गजाश्वरथसन्नाहसामग्रीं कुर्वन्ति। अस्तोकाः शङ्काभरोद्भवा लोकाः 'किं किम्?' एवमवदन् । निखिलेऽपि च नगरे बहुलस्तुमुलो जातः । ततो *दत्तेन* विड्वरं वीक्ष्य पृथ्वीशो विज्ञप्तः- "चण्डतेजसा देवेन अकाण्डे किं समारब्धम्?। हे नृप! चित्रदृष्टं यत्कन्यारत्नं देवचित्ते निश्चलमस्ति, तत्स्वयंवरः समायातः। हे स्वामिन्! लब्धाऽशेषकलापारः उदारः स्फारविक्रमः सारसैन्यवानयं *जयकुमारः* समेतः" । तत् श्रुत्वा नृपः सहसा महानन्दमयोऽजनि । किं सुधाकुण्डे निमग्नः? प्राप्तो वा चक्रवर्तिताम्?। ततो नृपेण स्वर्णरसनां देहाभरणं च दत्त्वा प्रोक्तम्- 'किं भो! दुर्घटमिदं त्वयैव घटितम्?' । सोऽवदत्- 'देव ! दैवेन' । ततो *मतिसागरोऽवदत्* - "हे स्वामिन्! *दत्तः* प्रौढानुभाववान्, कार्य-

निर्माणोदारः वाक्याडम्बरे पुनः कृपणः । किञ्च,

रंजइ[1] सउणा महुर-फलेहिं वडपायवो अपुप्फो वि ।
न पलासतरू कुसुम-भडो वि विरसं फलं दिंतो ॥२६॥

[2]गज्जंति मियं महुरं, वरसंति घणा घणं भरिया ।
रित्ता कडकडखडहड-अच्चुब्भडा तुच्छयं पिज्जं ॥२७॥

असारस्य पदार्थस्य, प्रायेणाडम्बरो महान् ।
न हि तादृग् ध्वनिः स्वर्णे, यादृक् कांस्ये प्रजायते॥२८॥

प्रभोः पुरः प्रियालापं कुर्वाणः किङ्करोऽधमः, परोक्षे तद्गुणग्राही सेवकः सेवकोत्तमः प्रोच्यते । *दत्तो* गम्भीरत्वेन न वक्ति, परं हे स्वामिन्! मयैवं संभाव्यते, अनेन त्वद्गुणान् स्तुत्वा देवे सा कन्या रागिणी कृता । तातेन प्रहितामेतां लात्वा कुमारयुक् समायातः, स्वामिविज्ञापनाय चैष त्वरितः पूर्वमागतः" । *दत्तो*ऽवोचत्- 'अहो! मन्त्री *मतिसागरो* यथार्थः सागरः यतः परोक्षे यद् वृत्तं तदपि प्रत्यक्षदृष्टवद् वक्ति' । ततो राजा प्राह- "भो मन्त्रिन्! *दत्तो* गम्भीरमानसो दृष्टः, त्वं चातुर्ये सुराचार्यः । ततः समयोचितं कुर्वता त्वया सैन्यसामग्री निवार्या, कालोचिता च क्रिया कार्या। अलङ्करणीया हट्टावली, विस्तार्या च तोरणावली । पुनश्च त्वं *धीधनं* प्रधानं *जयकुमार*पार्श्वे प्रेष्य प्रवेशं कारय समहोत्सवम्।

1. रञ्जयति शकुनान् मधुर-फलैः वटपादपोऽपुष्पोऽपि ।
न पलाशतरुः कुसुमभृतोऽपि विरसं फलं ददत् ॥
2. गर्जन्ति मितं मधुरं, वर्षन्ति घना घनं भृताः ।
रिक्ताः कडकडखडहड-अत्युद्भटास्तुच्छकं पेयम् ॥

गजाश्वानां वासान् कन्यावासं च सज्जय" । इति राज्ञोक्ते ते विज्ञाः सर्वमपि तथैव द्रुतं चक्रुः । नृपोऽपि हर्षोत्कर्षभरयुतोऽभवत्। *धीधनेनापि जयसेनकुमारस्य* खल्वखिलोऽपि परीवार आनीतः अमानसन्मानदानेन च शीर्षं धूनापितः । अथ सानन्दबन्दिवृन्दैरुच्चैः-कथ्यमानकुलक्रमः अमन्दहृद्यवाद्यौघध्वानैर्बधिरिताम्बरः *जयसेन-कुमारकः* सर्वसामग्र्या कृतचित्तप्रसादः प्रासादे प्राप्तवान्। तत्रैष मज्जन-स्नाना-ऽशन-सङ्गीत-नाटकैः सुखेन तं वासरं तां च निशां गमयामास । अथ द्वितीये दिवसे कृतशोभायां सभायां मन्त्रिसामन्ताद्यैः परिवृतः कुमारो मुदा प्राविशत्, महार्घ्यामुपदां च मुक्त्वा चरणन्यस्तमस्तकोऽनमत् । भूपेन सस्नेहं समालिङ्ग्य ऊर्ध्वासने निवेशितः । अथ कुमारस्य *महामति*र्मन्त्री भूपं प्रति कथयामास- "हे स्वामिन्! शुभ्रैस्त्वद्गुणैरस्मत्स्वामिनो मनो रञ्जितम् । हे राजन्! रसनाकूर्चया बहुवर्णकैरस्मत्प्रभोश्चित्तपटे दृढं ते स्वरूपं *दत्त*चित्रकृदलिख्यत । हे देव! अस्मत्प्रभुस्तवोपरि अस्थिमज्जाभरागं दधानोऽपि दूरे स्थितः । किं पुनः, प्राणेभ्योऽपि प्रिया धन्या कन्याऽमुना प्रेषिता, सा प्रौढराजसुतेषु सत्स्वपि त्वयि रक्ताऽस्ति । ततः सुदिने पाणिमादाय दान-मानादिना तथैषा मान्या, यथा पित्रादीन्न स्मरेत्" । अथ सच्छङ्खमधुरस्वरः *शङ्खनृपः* सौम्यया रम्यया दृष्ट्या *जयसेनादीन*वलोक्य चाजल्पत्,- "*दूरस्थिते गुणहीने वयसाऽपि सुतोपमे मयि यद् विजयो राट् स्निह्येत्, स तस्य सौजन्यमेव हेतुः ।* यतः --

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।

परगुणपरमाणून् पर्यतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥२९॥

ततो निर्व्याजस्नेहगेहस्य तस्य महीपतेः स्वतातस्येव पुत्रवद् वचनं नान्यथा कुर्वे। कुलीनां सारां च कन्यां छायाढ्यां फलदायिनीं कल्पवल्लीमिव स्वीकर्तुं विबुधः को न मन्यते?"। अथ *जयकुमारः* सभागतं *दत्तं* हसित्वा प्रोवाच- "हे बन्धो! अद्य मे भवद्गिरः विशेषात् प्रत्ययो जातः। अनीदृशमनौद्धत्यं, सुधोपमो वाग्विलासो, दाक्षिण्य-विनयौचित्यानि नरेश्वरे सर्वाणि अपूर्वाणि तथापि स्वगुणैर्नैव तोषः, तेन परगुणगणान् गृह्णाति। अथवा महानुभावाः स्वभावादीदृशा एव भवन्ति। देवावलोकनेन मम लोचने सफले, देववाक्श्रवणेन च श्रवणे कृतार्थे जाते"। ततो लाग्निकाद् लग्नं निर्धार्य्य अन्योऽन्यं प्राप्तसौजन्याः स्वस्वस्थानेषु सर्वेऽपि गताः। एवंविधविद्वद्गोष्ठी-पीयूषपायिनां तेषां तस्थुषां सुखभासुरो लग्नवासरावसरोऽभूत्। गुरुतरसमृद्धिपूर्वं पाणिग्रहणं संजातम्। यथा –

वादकवादितमङ्गलतूर्यं, वारवधूवरनर्त्तनवर्यम्।
बन्धुरगायकनिर्मितगानं, तारभणद्बहुभट्टवितानम् ॥
अर्पितयाचकवाञ्छितदानं, दत्तसमागतसज्जनमानम्।
सद्युवतीकृतमण्डनजातं, तत्करपीडनमत्र च जातम् ॥३०॥

अथ करमोचनावसरे राज्ञे गजा-ऽश्व-रथ-रै-रत्न-शृङ्गार-वसनादिकं *जयकुमारः* तातोक्तादप्यधिकं ददे। *शङ्ख*भूपोऽपि *कलावत्याः* करपीडनं कृत्वा नितान्तं मुदितो हस्तं मुमोच। अथ *जयकुमारोऽपि* राजानमनुज्ञाप्य *कलावतीं* च समाश्वास्य ससैन्यो

देवशालं प्रति चचाल । राजाऽपि *कलावत्या* सह सदा भोगान् भुङ्क्ते, तत्प्रेमरसनिमग्नः क्षणमपि वियोगं न सहते । तां विना भूपतेरास्थानं चारकस्थानं, साराहाराश्च नीरसाः अश्वो नीरसः, क्रीडा मनःपीडाऽभवत्। *शङ्ख*राट् सर्वकार्याणि देहेन करोति, परं मनस्तस्य तस्यां तिष्ठति । तदीयमन्तःपुरं *कलावत्या* नाम्ना जातम् । सकला नगरनार्यस्तस्याः सौभाग्यं विलोक्य परलोकेऽपि तत्तुल्यं सौभाग्यं प्राप्तुं धर्मतत्परा अभवन् । अथ सदाचारा *कलावती* राज्ञी मृषाभाषां न वक्ति, पैशुन्यं न करोति, कलहं मत्सरं च न करोति । गर्वमपि न करोति, मधुरं मितं च वचनं वक्ति । विनीता, विचक्षणा, परोपकारिणी सपत्नीनामपि मुदेऽजनि ।

अन्यदा सा *कलावती* सुखसुप्ता रजन्याः पश्चिमे यामे कुसुमस्रगभिरञ्चितं, स्मेरपद्मेन पिहितं, क्षीरोदधिजलैर्भृतं सुवर्ण-कलशं वीक्ष्य प्रातस्तूर्यनादैरजागरीत् । ततस्तया मुदितया भूपस्य स्वप्नो निवेदितः । राज्ञा प्रोक्तम् 'हे प्रिये! राज्यश्रीसम्मतस्ते पुत्रो भविता । तत् श्रुत्वा 'ओम्' इत्युक्त्वा धृतोल्लासा अथ गर्भं पालयति । यथा साऽतिशीतोष्णं नैव भुङ्क्ते, क्षुधां तृषां न सहते गर्भपोषिकामौषधीं पिबति, गर्भ-संरक्षणार्थं मूलिकां बध्नाति, गर्भपुष्टये च सदैव शिष्ट-देवताः सेवते । अथ पूर्णप्रायेषु नवसु मासेषु व्यतीतेषु 'आद्या सूतिः पितुर्गृहे' इत्यवधार्य च पितृभ्यां तत्रानयनायाऽनेके नराः प्रेषिताः । तेऽपि क्रमात् *शङ्खपुरे* प्राप्ताः, *दत्त*श्रेष्ठिनो गृहे समुत्तीर्णाः । कर्मसंयोगात् प्रथममेव *कलावत्या* मिलिताः। तयापि सर्वे मातृ-पितृ-भ्रातृ-राज्यादिकुशलवार्त्तां सहर्षं

पृष्टाः । तैरपि सर्वः कुशलोदन्तो निवेदितः, आनीतं च वस्तु दत्तम्। पुनस्तैः प्रोक्तम्- 'इदमङ्गदयुगलं वस्त्रयुग्मं च *जयकुमारेण* राज्ञे प्रेषितम्' । 'राज्ञेऽहमेतद् दास्यामि' इत्युक्त्वा सर्वं च तद् गृहीत्वा सन्मानेन तान् विसृज्य दत्तबान्धवगृहात् स्ववेश्मनि सा कलावती जगाम । अथ हर्षिता सा *कलावती* अङ्गदौ स्वबाह्वोः परिधाय सखीः प्रति जगाद- 'हले! अनयोर्दर्शनाद् ममाक्षिणी सुधयेव सिक्ते । एतयोर्दृष्टयोर्मयाऽधुना स एव दृष्टः, एतयोः श्लिष्टयोः स एव श्लिष्टः' । सख्योऽवोचन्- 'हे स्वामिनि! यादृशस्तस्य त्वयि स्नेहस्तादृशो नान्यत्र, चित्रमत्र च कीदृशम्?'। अथ नृपस्तत्रागच्छत् । तं च हास्यशब्दं निशम्य गवाक्षस्थोऽङ्गदौ वीक्ष्य निरभिधं तासामुल्लापं च निशम्य सशङ्को नृपो रोषोरगेण दष्टश्चित्ते व्यचिन्तयत्- 'अस्या हृदि कृतानन्दः कोऽप्यन्यः पुरुषो वर्त्तते, अहं चाऽनया कपटपाटवं कृत्वा वशीकृतः । किमस्याः प्रियं मारयामि, अथवा किं स्वयमेवेमां हन्मि?। अहो! हत्यानुकारिण्या कया दूत्या कुयोगः कारितः? । इति ध्यात्वा नृपो निवृत्तः क्रुधाकुलो गेहं गतः । कथमपि दिनमतिक्रम्य सूर्येऽस्तंगते रात्रौ शौकरिकप्रियाः भूपः प्रच्छन्नमाहूय स्वमतिकल्पितमादिशत्। तासु गतासु राज्ञा *निष्करुणो* भट उक्तो यथा- 'अमुकवने प्रत्यूषे देवीं दूरतस्त्यज' । अथ प्रातर्हययुतं रथं कृत्वा भटो देवीं जगाद- 'नृपो वने रन्तुं याति, त्वां च द्रुतमाकारयति, ततो वेगेन रथमारोह'। तच्छ्रुत्वा सा मुग्धा तत्रारूढा । तेन तुरगौ नोदितौ । क्षणाद् रथो दूरे गतः । सा प्राह- 'प्राणप्रियः कुत्र वर्त्तते?' । सोऽवक्-

'दूरेऽग्रेऽस्ति' । तयोरेवं ब्रुवाणयोर्निशायां चन्द्र उद्गतः । दिग्मण्डले प्रसन्ने साऽवदत्- "देवो न दृश्यते, नोद्यानमपि, नैव तूर्यघोषः श्रूयते, न च जनारवोऽपि। किमिदमरण्यम्, अथवेन्द्रजालं, किं वा मतिमोहोऽथवा दृग्भ्रमः?। ततो हे वत्स! मामबलां व्याकुलां किं वञ्चयसि?" । इति राज्ञीवचनं श्रुत्वा *निष्करुणो* हृदन्तरेऽयं जातकरुणो रथादुत्तीर्य तां नत्वा गद्गदया गिराऽवदत्- "धिग् दैवम्! हे देवि! पापोऽहं, मम '*निष्करुण*' इति खलु नाम सत्यम्।; यतो हतकृतान्तेन ईदृशे कर्मणि नियुक्तः । हे देवि! सेवोपार्जितद्रव्येण यः सदा जीवति धिगस्तु तस्य जीवितम्। स पापिष्ठो दुष्टचेष्टितो जगत्यजात एव यो दुर्भरोदरभरणकृते पित्रा समं युध्यते, बान्धवमपि हन्ति, दुर्घटकार्ये च प्रवर्त्तते । पटूनि चाटूनि कुर्वन् सेवकः श्वतुल्यः संभवेत् । ततो हे देवि! त्वं रथादुत्तीर्य शालशाखिनः छायायां तिष्ठ, अन्यद् वक्तुं न शक्नोमि, नृपाज्ञा किलेदृशी वर्त्तते" । ज्ञाततत्त्वा सा तद्वचनं निशम्य रथादुत्तीर्णा, मूर्च्छां च प्राप्ता । [1]इतरोऽपि रथमादाय रुदन्नगरमागतः । यावत् सा *कलावती* सचेतना कुलं गृहं च स्मृत्वा रोदिति, तावद् राज्ञा नियुक्ताभिः राक्षसीवत् करन्यस्तकृत्तिकाभिः कटुस्वरं " रे पापिष्ठे! दुष्टचेष्टे! सम्पदं भोक्तुं न वेत्सि । राज्ञोऽपि प्रतिकूलाऽसि, अतस्त्वमस्य कर्मणः फलं भुङ्क्ष्व" । इत्युक्त्वा चण्डालीभिः सभूषणौ तस्या बाहू छिन्नौ । *कलावती* 'हा तात! हा मातः!' एवं वदन्ती भुवि पतिता। कथञ्चित् शीतवातात् सचैतन्या विललाप –

किं दैव! कुपितं मह्यं, चण्डं दण्डं करोषि किम् ।

1. निष्करुणः - रथचालकः ।

त्वद्गृहे मत्समा नास्ति, बाला यद् वेत्सि नाऽसुखम् ॥३१॥

"हे आर्यपुत्र! हे विज्ञ! औत्सुक्यकारिता ते न युक्ता। यतः मनस्तापी तेऽनुतापः शल्यवद् भविता। यतो मया किञ्चिदपि नाऽपराद्धं, परं यत् खलेनोक्तं तद् न वेद्मि। हे प्रभो! शीलमालिन्यं स्वप्नेऽपि मा श्रद्धेहि। 'क्षणं रक्ता विरक्ता स्त्री भवति, सन्तस्तु अङ्गीकृतनिश्चलाः स्युः' एषा च लोकस्योद्घोषणा, सा हे विभो! त्वया विपरीता कृता। हे निर्दयप्रिय! तत्प्रेमप्रतिपत्तिः सा मधुरा-लापपद्धतिः, एकशः कथमेतद्विस्मृतम्?। हा तात! हा मातः! हा भ्रातः! अहं वः प्राणवल्लभा, विपन्मृत्योर्म्रियमाणां मां तस्मात् किं न रक्षथ?। अहमशरणा व्यथातुरा किं करोमि?"।

एवं दुःखाद् विलपन्त्याः सत्या जाता उदरव्यथा। तेन प्रसूतिसमयं ज्ञात्वा लज्जया प्रत्यासन्ननदीतीर-स्थितवनान्तर्गुल्मं गता। तत्र कष्टतो देवकुमाराभं सुतं प्रसूता। पदान्तस्थं च पश्यन्ती सा हर्ष शोकं च दधौ। यतः-

[1]आवइगयं पि सुहए, हासइ गुरुसोगगहियं पि।
मरमाणं पि जियावइ, अयच्चसंजीवणी जीयं ॥३२॥

आह,- "हे पुत्र! सुजातं ते, त्वं दीर्घायुः सुखी च भव। हे वत्स! ममाभाग्यतः अन्यद् वर्धापनं किं कुर्वे?"।

अत्रान्तरे तडफडन् बालो लुठन् नदीकूलप्रत्यासन्नो जातः। ततः ससम्भ्रमं तं बालमङ्घ्रिभ्यां धृत्वा अथाब्रवीत्-"हे मातर्नदि! दीनाऽनाथा चाहं तव पदोर्नता। प्रणताया उपरि कृपां कृत्वा

1. आपद्गतमपि सुखयति, हासयति गुरुशोकगृहीतमपि।
मियमाणमपि जीवयति, अपत्यसञ्जीवनी जीवम् ॥

मत्सुतं त्वं माऽपहर । हे ज्ञानलोचने! यदि *शीलमुर्व्यां जयति तन्मया न कलङ्कितं, ततो बालपालनोपायमाचर" ।* इति दीनं क्रन्दन्त्या अस्या दयार्द्रया सिन्धुदेव्या ततः क्षिप्रं बाहुलतायुग्मं भव्यतरं कृतम् । ततः *कलावती* राज्ञी सुधारसेन सिक्तेव नवं सुखमनुभवन्ती कराभ्यां तनयं गृहीत्वा स्वोत्सङ्गे स्थापयामास । देवीं च तुष्टाव –

जय देवि! चिरं भद्रं, तुभ्यं निश्छद्मवत्सले! ।
दुःखदीना ह्यनाथाहं, त्वया स्वामिनि! जीविता ॥३३॥

ईदृगापन्निमग्नाया, जीवितव्येन किं मम? ।
किन्तु बालं लसद्भालं नेशे मोक्तुं निराश्रयम् ॥३४॥

पुत्रोत्पत्तौ नृपो नगरे महोत्सवकर्ता स्यात् । धिग् धिग् विधेर्वैचित्र्यं यदीदृशं तदजनि । यतः –

[1]रज्जंति जाव कज्जं, कयकज्जा दुज्जणव्व दूनंति ।
जे ते कारिमनेहा, हा हा धि निग्घिणा पुरिसा ॥३५॥

यासां मनोगृहे नैव, लीनः कामपिशाचकः ।
आबाल्याद् धृतशीलाभ्यः, श्रमणीभ्यो नमो नमः ॥३६॥

तदा अहं पुरा रमणीया चेत् श्रमणी अभविष्यं तदा भवसम्भवं पराभवं नैवाऽसहिष्ये" । एवं च रुदती वन्यसत्त्वान् पुनः रोदयति। पुण्यतः केनचित् तापसेनैषा वीक्षिता । चिन्तितं च तेन- 'इयं स्वर्गसुरी? किं वा विद्याधरी? अथवा किन्नरी? आहोस्वित्

1. रज्यन्ते यावत् कार्यं, कृतकार्या दुर्जना इव दूयन्ते ।
ये ते कृत्रिमस्नेहा, हा हा! धिग् निर्घृणाः पुरुषाः ॥

नागाङ्गना? किं वा नृपाङ्गना?' इति चित्ते चिरं चिन्तयित्वा तेन दयालुना तपोवने आनीता कुलपतिपार्श्वे। साऽपि कुलपतिं ननाम। गुरुणा कुशलं पृष्टा स्मृतदुःखा सा रुरोद। तेन सुधाभमधुरोक्तिभिः कुलपतिना आश्वासिता। यथा " हे वत्से! दुःख-सुखे पाप-पुण्यपादपयोः फले, ते स्वकृते, ततस्तत्र खेद-हर्षौ संत्याज्यौ। लक्षणाढ्यं ते शरीरं, वाग् गभीरा, समे दृशौ, तेन त्वं कुलीना संभाव्यसे। तव कल्याणं भविष्यति, ततो धीरत्वमवलम्बय। एतं बालं पालय, तापसीमध्ये त्वं तिष्ठ। यतः *जीवन् भद्रं भजते*" । अथ संजातजीविताशा सा 'तथा' इति ब्रुवाणा गुरुणा तापसीनां दत्ता, यथा सुखमतिष्ठत्।

अथ चण्डालीभिस्तु साङ्गदौ बाहू राज्ञे दर्शितौ। तत्र *जयसेननाम* दृष्ट्वा स खेदमेदुरोऽभवत्। निश्चयार्थं राज्ञा *गजश्रेष्ठी* आहूय पृष्टो यथा 'श्रेष्ठिन्! *देवशालात्*कोऽपि समागतः?'। तेनोक्तम् सन्ति मद्गृहे देवीमानाययितुं राज्ञः सद्भृत्या आगताः। परं प्रस्तावाऽभावात् ते देवदर्शनं नाऽकुर्वन्'। ततो राज्ञाऽऽकार्य ते पृष्टाः, - 'सुन्दराकारं अनर्घ्यमणिनिर्मितं चाऽङ्गदद्वयं किं युष्माभिरानीतम्?'। ते प्रोचुः- '*जयसेनकुमारेण* परमप्रेम्णा देवस्य प्रेषितं, देव्यै च अस्माभिरर्पितम्। तैरेवमुक्ते भूपो मूर्च्छितः झटिति विष्टरादपतत्। हाहारवास्यैर्मन्त्रिभिः शीतवस्तुभिः सज्जितः। सचैतन्यो दन्तसङ्घट्टभृत् चित्ते व्यचिन्तयत्- "अहो मे अवीक्षितत्वम्! अहो उत्सुककारिता! अहो अज्ञानजृम्भित्वम्! अहो निर्भाग्यमौलिता! अहो निर्दयचित्तत्वम्! अहो कूटकुबुद्धिता! अहो कृतघ्नकारित्वम्! अहो कर्मचण्डालता! स्थिरप्रीतिमित्रभार्यादि-

सम्पदोऽयोग्योऽहम्" । इति स्मृत्वा नृपो मूर्च्छन् पुनर्मन्त्र्यादिभिः सज्जितः । विज्ञप्तश्च- 'हे विभो! वद, अकाण्डेऽपि व्याकुलत्वं किम्?' । ततो नृपः प्राह- "भो अमात्याः! पुराऽहं नाम्ना *शङ्खः*, अधुना अर्थतः, बाह्ये विशदो मृदुवाक्, कुटिलोऽत्यन्तमन्तरे । यतः-

हरिकरे वसनं मृदुता स्वरे, जनयिता तव शङ्ख! महोदधिः ।
विशदता वचनस्य नगे वरे, कुटिलता तव तद् हृदये कथम्? ॥३७॥

हितं विजयभूपस्य, जयसेनवयस्यताम् ।
कलावत्याः प्रेमस्थैर्यं, कुलनैर्मल्यपङ्कताम् ॥३८॥

आत्मनः सन्ततिच्छेदः कृतः । हा हा! आसन्नसुतागमा दोषोज्झिता देवी मया मृत्युं प्रापिता । ततो भोः प्रधानाः! पापसन्तापतापितमात्मानं धर्त्तुं न शक्नोमि, अत एधोभिर्वह्निं सज्जयत यथैनं निर्वापयामि" । राज्ञो विषमुचं वाचं श्रुत्वा सर्वोऽपि परिकरोऽन्योन्यवदनालोकी व्याकुलः समं व्यलपत् । अन्तःपुरस्त्रियोऽपि भणन्ति 'सा नो मुखशृङ्गारा क्वाऽस्ति । निर्दयोऽसि, हे आर्यपुत्र! किमिदमसमञ्जसं कृतम्?' इति जल्पन्त्यो रुरुदुः । 'हा हा विधे! किमिदं विषमं विहितम्?' इति वदन् सर्वोऽपि नरनारीगणः पुरे रोदिति । शोकाक्रान्तैः पौरैरीषद् भुक्तं वान्तं, पीतमथोदकं त्यक्तम्। अन्यत्किमुच्यते? तस्मिन् दिने डिम्भैः स्तन्यपानमपि मुक्तम् । पुरं शोकाकुलं दृष्ट्वा द्विगुणाऽसुखः राजा प्राह- 'विस्तीर्णवेदनं मां भो अमात्याः! किं विलम्बयथ?' । ततः सामन्ताऽमात्या-ऽन्तःपुर-पौर-सुहृज्जना व्यजिज्ञपन्- "हे क्षितीश्वर! हे

विचक्षण! त्वं क्षते क्षारं मा क्षिप। हे राजन्! बुद्धिसमृद्धस्य तव एको महान् दोषोऽभूत्, अथ द्वितीयं यत् चिकीर्षसि, स हि दग्धस्योपरि स्फोटकः । हे राजन्! कातराः प्राणिनः भयभीताः सन्तः धीराणां शरणं यान्ति, ते यदि धीरतां त्यजन्ति तदा तदर्थिनां कः शरणम्? । हे नृप! राज्यं मुक्त्वा कुलं च छित्त्वा मरणवाञ्छां कः करोति?। बालिशोऽप्यत्र गृहं प्रज्वाल्य उद्योतं कः कुर्यात्?" । इत्थमनेकधा प्रोक्तोऽपि तच्छिक्षामपमान्यैव परिकराऽन्वितो नृपो हयारूढो मन्त्रिभिर्वार्यमाणोऽपि निर्गतः । भृत्यानां दुःखं जनयन्, धर्मकामिनां वैराग्यं जनयन्, शोकाऽश्रुधौत-नेत्राभिस्तरुणीभिर्निरीक्ष्यमाणः, छत्र-चामर-वाद्यादिवर्जितो नन्दन-वने गतः । उपायाभावाद् विलम्बार्थं *गजश्रेष्ठिना* विज्ञप्तः,- " हे स्वामिन्! जगत्प्रभोर्देवाधिदेवस्य अत्र प्रासादो वर्त्तते, तत्र प्रथमं पुष्पादिभिः परा पूजा क्रियते । तत्रैव ज्ञानवान् *अमिततेजा* गुरुरस्ति, स वन्द्यते, यतोऽत्र परत्र च मङ्गलं भवति"। 'अलङ्घ्य-वचनः श्रेष्ठी, तथा परभवे शम्बलं भविष्यति' इति विचिन्त्य राज्ञा कृता अर्हतः पूजा, वन्दिताश्च गुरवः ।

ततो गुरुभिर्देशना प्रारब्धा, - "हे राजन्! जन्म-मृत्यु-जराम्भःपूर्णः, व्याध्याधिवडवानलकरालो, राग-द्वेषा-ऽज्ञानमहा-मत्स्यौघसङ्कुलो भववारिधिर्दुस्तरः । तत्र नृ-तिर्यग्-नरक-नाकिलक्षणा[1]श्चतस्रो गतयः, यत्र सर्वजीवैरनन्तशो दुःखानि भुक्तानि। तत्र क्रोधाद्याश्चत्वारोऽहयः[2] प्रोक्ताः, यैर्दुष्टैर्दष्टं जगत् कलकलायते। यतः –

1. मनुष्य-तिर्यग्-नरक-देवलक्षणाः 2. सर्पाः ।

कोहो[1] पिइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥३९॥

क्रोधातुराः कार्याकार्यं न जानन्ति; युक्तायुक्तं, हिताहितं, सारासारं, गुणागुणं किमपि न विदन्ति । क्रोधातुरस्तत्कुर्याद् यतोऽत्रामुत्र च दुःखभाक् स्यात् । क्रोधात् तेऽपि हे राजन्! शल्यवदनर्थोऽभूत्, यथा पुरा *पद्मराजस्य*" । तत् श्रुत्वा राजा प्राह- ' हे भगवन्! अहं विश्वे बहुपापवानस्मि । ततः कः *पद्मो* राजा?' । इति नृपतिना पृष्टे सूरिः प्राह- " हे राजन् ! गतपारेऽत्र संसारे गुरुकर्मभिः प्राणिभिरेतादृशानि वृत्तानि अनन्तशः प्राप्तानि, तथापि प्रस्तुतकथां शृणु, -

॥ पद्मनृपस्य कथानकम् ॥

पुरा *पद्मपुरे* पद्मासद्म सुपात्राढ्यो मित्रोदयसमृद्धिमान् पद्मवत् *पद्म*भूपतिरभूत् । सोऽन्यदा राजपाट्यां व्रजन् भवनोपरि *वरुणश्रेष्ठिनः* कन्यां सद्रूपसम्पदा धन्यां, सल्लावण्यां, सखीभिः क्रीडन्तीं साक्षात्कमलां *कमला*भिधां निरीक्ष्य बह्वन्तःपुरवानपि तन्मना जातः । यतः –

लुब्धः स्वैः कामुकः स्त्रीभिः, पृथिव्या पार्थिवोऽपि च ।
विद्वान् सुभाषितैः कोऽपि, तृप्तिं प्राप्तो जगत्यपि? ॥४०॥

ततो हर्षप्रकर्षतो राज्ञा मार्गयित्वा बह्वाडम्बरेण परिणीता, परं बहुव्यग्रस्य तस्य सा हृदयादपि विस्मृता पितृगृहे तिष्ठति ।

1. क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः ।
माया मैत्र्याणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः॥

अथ भूपालेन कियति काले प्रौढिं प्राप्तां तां निरीक्ष्य 'युवतिः केयम्?' इति पृष्टो वयस्योऽवोचत् - 'प्रभो! शृणु प्राक् त्वया सादरं या श्रेष्ठिपुत्री परिणीता सैषा तव भार्या'। इति निशम्य स स्मृत्वा दध्यौ- 'हा हा! मया सैषा प्रणयिनी कदर्थिता'। परं प्रोषितकान्तेव कथं कुत्सितवसना अतिदुर्बला मङ्गलार्थं सवलया?' इति नृपेण पृष्टोऽवक् सखा- "हे प्रभो! *कुलस्त्रीणामयं धर्मो यत्पत्युर्विरहे शीलाभरणभूषिताः ताः शृङ्गारादि न कुर्वन्ति ।* यतः-

पादपा इव शुष्यन्ति, स्मराग्निज्वालिता अपि ।
शीलमानं न मुञ्चन्ति, सदाचाराः कुलाङ्गनाः ॥४१॥

ततस्तामाह्वातुं नृपेण मित्रं मुक्तम् । सोऽपि गत्वा पित्रोरवदत्। ताभ्यां 'महाप्रसादोऽयम्' इत्युक्त्वा सा प्रहिता। सापि कृतशृङ्गारा सखीसहिता वासगृहं समागता । भूपोऽपि तत्सङ्गमोत्सुकः सभां विसृज्य समुपागमत् । सप्रणयं प्रेयसीं प्रति प्रोवाच पृथ्वीशः – "हे भद्रे ! मया साग्रहं परिणीय चिरं विस्मारिता, मे अंहांसि त्वं क्षमस्व' । इत्युक्त्वा सा नृपेण भृशं रञ्जिता । यतः-

लक्षं सन्देशकस्याऽर्थो, लेखस्य धनकोट्यपि ।
दृष्टेः कोटिशतं प्रोक्तमनर्घं प्रियभाषणम् ॥४२॥

तया प्रोक्तम्- 'हे प्राणेश! सर्वत्र सावधानस्य तव प्रियाविस्मृतिः का?, *परं निष्पुण्यानां स्त्रीणां स्वस्वामिदर्शनं न स्यात्* । हे प्राणेश! सस्नेहं चित्ते धृतोऽसि । अनेकशः दृष्टोऽपि, परं विरहाग्निना इदं शरीरं दग्धम्' । इति ब्रुवाणा रत्यासनचतुरा

ह्रियं त्यक्त्वा सा नृपतिमरञ्जयत् । परं राजा तस्याः कामकला-चातुर्यं निरीक्ष्य साशङ्कोऽभूत् । *गुणः क्वचिद् दोषायते।* रजन्या अन्तिमे यामे भूधवो दध्यौ- 'इयं किल महिला न वा । प्रौढं रमणीयकं, चित्रकृच्चरित्रं, विज्ञानं, चातुरी, धैर्यं च पत्युः प्रथमसङ्गमे कुलनारीणां कुतः स्यात्? । ततो मन्ये दुःशीलेयम् । किं मारयाम्येनां स्वहस्तेन!, अथवा *सतां स्त्री अवध्या'* । इति चिन्तयन् कोपाक्रान्ताङ्गो भूपतिर्गृहान्निर्गत्य मन्त्रिणमामन्त्र्य कथयामास यथा, 'इमां पापां रहस्त्यज' । ओमित्युक्त्वा स एकान्ते एनां संस्थाप्य विमर्शयामास, यथा-

'रागान्धः सतो दोषान् न वीक्षते, असतो गुणान् पश्यति च । द्वेषान्धस्तद्वैपरीत्येन प्रवर्त्तते ।

भूपः कोपपरितापघातजर्जरिताङ्गः मया मतिसञ्जीवनीं दत्त्वा सज्जीकार्यः' । इति चिन्तयित्वा सद्गीर्भिस्तां रुदतीमाश्वास्य, भूपं बुद्ध्या बोधयितुं मन्त्रीश्वरो राजसभां ययौ । अथास्थानगतं दीनं कुस्थानगतगुणौघवत्, प्राभातिकदीपवदुद्योतैरदीप्यमानं, विस्मयक्रोधसम्मिश्रं, 'किं किम्?' इत्यहो ध्यायन्तं शनैर्नृपं ज्ञात्वा नत्वा च तेन विविधाः कथाः प्रक्रान्ताः । तत्र शिष्टकण्ठेन *विष्णुकण्ठेन* प्रथमं जल्पितम् - 'भो भोः सभ्याः! अत्र चित्रवृत्तं प्रवृत्तम्' । ततः सभ्यैः पृष्टम्- 'तत् किम्?' । सोऽवदत् -

।। धन्यस्य कथानकम् ।।

"इह नगरे गुणैः श्रेष्ठो *धन्यनामा* श्रेष्ठी व्यवहारिषु मुख्योऽभवत् । तस्य *श्रीनाम्नी* भार्याऽभूत् । तयोश्चत्वारस्तनयाः।

प्रथमो *धनः*, द्वितीयो *धनदः* तृतीयो *धर्मः*, चतुर्थः *सोमश्चेति* । ते विचक्षणा यौवने तातेन चत्वारोऽपि परिणायिताः । अन्यदा वार्द्धके *धन्यस्याऽमन्दं* मान्द्यमायातम् । वैद्येभ्योऽसाध्यतां मत्वा स्वजनोऽखिल आकारितः, *धन्येन* भक्त्या पूजितः, पुनः प्रत्येकं क्षामितः'। ततः स्वजनैः प्रोक्तम्- 'भोः श्रेष्ठिन्! शृणु, त्वं नामतोऽर्थतश्च धन्यः । त्वया भुजाभ्यामर्जितं वित्तं, स्वजनाश्च पोषिताः, सप्तक्षेत्र्यां घनं धनमुप्तं च, कीर्तिझल्लरी च वादिता । किन्तु पित्रोर्मृतौ विधिं विना पुत्राः परस्परं विवदन्ते, ततो नः साक्षिकं सुतानां समभागं द्रव्यं समर्पय । यतोऽमीषां कलिक्लेशो न भवति, भवतोऽपि च यशो भवेत्'' । तत् श्रुत्वा *धन्योऽ*वक्- 'भोः सुताः! भवद्भिर्मिथः सङ्गतैर्भाव्यम् । यतः-

नयनाभ्यां मुखं भाति, नयने वदनेन च ।
पल्लवैस्तरवो भान्ति, तरुभिः पल्लवाः पुनः ॥४३॥

तस्मात् पुत्राः! कलहो न कर्त्तव्यः, प्रीत्या स्थातव्यम् । अथवा कदापि प्रीत्या निर्वाहो न भवति, तदा चतसृषु अपवरकदिक्षु चत्वारः कलशाः सन्ति ते यथाक्रमं ग्राह्याः' । इति भणित्वा श्रेष्ठी पञ्चत्वं प्राप्तः । तस्य ते लौकिककार्याणि चक्रुः। कियत्कालं सुखं स्थित्वा स्त्रीभ्यः पृथक् पृथग् हृदयमभूत् । ततो जनकोपदर्शिताः कलशा निष्काशिताः । आद्यस्य मध्ये धूलिर्निर्गता, द्वितीयस्य मध्ये अस्थीनि, तृतीयस्य मध्ये वहिः, चतुर्थस्य मध्ये दीनारान् दृष्ट्वा त्रयो दीनास्या जाताः । चतुर्थः प्रमोदभाग् बभूव । *धनादयः* कुलिशेन ताडिता इव भुवि पतिता उरः शिरश्च कुट्टयन्तः बान्धवानां पुरो जगुः 'पित्रा हि शत्रुरूपेण वयं विश्वास्य वञ्चिताः । सर्वसारं

तु *सोमस्य* दत्तम्, अस्माकं तु धूल्यादिकम्' । ततः स्वजनैरुक्तम्- 'सर्वं चतुर्भागं विभज्यताम्' । *सोमोऽवक्*- 'मां मारयित्वा गृह्णीध्वम्, अन्यथा न दास्ये । द्रव्यं वः कर्मदोषाच्च धूल्यादिना परिवर्त्तितं, ततः को मम दोषो यन्मां स्फोटयितुमिच्छथ?' । ततस्त्रिभिरुक्तम् 'मुग्ध! त्वं सकले धने लुब्धोऽसि । यतः सर्वङ्गिलो[1] भूत्वा त्वं किं नराननानि लोपयसि? । ततो व्यवहारेण नो जित्वा अथवा सुहृदां वचः कृत्वा शेषं धनमुपभुङ्क्ष्व, तृतीयो विधिर्नास्ति' । एवं ते विवदमानाः, ततः सज्जनैर्भणिताः, 'भो यूयं व्यवहारं कुरुध्वं, माऽस्तु वः कुलेऽनर्थः' । ततस्तैः षण्मासान् यावन्नित्यं धर्माधिकरणं सेवितं परं प्रधानैः कापि व्यवस्था न कृता । तद् देवेनाऽवधार्यते'। तदा हसित्वैष (पद्म) नृपोऽवक् 'हुं! वादः केनचिद् भग्नो न वा?'। (विष्णुकण्ठेन) तेनोक्तम्- "हे नाथ! नो भग्नः । ततस्ते इतः स्थानाद् दुःखिता विदेशे चेलुः । क्वचिद् ग्रामे सभास्थितं वृद्धं पशुपालं वीक्ष्य नत्वा स्थिताः । ततस्तेनोक्ताः 'कुत एताः, क्व यास्यथ?' । तैर्भद्रैस्तातवत् सर्वो व्यतिकरः तस्योक्तः । स प्राह- 'हे पुत्राः! युष्माकं तातः पण्डितो हितकर्त्ता च' । तैरुक्तम्- 'हे तात! नः विवादं निवारय' । वृद्धेनोक्तम्- 'भवदीयः पिता विचक्षणः, तेन यस्य यद्योग्यं तस्य तद् दत्तम्' । कृषिकर्म समस्तमाद्यस्य, चतुष्पदादि सर्वं द्वितीयस्य, राजसेवाहट्टव्यवसायलेखकोद्ग्राहणिकादि सर्वं तृतीयस्य । तुर्यो बालोऽस्ति, स कलान्तरकरः[2] सुखी । युष्माकं मध्ये यस्याऽल्पं बहु वा तस्य विशेषः किञ्चिदेव, तच्च सदाऽभ्यासवशाद् युष्माभिः सम्यग् ज्ञास्यते । किञ्च, वित्तं

1. सर्व भक्षकः । 2. व्याज से आजीविका ।

तडिल्लतादिवदनित्यं, पुनरर्कतूलवदसारं; तत्कृते भवद्भिः कलिर्न कार्यः । पितुर्गिरा स्नेहो धार्यः । यतः –

[1]अइलालिया वि अइपालिया वि, विहडंति सेसया सयणा ।
हुन्ति साहिज्जा विहुरे, कुविया वि सहोयरा चेव ।।४४।।

इति वृद्धोक्तं श्रुत्वा चालिङ्ग्य स्रवदश्रुमुखैस्त्रिभिर्लघवे उक्तम्– 'हे वत्स! लोभालीढैरस्माभिर्यत्त्वं खेदितोऽसि तत् क्षमस्व'। लघुरपि चरणयोर्लगित्वा प्राह– 'यूयं ताततुल्या मया मूढधिया तापितास्तं ममाऽपराधं क्षमध्वम्' । पशुपालोऽखिलैः प्रोक्तः– 'मृते ताते त्वया कृपालुना नो विमूढानां नव्यं तातत्वमाविष्कृतम्' । इत्युक्त्वा नत्वा च कदाग्रहरहिता गृहमागत्य मुदिताः सन्तस्ते नव्यजन्मवत् प्रेमनिर्भरं पुरे वर्द्धापनं चक्रुः'' ।

।। इति धन्यस्य कथानकम् ।।

ततस्तद्व्यतिकरं श्रुत्वा धूतमस्तकैः सर्वैः सभ्यैः प्रोक्तम्– 'भो भो विज्ञा! अज्ञातग्रामीणेन चाद्भुतं कथं भग्नो वादः?'। तत् श्रुत्वा चमत्कृतो नृपो दध्यौ– ''तेन पशुपालेनाऽदृष्टपूर्वेण चेद् दूराद् ज्ञातं, ततस्तस्याः शास्त्रज्ञायाः प्रियायाः कामे कौशल्यं भवत्येव । ततोऽनार्योऽहं, निर्लज्जोऽहं, दुर्गतिसङ्गतौ सज्जोऽहं, निर्भाग्योऽहम्, अयोग्योऽहं तादृशः स्त्रीरत्नस्य विनाशनात्'' । इति सुचिरं चित्ते संशोच्य दीनास्यो नृपो मन्त्रिणमवक्– ''हे मन्त्रिन्! मया निष्पुण्यकेन महापापं कृतम् सुखं पितृगृहस्था सा

1. अतिलालिता अपि अतिपालिता अपि, विघटन्ते शेषकाः स्वजनाः ।
भवन्ति साहाय्यका विधुरे, कुपिता अपि सहोदरा एव ।

प्रिया हा हा! मया महानर्थं प्रापिता । अतः प्राणान् धर्त्तुं न शक्तोऽहम् । ततश्चितानले स्वं पातयामि" । तं दुःस्थितं मृत्यूद्यतं च ज्ञात्वा मन्त्री रहोऽभणत्- "हे स्वामिन्! शृणु, स भृत्यो यः स्वस्वामिनो हिताहितं वेत्ति । तथा सुपरीक्ष्य कृतं कार्यं फलदं, परं सहसा कृतं न हि । यतः –

सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्य कारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥१॥

ततो मया तवाज्ञाऽपि कृता, सापि जीवन्ती रहसि स्थापिता, इति विमृश्य –

[1]पढमं चिय रोसभरे, जा बुद्धी सा न होइ कायव्वा ।
अह कीरइ ता नूणं, न सुंदरो तीए परिणामो ॥१॥

श्रुत्वेति कलितानन्दो नरेन्द्रो मन्त्रिणं जगौ- 'हे वयस्य! त्वां अस्यां रक्षितायां मे जीवितं रक्षितम्' इत्युक्त्वा राज्ञा सा प्रदोषे निर्दोषा आकारिता, क्षामिता च । तद्दिनात् तयोर्दम्पत्योर्गाढं बाढं प्रेमाऽजनि" ।

॥ इति पद्मनृपकथा ॥

यथा पद्मनृपेण पुराऽऽत्मा चिन्तायां रोपितः, दृढं जाड्येन पीडितः, तथा त्वमपि चिकीर्षसि। किञ्च, धर्मज्ञैः [2]परघात-वदनाऽऽत्मवधः कार्यः । यत आत्मघातसमं पापं न भूतं न भविष्यति।

1. प्रथममेव रोषभरे, या बुद्धिः सा न भवति कर्तव्या ।
अथ क्रियते ततो नूनं, न सुन्दरस्तस्याः परिणामः ॥
2. यथा परघातो न कर्तव्यस्तथा स्वात्मवधोऽपि न कार्यः

यः क्रुधा दुःखघाताय दुष्करमात्मघातं करोति, स सुगमं सर्वदुःखाऽपहमर्हद्धर्मं किं न कुर्यात्? । यतः –

दुष्कर्ममर्महृद् धर्मो, धर्मः शर्मप्रदः सदा ।
संसारशरणस्थानां, धर्मोऽर्हच्छरणं सताम् ॥४६॥

तत् श्रुत्वा नृपोऽवक्- 'हे पूज्या! दुःखदावाऽग्निदग्धानां तत्कथापि का?, तस्मात् प्रारब्धसमयार्हं मे धर्मशम्बलं देहि'। ततो गुरुः प्राह- "हे महाराज! त्वं दुःखार्त्तो मृत्युमिच्छसि, परं तद्विशेषाद् लप्स्यसे । तदत्राख्यानमिदं शृणु-

॥ कपिलकथा ॥

लसन्नीरे [1]सुरसरित्तीरे क्वचित्सन्निवेशे षट्कर्मनिरतः शौचाचारवान् *कपिलो* नाम विप्रोऽभवत् । स शौचपिशाचेन ग्रस्तः स्वचित्ते व्यचिन्तयत् –

जरद्वस्त्रस्फुरत्कुम्भी–तुषकुक्कससङ्कुले ।
चण्डालाङ्घ्रिकरस्पृष्ट–धान्यपुष्पफलाकुले [मार्गे] ॥४७॥

विड्मूत्राद्यशौचे मार्गे गच्छतां द्विजन्मनां शौचाचारः कथं भवेत्? । किञ्च, नर–क्रोष्टु–मार्जार–श्वादिभिः कृता मूत्रोच्चारा वर्षावारिप्रवाहव्यूढा जलाश्रये पतन्ति; तस्मिन् स्नाने कृते विप्राणां कथं शुद्धिर्भवेत्? । ततो मनुष्य–पशुवर्जिते जलधिमध्यस्थद्वीपे यदि वासः क्रियते तर्हि शौचं संभवति, नान्यथा शौचं स्यात्" । एवं चिन्तयतस्तस्य अथैकेन निर्यामकेण प्रोक्तं यथा, 'समुद्रमध्ये

1. गङ्गातीरे ।

इक्षुसम्भृतः *अभय*द्वीपनामा द्वीपोऽस्ति' । तत् श्रुत्वा प्राप्तनिधिवद् हृदि मुमुदे । ततः सस्नेहान् स्वजनान् त्यक्त्वा मिथ्याभिमान-प्रवेशितो निर्यामकेण सार्द्धं नावमारुह्य गृहात् चलितः । क्रमाद् वार्द्धिमध्ये भववद् द्वीपं लब्ध्वा धर्मवत् पोतं त्यक्त्वा नृजन्मवत्तस्थौ। इक्षून् विषयवद् भोक्तुं प्रवृत्तः । तत्र श्वपाककूप्यां [?] त्रिकालं स्नानं करोति । अर्घ्याञ्जलिं यच्छति, इक्षुदण्डरसं चास्वादते । सुखेन तिष्ठति । कियद्दिनैरिक्षुदण्डशिलिकाविदारितौ द्वावप्योष्ठौ। स व्यचिन्तयत्- "इक्षवः सफलाश्चेत् स्युस्तदा रम्यं स्यात् । यतः-

[1]सुयणाण निद्धणत्तं, कुणई कुलबालियाण विहवत्तं ।
इच्छूण निप्फलत्तं, धिरत्थु बुद्धिं पयावइणो ॥४८॥

स्वदेशे न फलन्त्येते, परन्तु कदापि इह द्वीपगुणेन ते फलिष्यन्ति' । इति विमृश्य स [2]धिग्जातिर्वीक्षितुं लग्नः, प्राक्समेतस्य च भग्नपोतस्य कस्यचिद् वणिजो विट्पिण्डं भानुकान्तिशुष्कं [3]फलभ्रान्त्या स चखाद । यतः –

अमेध्यं[4] मन्यते मेध्यं, कपिलश्चपलेन्द्रियः ।
किं वा क्षुधातृषार्त्तानां, शुच्यशुच्योर्विवेचनम् ॥४९॥

तथाविधं निजोच्चारं[5], भुञ्जानस्याऽस्य चान्यदा ।
स वणिग् मिलितो हृष्टौ, स्वदेश्यावित्युभावपि ॥५०॥

मिथः सम्भाषणपूर्वं *कपिलो* वणिजमलपत्- 'देहपोषणं

1. सुजनानां निर्धनत्वं, करोति कुलबालिकानां विधवत्वम् ।
इक्षूणां निष्फलत्वं, धिगस्तु बुद्धिं प्रजापतेः ॥ 2. ब्राह्मणः ।
3. इक्षुफलभ्रान्त्या । 4. अशुचिम् । 5. स्वकीयविष्ठाम् ।

कस्मात् करोषि?' । सोऽब्रवीत्, 'इक्षुभक्षणात्' । कपिलेनोक्तम्- 'तर्हि त्वमिक्षुफलानि भक्षयसि?' । वणिजोक्तम्- 'कीदृशानि तानि फलानि?' । *कपिल* उवाच- 'दर्शयामि ते' । इत्युक्त्वाऽसौ तान्यदर्शयत् । तत्कल्पितानि फलानि दृष्ट्वा खेदमेदुरः स वणिग् दध्यौ- 'अहो! अज्ञानतोऽनेन विष्ठापि फलीकृता । यतः-

नातः परमहं मन्ये, जगतो दुःखकारणम् ।
यदज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम् ॥५१॥

वणिग् अवक्- 'हे भद्र ! कीदृग् रसः ? कियान् कालस्तवाऽदने ?' । *कपिलो*ऽवक्- 'सुधामुधाकारी रसोऽस्य, ममास्वादमानस्यैको मासो जातः' । ततो वणिजा प्रोक्तम्- ''भो! अज्ञानसंमूढमनसा त्वया पादौ रक्षता गिड्डिकया[1] निजं शीर्षं स्फोटितम् । पुरा अशुचिलवसङ्गात् त्वं भीतः सन्निहागतः, परं भृशं तद्भक्षको भवान् जातः । यद्भयान्नश्यते दूरं, स एव पुरतोऽमिलत् । सर्वसंमतमिक्षुणां च नैष्फल्यम् अश्रद्धाय यत्त्वया कुधिया स्वात्मा हि अपवित्रीचक्रे विड्भक्षणात्'' । विप्रोऽवक्- 'सा विड् निर्मानुषेऽत्र द्वीपे कस्य?' । वणिगुवाच- 'मम तवाऽपि च' । द्विजेनोक्तम् 'तर्हि कठिना किम्?' । तेनोक्तम् बहुभिर्दिनैः'। ततो निश्चित्य शीर्षमास्फाल्य *कपिलो* व्यलपत्- ''हा हा दैव! मम निष्कारणवैरिणा एतत् त्वया किं कृतम्? । धर्मार्थी शौचवान् निजस्वजनं विमुच्य कदाग्रहादत्र निर्जने वनेऽहं मुधाऽऽगतः । त्रिः स्नायी स्वयंपाकी सुतादपि यः पृथक्स्थायी हे दैव! सोऽहं

1. यष्ट्या, भाषायाम्- 'गेडी' ।

त्वया कथम् अमेध्यभक्षणं कारितः? । अथ क्व यामि? कस्य वा ख्यामि? । किं स्वात्मानं घातयामि? । सत्यशौचपरोऽत्यन्तं घनं गूंथेन[1] लिप्यते" । ततो वणिगाह- "स्वया धिया स्वयमपराधं कुर्वन् सदा निरपराधाय दैवाय किं कुप्यसि? । यतः –

नरः कार्ये हि निष्पन्ने, मयाऽकारीति माद्यति ।
तस्मिन् पुनरनिष्पन्ने, दोषं दैवाय यच्छति ॥५२॥

बाह्यशौचेन त्वं भग्नो बुधादृतं शौचं त्यक्त्वा, यतो निर्मूलो वृक्षो वातूलेन क्षणाद् भज्यते, एष तव महान् मोहोऽस्ति। यतः स्नानेन स्वर्गमोक्षनिबन्धनं पुण्यं मन्यसे, तेन स्नानेन देहान्तर्मलमपि यदि न शुध्यति तर्हि जीवगतं पापं कथं शुध्यति? स स्वात्मा अन्तरङ्गद्विषज्जये परिणामशुद्ध्या शुध्यति । स्नानं तु दर्पं रागादिकञ्च वर्धयते । *शिवपुराणेऽप्युक्तम्* –

अशुचिः पापकर्मा स्यात्, शुद्धकर्मा शुचिर्भवेत् ।
तस्मात्कर्मात्मकं शौच-मद्भिः[2] शौचं निरर्थकम् ॥५३॥

समता सर्वभूतेषु, मनोवाक्कायनिग्रहः ।
पापध्यानकषायाणां, निग्रहेण शुचिर्भवेत् ॥५४॥

माघमासमाहात्म्येऽप्युक्तम् ।

कूपेषु चाऽधमं स्नानं, नद्यां चैव तु मध्यमम् ।
वाप्यां तु वर्जयेत् स्नानं, तडागे नैव कारयेत् ॥५५॥

1. विष्ठया । 2. जलैः ।

गृहे चैवोत्तमं स्नानं, वस्त्रपूतेन वारिणा ।
तस्मात्त्वं *पाण्डवश्रेष्ठ !*, गृहे स्नानं समाचर ॥५६॥

एकादशीपुराणेऽपि –

चित्तं रागादिभिः क्लिष्ट–मलीकवचनैर्मुखम् ।
जीवघातादिभिः कायो, गङ्गा तस्य पराङ्मुखी ॥५७॥

चित्तं शमादिभिः शुद्धं, वचनं सत्यभाषणैः ।
ब्रह्मचर्यादिभिः कायः, शुद्धो गङ्गां विनाऽप्यसौ ॥५८॥

परदार–परद्रव्य–परद्रोहपराङ्मुखः ।
गङ्गाप्याह कदाऽऽगत्य, मामयं पावयिष्यति ॥५९॥

ततो भोः *कपिल!* देवार्चाय यतोऽवश्यमुत्तमैरिदं कर्त्तव्यं, तेन लोके प्रसिद्धिर्जाता यथा स्नानं धर्माय संभवेत्। परं हे *कपिल!* प्रभूतजलेनापि बाह्यमलमपि समग्रं शोधयितुं न शक्यते, तर्हि कर्ममलं कथं शोधयति? । ततो धर्मार्थिना शक्यं परिहार्यं, नाऽशक्यम् । यदुक्तं *श्रुतौ* –

देवयात्राविवाहेषु, संभ्रमे राजदर्शने ।
सङ्ग्रामे हट्टमार्गे च, स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥६०॥

शुचि भूमिगतं तोयं, शुचिर्नारी पतिव्रता ।
शुचिः क्षेमङ्करो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचिः ॥६१॥

इति लौकिकं मार्गं त्यक्त्वा अलौकिके त्वं विलग्य पापैर्लिप्तः। ततस्तीव्रप्रायश्चित्तात्त्वं निर्मलो भव" । इति वणिक्प्रोक्तं सम्यक् प्रपद्य स्वदेशगमनोत्सुकः *कपिल*स्तेन वणिजा सार्द्धं प्रययौ ।

केनचित् नौवणिजा ततः स्वस्थानं तौ प्रापितौ । स्वस्वसुहृदां मिलितौ च तौ । *कपिलः* पण्डितैः प्रोक्तं प्रायश्चित्तं प्रपद्य च सर्वदर्शनसामान्यशौचाचारपरोऽभवत्।

।। इति कपिलकथा ।।

हे राजन्! यथाऽसौ *कपिलः* अशुचिलवाद् भीतः अशुचि अभक्षयत्, तथा त्वमपि दुःखभयाद् मृत्वा दुःखौघं लप्स्यसे। दुःखं पापादुत्पद्यते, पापं च प्राणिघाततः । *परप्राणघातादपि स्वप्राणघातो विशिष्यते* । हे राजन्! धर्मतः पापं क्षीयते, दुःखं क्षणेन नश्यति, तेन त्वं निश्चिन्तीभूय जिनोदितं धर्मं कुरु । त्वं दिनमेकं प्रतीक्षस्व। ततो दृष्टप्रत्ययः ससुतां [1]तां संपूर्णाङ्गीं लप्स्यसे, चिरं भोगभाक् च भविष्यसि । ततो राज्यश्रियं त्यक्त्वा सभार्यः प्रव्रजिष्यसि" । एवं गुरुगिरा स्वस्थो नृपस्तत्र निशि स्थितः । रात्रिशेषे स्वप्नं ददर्श यथा- 'कल्पतरौ लग्ना लता संजातेषत्फला केनचित् छिन्ना, भुवि पातिता च । सा पुनः कल्पतरौ लग्ना फलिता जाता'। ईदृशं स्वप्नं दृष्ट्वा जागरितः । गुरुसमीपे गत्वा नत्वा च स्वप्नार्थं पृष्टवान् । गुरुणोक्तम्- "हे राजन्! या त्वया देवी वियोजिता सा कल्पलता छिन्ना । सा देवी सफला-ससुता तवाद्यैव मिलिष्यति"। तत् श्रुत्वा हृष्टो नृपः प्राह- 'हे सूरीन्द्र! मम युष्मत्प्रसादात्सर्वं शुभमेव भविता' । इत्युक्त्वा स्वोत्तारे गतः । *दत्तमाहूय* ह्रीनम्रो नृपोऽवक्- "हे मित्र! दुर्धिया मया महत्पापमकारि, निर्मलं कुलं लाञ्छितं । किञ्च, गुरोरमृतकिरा मान्यया गिरा आश्वासितः।

1. पुत्रसहितां कलावतीं राज्ञीम् ।

आशालुब्धोऽत्रैव दिनं वाहयितुं स्थितः, चेद् जीवन्तीं न पश्यामि तदा ध्रुवं म्रिये । तस्मात् त्वं तुरगारूढस्त्वरितं गत्वा तां कान्तां समानय" । 'आज्ञापयति देवो यत्' इति विज्ञप्य स निर्गतः । श्रुतानुसारतो गच्छन् दैवादेकं तापसमैक्षत । प्रणम्य तेनायं पृष्टः- 'भो मुने! त्वयान्येन वा आसन्नप्रसवा वराङ्गना प्रसूता वा क्वापि दृष्टा?' सोऽवक्- 'कस्त्वं कुतश्च समागतः?' । *दत्तेनोक्तम्*, 'अहं *शङ्खपुरादायातो* राज्ञा प्रेषितोऽस्मि' । इत्युक्ते पुनः सोऽवदत्- "अस्यां वराक्यां राजा किमद्यापि वैरं नोज्झति? । *लोकोक्तिरेषा- नैव कीटिकोपरि कटकम्* ।" *दत्तोऽवदत्*- 'नाऽधुना वेला बहूक्ते, उत्सुकोऽस्म्यहम् । नृपश्चेत्तां नेक्षते तदा चिताग्नौ शलभायते' । तत् श्रुत्वा तेन दयालुना *दत्तो* निजाश्रमे नीतः । *दत्तः* कुलपतिं नत्वा प्रोचे- 'हे विभो! राज्ञोऽभयं देहि'। तेनाहूता [कुलपतिना] साऽऽगता, *दत्तं* वीक्ष्य च भृशं रुरोद । यद् हृन्न्यस्तमपि दुःखं स्वजने दृष्टे कोटिधा भवेत् । तद् वीक्ष्य तेन रुदता मृदुस्वर- माश्वासिता- "हे स्वामिनि! खेदं मा कुरु, अयं कर्मपरिणामः, स्वकृतं स्वयमेव भुज्यते, परस्तु निमित्तमात्रमेव। यतः –

[1]सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलवियागं ।
अवराहेसु गुणेसु वि, निमित्तमित्तं परो होइ ॥६२॥

संसारे प्राणिनो यद् दुःखं सुखं वा मनोगोचरातीतं तत् शुभाशुभैः कर्मभिर्जायते । अस्मिन् संसारे पितृ-मातृ-पति-भ्रातृ- पुत्र-पुत्री-स्नुषादयः स्वजना दुष्कर्मोदये शत्रवो जायन्ते, ते एव

1. सर्वः पूर्वकृतानां, कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकम् ।
अपराधेषु गुणेष्वपि, निमित्तमात्रं परो भवति ॥१॥

च पुण्योदये सुखकारिणो जायन्ते; तस्मादापदि धैर्यं विधेयम् । हे देवि! यत्त्वया दारुणं दुःखमनुभूतं, साम्प्रतं भृशं राज्ञस्तव वियोगात्त्वरितमनन्तगुणं जातम् । स पश्चात्तापात् सम्प्रति [1]पावकान्तः प्रवेशमिच्छति, यदि ते जीवन्त्या मुखं न वीक्षते । ततो हे देवि! त्वं वेगेन रथमारोह" । इत्युदन्तं श्रुत्वा सोत्सुका अजनि, यस्मात् कुलाङ्गना अहितस्यापि पत्युर्हिता एव भवन्ति । ततः कुलपतिं नत्वाऽन्यांश्च तापसान् सम्भाष्य सुतान्विता रथमारुह्य चलिता । सन्ध्यासमये नृपाश्रिते वनेऽगात् । तां पूर्णाङ्गीं साक्षाद्वीक्ष्य सोत्कर्षहर्षवानपि लज्जानताननो राजा सम्मुखं विलोकितुं न शशाक । अथ हर्षसंवर्द्धकं वर्द्धापनं समागतं ध्वनयन्निःस्वाननिर्घोषपूर्वकं तदारात्रिकोत्सवोऽभूत्। मुदिताऽमात्यसामन्तसङ्गत आस्थाने क्षणं स्थित्वा प्रियापार्श्वे नृपो जगाम । तां न्यग्मुखीं! [2]मन्युमतीं च विलोक्य मन्दाक्षमन्थरं मुखं कराभ्यामुन्नमय्य रम्यवाचाऽवदन्नृपः- 'अहो! मे जीवातु मुखम्' । तया जल्पितम्- 'निर्भाग्याया वराक्या मे स्तुत्या किम्?' । ततो राज्ञा प्रोक्तम् - 'हे प्रिये! अहं निर्गुणोऽस्मि, कृतघ्नोऽहम्, अकृत्यकरोऽहं, येन मया सतीचूला[3] सुशीला गुणिनी भृशं खेदिता' । तत् श्रुत्वा [4]सतीमतल्लिका *कलावती* जगाद- "तव गुणिनो दोषो न, त्वय्येव रक्ताया न मे दोषः, किन्तु मम कर्मणामेव दोषः यतः -

[5]सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलवियागं ।

---

1. अग्नौ । 2. क्रोधवतीम् 3. सतीशेखरा । 4. सत्युत्कृष्टा ।
5. सर्वः पूर्वकृतानां, कर्मणां प्राप्नोति फलविपाकं ।
अपराधेषु गुणेषु च, निमित्तमात्रं परो भवति ।।

अवराहेसु गुणेसु य, निमित्तमित्तं परो होइ ॥६३॥

राजा दोषिणां प्रचण्डमपि दण्डं करोतु, परं मया पृच्छ्यते, हे स्वामिन्! अहं केनागसा[1] दण्डिता?" राजा प्राह- "यथा वटोदुम्बरयोः पुष्पं न हि, यथा वञ्जुले वृक्षे न फलं, तथा हे प्रिये! त्वयि दोषो नैव। हे देवि! त्वयि अज्ञानाद् यद्दुर्विकल्पितं तद्वक्तुं नैव शक्नोमि, तथापि कथ्यते"। इत्युक्त्वा राज्ञा सकलमपि कोपकारणं कथितम्। ततः *कलावत्याऽपि* निवेदितं वृत्तं श्रुत्वा प्रमुदितो नृपोऽब्रवीत्- "हे प्रिये! ममाऽऽचन्द्रमयशःपटहो ध्वनिष्यति, तव शुभ्रा शीलपताका लोके आचन्द्रं लहलहिष्यति। हे प्रिये! त्वदीयदुःखानुतापं स्मृत्वा यदहं जीवितोऽस्मि तद् गुरूक्तत्व-त्सङ्गमाशासञ्जिविन्याः प्रभावतः"। साऽऽह- 'पुत्रस्य पुण्येनावयोः दौःस्थ्यमपि सौस्थ्यमभूत्। येन च दयालुना गुरुणापि सद्बुद्धिर्दत्ता दर्शयैनं गुरुम्" ततो राज्ञा उक्तम्- 'प्रातः'। एवं स्नेहालापं कुर्वतोः तयोः [2]क्षणदाऽगात् क्षणात्। अथ प्रभाते द्वाभ्यां ताभ्यां समृद्धिभिः सूरिवरः परमभक्तिभरेण नमस्कृतः। सूरिः यथानुक्रमे-णोपविष्टासु पर्षत्सु शीलमाहात्म्यदर्शिनीं देशनामदात्-

शीलं प्राणभृतां कुलोदयकरं शीलं वपुर्भूषणं,
शीलं शौचकरं विपद्भयहरं दौर्गत्यदुःखापहम्।
शीलं दुर्भगतादिकन्ददहनं चिन्तामणिः प्रार्थिते,
व्याघ्रव्यालजलानलादिशमनं स्वर्गापवर्गप्रदम् ॥६४॥

"अथवा अद्भुतमस्य माहात्म्यं स्वयमेव दृष्टं, यत्तव

1. अपराधेन। 2. रात्रिः।

प्रियतमायाः पुनर्नवौ भुजौ जातौ । हे राजन्! चेत्सम्यक्त्वमहोनिशं प्रौढसखीयं लभ्यते तदाऽतिवरम् । तच्च भव्यजीवैरशुभकर्मणां क्षयेण लभ्यते । हे राजन्! दिव्यभोगाश्च लभ्यन्ते, सुरनरर्द्धयश्च लभ्यन्ते, विविधा विद्या लभ्यन्ते, परं सम्यक्त्वं खलु दुर्लभम् । सम्यक्त्वाख्ये महारत्ने हृदन्तरे दीप्यमाने विज्ञैर्देवगुरुधर्मतत्त्वानां त्रयी ज्ञायते । तत्र देवस्वरूपं चेदम् –

रागद्वेषकषायमोहमथनो निर्दग्धकर्मेन्धनो,
लोकालोकविकाशकेवलगुणो मुक्तायुधो निर्भयः
शापानुग्रहवर्जितो गदतृषाक्षुत्कामनिद्राजरा-
क्रीडाहासविलासशोकरहितो देवाधिदेवो जिनः ॥६५॥

न कोपो न लोभो न मानो न माया,
न लास्यं न हास्यं न गीतं न कान्ता ।
न वै यस्य भीतिर्न शत्रुर्न मित्रं,
तमेकं प्रपद्ये जिनं देवदेवम् ॥६६॥

अथ गुरुतत्त्वम्-सत्यभाषकः, सर्वप्राणिभ्योऽभयदः, गुणग्राही, शीलवान्, परिग्रहवर्जितः शत्रु-मित्रे लोष्टु-काञ्चने तृणे-स्त्रैणे, सुखे-दुःखे च समपरिणामो गुरुः कथ्यते । यतः –

भिक्षामात्रोपजीवी समतृणकनको रिक्तसावद्ययोगः,
षट्त्रिंशत्संख्यमुख्यप्रवरगुणगणालङ्कृतः सच्चरित्रः ।
ज्ञानाद्याचारसारः स्वपरसमयवित् सत्यधर्मोपदेष्टा,
सर्वज्ञोऽज्ञानवह्निर्जगति विजयते सद्गुरुः सत्यधाम ॥६७॥

अथ धर्मतत्त्वम्-स द्विधा, सर्वतो देशतश्च । तत्र सर्वतो जिनोक्तपञ्चमहाव्रतरात्रिभोजनविरमणलक्षणः पञ्चसमितित्रिगुप्ति-लक्षणः, तस्याराधकास्तु मुनयः । देशतो धर्मः सम्यक्त्वमूलद्वादश-व्रतरूपः, तस्याराधका गृहिणः । *सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः*, तस्य यत् श्रद्धानं तत्सम्यक्त्वं सर्वधर्मस्य मूलम् । यतः –

चिन्तामणिमरुद्धेनुकल्पवृक्षाधिकप्रभम् ।
आधारः सर्वधर्माणां, सम्यक्त्वमुदितं जिनैः ॥६८॥

इत्यादिधर्मदेशनां श्रुत्वा महादृढं मिथ्यात्वग्रन्थिं भित्त्वा मिथ्यात्वनिर्मुक्तो भूपो ज्ञाततत्त्वो गुरुमभ्यधात्- "हे विभो! त्वया तमोहरी सदोद्योता महोदयनिबन्धना रत्नत्रयीव विशदा रत्नत्रयी प्रोक्ता, विवेकिभिः सैव अङ्गीकरणीया । किन्तु हे भगवन्! अयम-पत्यस्नेहो निगडवद् मया दुस्त्याज्यः । ततो बालपालनसक्तस्य मे गेहिधर्मं देहि" । ततः करुणारससागरैर्गुरुभिस्तयोः सम्यक्त्वमूलः श्राद्धधर्मो ददे । नत्वा गुरुं मुदितौ तौ गजस्थौ पुरं प्रस्थितौ । अथ नृप आयाति पूर्णाङ्गी *कलावती* देवी समागच्छति चेति श्रुत्वा सकले नगरे नरनारीणां महानन्दोऽजनि । माङ्गल्यतूर्यनिर्घोषो घनो नभसि प्रसरन् महासतीनां माहात्म्यं व्यक्तमुद्घोषयतीव । प्रतिद्वारं तोरणानि बद्धानि, प्रतिहट्टं पताकिका ऊर्ध्वीकृताः, माङ्गल्यानि प्रतिस्थानं कर्त्तुं प्रारब्धानि, उत्सवः सर्वतोऽभवत् । अस्मिन्नवसरे नागर्यः-ईषन्मण्डितसद्गल्ला, ईषदञ्जितलोचनाः । ईषन्निबद्धधम्मिल्ला, ईषद्भुक्तवराशनाः, काचिदीषच्चर्विततताम्बूला,

काचिदीषत्परिहिताम्बरा, काचिदीषदविन्यस्तचिकुरा, काचिद् ईषत्क्लृप्तभूषणा, काऽपीषत्पायितसत्पुत्रा, कापि ईषद्भोजित-वल्लभा, एवं सर्वाः सतीसङ्गमोत्सुकाः मिलिता महिलाः । तदा तत्र काचित् किल कलावत्याः कुसुमाञ्जलिं कुर्वती एतस्या मनागप-यशोमलं क्षालयन्तीव । 'हे महासति कलावति! अस्माकमायुषा सार्धं त्वं जय, नन्द, चिरं जीव' इति काश्चित् स्त्रियः स्तुवन्ति च। नृपेण दान-प्रदान-दयादान-गुप्तिमोचनपूर्वकं वर्द्धापनं समादिष्टम्। नृपो मृत्योर्निवर्त्तितः, देवी पुनरक्षताङ्गी संजाता, पुत्रोत्पत्तिश्च, एवं हर्षोपरि हर्षाद् नगरे महामहोऽजनि । किञ्च -

उच्चैर्गेयं दाप्यद्देयं, नृत्यत्पात्रं जल्पच्छात्रम् ।
गर्जद्वाद्यं स्फूर्जत्खाद्यं, पद्यद्घट्टं माद्यद्भट्टम् ॥६९॥

आयल्लोकं नश्यच्छोकं, सत्ताम्बूलं संपन्मूलम् ।
उद्यद्धारं भोगैः सारं, तन्माङ्गल्यं जातं कल्यम् ॥७०॥

गीतैर्नृत्यैर्वादित्रैश्चर्चरीभिः रासकैश्च स्थाने स्थाने रमणीयं तत्पुरं सञ्जातम् । इति वर्धापने जाते व्यतीते द्वादशे दिने सुतस्य बन्धुसम्बन्धिसुहृद्भिर्नाम निर्ममे । गर्भस्थे सुते मात्रा पूर्णकलश-दर्शनात् तस्य '*पूर्णकलश*' इति सर्वसाक्षिकं नाम प्रदत्तम् । एवं सुखमये काले गच्छति सति सद्गुरुसङ्गतः शास्त्रश्रवणासक्ताभ्यां विषयाशया मुक्ताभ्यां सन्तोषामृततुष्टाभ्यां धर्मकर्मणा हृष्टाभ्यां ताभ्यां दम्पतीभ्यां यावज्जीवं सर्वतो ब्रह्मव्रतमङ्गीकृतम् । गुरुगीःसुधया सिक्तायां तन्मनोभुवि विवेकवरबीजभूः सम्यक्त्वतरुः प्रौढतरोऽजनि,

यः शमादिगुणशाखाढ्यः पूजासत्कारपल्लवः कुश्रुतिदुर्वातैरस्पृष्टः कुसुमोदयवान् बभूव । अथ *शङ्कराट्* पतितानि चैत्यान्युद्धरति स्म, नवीनानि च कारयामास । तेषु जिनबिम्बानि गुरुभिः प्रतिष्ठितानि स्थापयामास। तत्र महापूजां कारयामास । साधूनां नमन-स्तवन-वन्दना-ऽशन-पान-खादिम-स्वादिम-शय्या-शास्त्र-वस्त्र-पात्र-धर्मोपकरणानि सदा प्रतिलाभयामास । स दुःस्थ-साधर्मिकोद्धारकरः परान् श्राद्धान् करमुक्तान् चकार । नित्यं जिनमतस्य प्रत्यनीकान् निवारयामास । चिरकालं श्राद्धधर्मं पालयामास ।

अथ राज्यधुरन्धरं सुतं ज्ञात्वा धर्मजागरणं जाग्रत् स रात्रावेवं व्यचिन्तयत्- "अहो! असारः संसारसागरो दुस्तरः शारीरमानसाऽनेकदुःखलक्षजलाकुलः । अस्य रुद्धाश्रवः पारः गुणैः पूर्णं सच्चारित्रसंभृतं अर्हद्धर्मपोतं विना कथं लभ्यते? । नरभवं विना संपूर्णा धर्मसामग्री कदापि न भवेत् ? सोऽपि श्रुते चुल्ल्यादिदशदृष्टान्तैर्दुर्लभः कथितः । यतः –

❁चुल्लग[1] पासग[2] [3]धन्ने, जूय[4] [5]रयणे य सुमिण[6] [7]चक्के य।
चम्म[8] जुगे[9] परमाणू[10], दस दिट्ठंता मणुअलंभे ॥७१॥

तत्प्राप्तावपि धर्मश्रवणं दुर्लभम् । धर्मे श्रुतेऽपि तदाचारचरणे कुतश्चातुरी स्यात्? । यतः –

अदान्ताः कुपथाक्रान्ता, इन्द्रियाश्वा बलादपि ।
जीवाश्ववारमाकृष्य, पातयन्ति [1]भवाऽवटे ॥७२॥

❁ भोजनं पाशका धान्यानि, द्यूतं रत्नानि च स्वप्नश्चक्रं च ।
कच्छपो युगं परमाणवः, दश दृष्टान्ता मनुजलाभे । 1. संसारकूपे ।

मातृ-पितृसुताद्याः स्वजनाः पाशा इव दुस्त्यजाः । तारुण्यधनंधान्याशाः स्वप्ना इव विनश्वराः, दारा नरकाकाराः। राज्यं च दुर्गतौ सज्जम् । विषया विषतुल्याः । किञ्च, शिवसङ्गमः संयम एव । ततः सर्वसङ्गं त्यक्त्वा संयमश्रियमहं सेवे"। भूपेन इति ध्यात्वा *कलावती* राज्ञी पृष्टा । ततः सापि दक्षाऽवदत्- "हे महाराज! भोगाश्चिरं भुक्ताः, राज्यं कृतं, धुरन्धरः सुतोऽपि जातः। ततः सम्प्रत्यावयोर्ज्ञाततत्त्वयोश्चारित्रग्रहणमेव श्रेष्ठम् । इदं जन्म निःसारं ज्ञात्वा सारं संयमं ह्यङ्गीकृत्य निरतिचारं व्रतमावाभ्यां कर्त्तुं युक्तम्" । इति प्रणयिनीप्रतिपादितं निशम्य महोत्साहो महीपतिर्मन्त्रिवर्गमापृच्छ्य च साडम्बरं *पूर्णकलशं* कुमारं किल राज्येऽभिषिक्तवान् । यतः –

प्रासादेषु महोत्सवा विरचिता मारी तथा वारिता,
दुःस्थानां कुलमुद्धृतं यतिवराः साधर्मिकाः पूजिताः॥७३॥

मुक्ता बन्दिजनाश्च गुप्तिगृहतः संतोषिता याचका,
एवं ह्यष्ट दिनानि तेन सकलो लोकः श्रिया सत्कृतः ॥७४॥

तस्मिन्नवसरे उद्यानपालकेन भूपतिर्विज्ञप्तः- 'हे स्वामिन्! उद्याने बहुमुनिपरिवृतः *श्रीअमिततेजाः* सद्गुरुः समागमत्'। तत् श्रुत्वा प्रमोदभरप्रफुल्लितवदनो नरपतिस्तस्मै वर्द्धापनिकां दत्त्वा सर्वर्द्ध्या परिवारयुक् सभार्यः चारित्रग्रहणेच्छुः सूरिपार्श्वे गतः। पञ्चाभिगमपूर्वकं नत्वा धर्मदेशनां शुश्राव । ततोऽवसरं प्राप्य राज्ञा सूरिर्विज्ञप्तः- 'हे भगवन्! *कलावत्या* देव्या पूर्वभवे किं

दुष्कृतं कृतम्? येन मयाऽस्या निरागसो[1] भुजौ छेदितौ?' । ततो ज्ञानगुरुणा गुरुणा प्रोक्तम्- "महाराज! अस्याः पूर्वभवं शृणु -

।। शङ्खकलावत्योः पूर्वभवः ।।

महाविदेहे क्षेत्रे *महेन्द्रपुरं* नाम पत्तनम् । तत्र [2]त्रासितारातिः त्रिविक्रम[3]तुल्यपराक्रमो *नरविक्रमो* नाम नरपतिः प्राज्यं राज्यं चकार । तस्य पट्टराज्ञी सच्छीललीलावती *लीलावती* नाम्नाऽऽसीत्। तयोः पुत्री *सुलोचना*, सा क्रमेण मन्मथकेलिवनं यौवनं प्राप्तवती। यथा –

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाऽधरलता दन्ता मणिश्रेणयः
कान्तिः श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते पारिजातादयः ।
वाणी कामदुधा कटाक्षविशिखास्ते[4] कालकूटं विषं,
तत्किं चन्द्रमुखि! त्वदर्थममरैरामन्थि दुग्धोदधिः।।७५।।

स्वाभावतो बहुकुतूहलकेलिलीलाः,
सद्धर्मकर्मनिरताः सुरताः सुशीलाः।
प्रोद्यन्मदातिविशदाऽन्यकृतावहेलाः,
प्रायो भवन्ति सकलेषु कुलेषु बालाः ।।७६।।

तस्या अन्यदा नृपोत्सङ्गे स्थितवत्याः केनापि सुन्दराकारो विचित्रभाषाभाषणैकचतुरः शुको [5]भेटनिकः कृतः । कुतूहल-रसाक्षिप्तेन राज्ञा स हस्ते संस्थाप्य पाठितः । सोऽपि दक्षिणं

1. निरपराधायाः । 2. त्रासिताः-कम्पिताः अरातयः-शत्रवो येन सः ।
3. विष्णुसमशौर्यः । 4. कटाक्षबाणाः । 5. उपहारः ।

चरणमुत्पाट्य ईषत् पपाठ । यथा –

त्वद्वारिताऽरितरुणीश्वसितानिलेन,
संमूर्च्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीश! ।
अन्तर्लुठद्गिरिपरस्परशृङ्गपाता-
घातारवैर्मुररिपोरपयाति[1] निद्रा ॥७७॥

इति श्रुत्वा रञ्जितो नृपतिः शुकानेतृकस्य नरस्य बहुतरं द्रव्यं शरीरलग्नान्याभरणानि च ददौ । पश्चाद् नन्दिन्याः[2] कीरं ददौ । सापि हृष्टा सती स्वकीयावासे गत्वा स्वर्णपञ्जरे शुकं संस्थाप्य दाडिमफलबीजानि द्राक्षा-चारोलिकाऽञ्जीरसहकार-फलानि च खादयामास । शर्करामिश्रितानि पानीयानि पाययामास। सा राजपुत्री कदाचित् तं शुकमङ्के स्थापयति। कदापि सूक्तानि तं पाठयति ।

निजासने सा शयनेऽपि पाने, स्वभोजने [3]भूधरराजसंसदि ।
कीरं निजात्मेव मुमोच नैव, साऽन्यत्र कुत्रापि सुकेलिलालसा॥७८॥

अथाऽन्यदा सा राजपुत्री सखीभिः परिवृता नगरसमीपस्थे कुसुमाकराभिधाने कानने पञ्जरस्थेन कीरेण सह जगाम । तस्मिन्नुद्याने नरकादिपातवारणं, सिद्धिवधूसङ्गमकारणं, लोचनानां सुधारसपारणं, पुण्यसाधारणं श्रीजिनालयं ददर्श । अथाऽमन्दानन्दा सुलोचना जिनप्रासादमध्ये प्रविश्य *श्रीसीमन्धरं जिनं* दृष्ट्वा हर्षभरनिर्भरा तुष्टाव । यथा -

1. कृष्णस्य । 2. पुत्र्याः । 3. नृपराजसभायाम् ।

जगज्जन्तुनिस्तारणे यानपात्रं, शमारामविश्रामसंलीनचित्तम् ।
नताऽनेकनाकेन्द्रपादारविन्दं, स्तुवे स्वामिसीमन्धरं देवदेवम् ॥७९॥

शुकोऽपि श्रीजिनबिम्बं समालोक्य चेतसि चिन्तयामास-

[1]अहो मे सुलहो जम्मो, कयन्नो अज्ज सो जाओ ।
अहो मे जग्गिओ पुन्नो, जं दिट्ठो जिणनायगो ॥८०॥

'एतद्रूपं मया क्वचिद् दृष्टम्' इत्यूहापोहं कुर्वन्तस्तस्य जातिस्मरणज्ञानं समुत्पन्नम् । यथा- "अहं पूर्वभवे साधुरभवम्। अनेकशास्त्रपठनपाठनसावधानः पुस्तकोपधिसंग्रहणतत्परोऽभवं, परं संयमक्रियायां शिथिलादरो भूत्वा विराधितव्रतो मायां कृत्वा कीरत्वेन समुत्पन्नः । ममाऽन्यभवाभ्यासात् शुकभवेऽपि ज्ञानं जातं, परं धिग् मां यद् ज्ञानदीपे हस्तस्थितेऽपि अज्ञानान्धकारान्धितः चारित्रचरणात् स्खलन् भवावटेऽपतम् । परमद्य त्रिजगत्स्वामी तिर्यग्भवेऽपि दृष्टः, तन्मे महत्पुण्यम्, अतो जिनदर्शनं विना चूर्णिं[2] न ग्रहीष्यामि" । इति स्वचेतसि निश्चयं चकार । अस्मिन्नवसरे *सुलोचनाऽपि* जिनं नत्वा, शुकविभूषितं पञ्जरं करे कृत्वा निजावासं जगाम । द्वितीयेऽह्नि नृपपुत्री पञ्जरात् शुकं निष्काश्य यावद् भोक्तुमुपाविशत्, तावता शुको 'नमो अरिहंताणं' इति भणन् [3]विहायस्युड्डीय श्रीजिनेश्वरं नन्तुं बाह्योद्याने जगाम । जिनं परमभक्त्या नत्वा फलाहारं कुर्वन् स्वेच्छयोद्याने विजहार। इतश्च सा *सुलोचना* तस्य वियोगेन दुःखिता सती भृशं चक्रन्द ।

---

1. अहो! मे सुलभं जन्म, कृतज्ञमद्य तज्जातम् ।
अहो! मे जागरितं पुण्यं, यद् दृष्टो जिननायकः ॥

2. भोजनम् **3.** आकाशे ।

[1]वसिऊण मज्झ हियए, जीवं घित्तूण कत्थ वच्चहसि ।
सुहवासं होऊणं, सुंदर पुणो किं न दीसहसि ॥८१॥

ततस्तमनु राज्ञः सुभटैर्धीमद्भिः कुसुमाकरोद्याने छन्नं चरद्भिः पाशजालेन बद्धः स राजसुतासमीपे समानीतः । साऽपि तं गृहीत्वा अव्यक्तस्वरमब्रवीत् क्रोधारुणितलोचना- 'रे धूर्त! मां वञ्चयित्वा स्वैरमुड्डीय वने जग्मिवान् तत् स्मर, अतः परं त्वां बहिर्गन्तुं न दास्ये' । इति भणित्वा तस्य गतिभङ्गाय पक्षौ लुलाव। तदनन्तरं सा कुमारी सद्यः कारागारे इव पञ्जरे चिक्षेप। कीरोऽपि स्वचेतसि चिन्तितवान्- "धिग् मम पराधीनताम् । यतः –

हठान्नीचतरं कार्यं, कार्यते मार्यतेऽपि च ।
नरकायासदेशीयां, तत्प्राहुः पारवश्यताम् ॥८२॥

तदा मुनित्वे वर्तमानः पूर्वभवे स्वाधीनोऽपि सत्क्रियानुष्ठानं प्रमादात् न कृतवान्, तस्य चैतत्फलम् । अथवैतद् दुःखं कियत्? भवान्तरेऽनेकधा सहिष्ये विडम्बनाम् । अस्मिन् भवेऽपि श्रीवीतराग-मुखाम्बुजमपि वीक्षितुं न लप्स्ये" । इति चिन्तातुरः प्राप्तमहद्दुःखभारः शुकः पुनरपि चिन्तयामास- 'हे आत्मन्! शुचं मुञ्च, शोकेन घनः कर्मबन्धो जायते। जिनदर्शनं विना भोक्तुं मे न कल्पते, ततोऽनशनं करोमि' । इति ध्यात्वाऽनशनं चकार । पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारं स्मरन् पञ्चभिर्दिनैर्मृत्वा सौधर्मदेवलोके महान् देवोऽभूत् । *सुलोचनापि* तस्य दुःखेनाऽनशनं गृहीत्वा समाधिना मृत्वा तस्यैव देवस्य देवाङ्गना जाता। तत्र वैषयिकं सुखमनुभूय क्रमाद् देवलोकात्

1. उषित्वा मम हृदये, जीवं गृहीत्वा कुत्र व्रजिष्यसि ।
सुखवासो भूत्वा, सुन्दर! पुनः किं न द्रक्ष्यसि?" ॥

च्युत्वा त्वं *शङ्खराजो*ऽभवः । *सुलोचना*जीवोऽपि देवलोकात् च्युत्वाऽसौ *कलावती*नाम्नी त्वदग्रमहिषी जाता ।

ततो हे राजन्! परमार्थतः स्वकृतशुभाशुभकर्मणां फलमुपभुज्यते देहिभिः । न कोऽपि कस्यचित् सुखदुःखानां कर्त्ताऽस्ति। यत् प्राग्भवेऽनया तव पक्षौ छिन्नौ, तद्वैरेण त्वया अस्या भुजौ छेदितौ। यदुक्तम् –

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥८३॥

[1]वहमारणब्भक्खाण–दाणपरधणविलोवणाईणं ।
सव्वजहन्नो उदओ, दसगुणिओ इक्कसि कयाणं ॥८४॥

॥ इति शङ्खकलावत्योः पूर्वभवः ॥

इति गुरुमुखात् पूर्वभवस्वरूपं श्रुत्वा संसाराऽसारतां विज्ञाय वैराग्यवासितान्तःकरणाभ्यां ताभ्यां दम्पतीभ्यां हस्तकमलं संयोज्य सूरिर्विज्ञप्तः– 'हे प्रभो! [2]नौ संसाराम्बुधौ सत्फलकां सितपटाऽन्वितां दीक्षातरीं देहि' । तत् श्रुत्वा सूरिः प्राह– "भोः! तत्त्वज्ञानां भवादृशामिदं कर्तुं युक्तमेव । प्रदीप्यमाने धाम्नि दह्यमानं स्वं को न समुद्धरेत्? । हे राजन्! शूराणां मध्ये त्वमेव शूरः, त्यागिनां पुनस्त्वमेव त्यागी, यदत्र साहसी भूत्वा प्रव्रजिष्यसि" । मुनीन्द्रेण इत्युपबृंह्य प्रियान्वितः *शङ्खभूपतिर्दीक्षितः* । ग्रहणासेवनाशिक्षाशिक्षितः *शङ्खराजर्षि*रपि श्रुताभ्यासं कुर्वन्, गुरुभिः समं भुवि विहरन्,

1. वध–मारणा–ऽभ्याख्यानदान–परधनविलोपनादीनाम् ।
सर्वजघन्य उदयो, दशगुणित एकशः कृतानाम् ॥ 2. आवाभ्याम् ।

शमामृतकुण्डे निमग्नः, परीषहोपसर्गैरनुद्विग्नो राजराजाद् देवराजादप्यात्मानमधिकं मन्यते स्म । यतः -

[1]तणसंथारनिसन्नो, मुणिवरो रागरोसमयभट्ठो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कुतो तं चक्कवट्टिस्स ॥८५॥

कालोचितगीतार्थो हि, कालोचितसुसंयमः ।
कालोचिततपस्वी च, कालोचितविहारवान् ॥८६॥

स्वसामर्थ्यमगूहयन् चारित्राराधनतत्परो यतनया युतो गच्छति, यतनया तिष्ठति, यतनया भाषते, यतनयोपविशति, यतनया स्वपिति, यतनया भुङ्क्ते, यतनया भाण्डोपकरणानि गृह्णाति मुञ्चति च । यदुक्तं चागमे –

[2]जयणा य धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तववुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥८७॥

ततः *शङ्खराजर्षिः* बहुकालं शुद्धचारित्रं प्रपाल्य, द्रव्यभाव-विशुद्धां संलेखनां च कृत्वाऽनशनं विधाय, समाधिना कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे पद्मविमाने पञ्चपल्योपमायुर्देवत्वेन समुत्पन्नः। *कलावती* संयमिन्यपि तथैव स्वतनुं त्यक्त्वा तस्यैव देवस्य देवीत्वेन समुत्पन्ना। तस्मिन् विमाने तद्देवमिथुनं रत्न-कान्तिरुचिरे धाम्नि देवसुख-मनुभवत्, सुरीकृतगीतनृत्यं विलोकयद्, जिनप्रासादे पूजां कुर्वत्, शुद्धं सम्यक्त्वं पालयत्, पञ्चपल्यं देवसुखमभुङ्क्तम् । ततो भो

1. तृणसंस्तारनिषण्णो, मुनिवरो रागरोषमदभ्रष्टः ।
यत् प्राप्नोति मुक्तिसुखं, कुतस्तत् चक्रवर्तिनः । ॥

2. यतना च धर्मजननी, यतना धर्मस्य पालनी चैव ।
तपोवृद्धिकरी यतना, एकान्तशुभावहा यतना ॥

भव्याः! चारित्राराधने यतितव्यम्, परं 'दुःषमाकाले सम्यक्त्वचारित्रं नास्ति' इति ये वदन्ति, तेषां वाक्यं न श्रोतव्यम् । ये दुःषमाकाले चारित्रं निषेधयन्ति ते तीर्थमपि निषेधयन्ति, तस्मात्तेऽद्रष्टव्यमुखा इति ज्ञातव्यम् । यतः –

[1]अन्नाणदोसा पुण जे भणंति, न दुस्समाए चरणं खु अत्थि।
निसामिअव्वं वयणं न तेसिं, पावाय तेसिं खलु दंसणंपि॥८८॥

[2]आरंभिणो कामगुणेसु गिद्धा, चारित्तभारुव्वहणाऽसमत्था ।
पेच्छन्ति साहूण असंतदोसे, गुणे न संते वि महातमंधा॥८९॥

सावद्यमुक्ताः किल शीलरक्ता-श्चारित्रिणो ये बहुलब्धियुक्ताः ।
शङ्खर्षिवत् शुद्धतराः स्युरत्रो-त्सर्गाऽपवादानपि सेवमानाः॥९०॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
रूपविजयगणिना विरचिते श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे
प्रथमभवप्रथमव्रतधरशङ्खकलावतीकथाकलिते प्रथमः सर्गः ।

1. अज्ञानदोषात् पुनर्ये भणन्ति, न दुष्षमायां चरणं खल्वस्ति ।
निशामयितव्यं वचनं न तेषां, पापाय तेषां खलु दर्शनमपि ॥

2. आरम्भिणः कामगुणेषु गृद्धाः, चारित्रभारोद्वहनाऽसमर्थाः ।
पश्यन्ति साधूनाम् असद्दोषान्, गुणान् न सतोऽपि महातमोऽन्धाः ॥

द्वितीयः सर्गः

शत्रुञ्जयनृपः	कमलसेनजनकः चम्पानरेशः
मतिवर्धनमन्त्री	केतुनृपमन्त्री
वैजयन्ती	केतुनृपपत्नी
विनयन्धरः	व्यवहारिपुत्रः
वसन्तसेना राज्ञी	शत्रुञ्जय-पत्नी
कमलसेनः	शत्रुञ्जयपुत्रः, पृथ्वीचन्द्र-जीवः
केतुनृपः	अङ्गनरेशः गुणसेना-पिता
गुणसेना	केतुनृप-पुत्री, गुणसागर-जीवः
श्रीषेणः	कमलसेन-पुत्रः

श्री-सूरसेन सूरिणा केतुनृपाय कथितः
विनयन्धरस्य एवं तस्य दाराणां
रतिसुन्दरी-बुद्धिसुन्दरी-ऋद्धिसुन्दरी-गुणसुन्दरीणां
पूर्वभवतृत्तान्तः पृ. ६३-६३

द्वितीयः सर्गः

[तृतीय-चतुर्थौ भवौ]

लक्ष्मीकीर्तिधृतिबुद्धिऋद्धिसिद्धिविधायकम् ।
नत्वा शङ्खेश्वरं पार्श्वनाथमग्रे कथां ब्रुवे ॥१॥

अथ शङ्खराट् सुरः चिरकालं देवभोगान् भुक्त्वा ततश्च्युत्वा तल्लेश्याशेषसंयुक्तो यथोत्पन्नस्तथा शृणु-जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे दक्षिणे भरतार्द्धे मध्यखण्डस्य मण्डनं *मणिपिङ्गलनामा* देशोऽभूत्। यत्राऽभिरामा ग्रामा विपुलश्रिया [1]पुरायन्ते । तथा यत्र प्रवराणि पुराण्यपि [2]देशायन्ते । तत्र पोतवत्[3] प्रशस्तवस्तुयुक्, [4]पोतवद् बहुलालापं, [5]पोतवद्वर्णपूर्णं च *पोतनपुरं* नगरमभूत् । तस्मिन् पुरे *शत्रुञ्जयो* नाम राजा रेजे । यः सर्वस्वदोऽपि परनारीणां वक्षो रिपूणां च पृष्ठं नाऽऽर्पयत् । तस्य राज्ञो लावण्यशालिनी शुद्ध-शीलपालिनी कलाकौशल्यमालिनी *वसन्तसेनानाम्नी* राज्ञी अभूत्। तयोः शक्र-शच्योरिव, शिव-गौर्योरिव च भोगान् भुञ्जानयोः स्नेहनिमग्नयोः समयोऽगमत् ।

अथ *शङ्खसुरो* हंसवद् विवेकी शुक्लपक्षवान् गुणैः पूर्णस्तस्याः कुक्षिसरोवरेऽवतीर्णः । ततः सा पूर्णेन्दुवदना शय्यायां सुखसुप्ता सर्वतः कमलैः पूर्णं कमलाकरमैक्षत । प्रातस्तूर्य-घोषेणोत्थितया हृष्टया तया पत्युरुक्तम् । नृपेणापि प्रतिपादितम्।

1. नगराणीव शोभन्ते । 2. देशवद् विशालानि शोभन्ते । 3. बोहित्थवत्, यानपात्रवत् । 4. बालवत् । 5. वस्त्रवत्।

'हे प्रिये! तव पुत्रो भविष्यति' । तत् श्रुत्वा राज्ञ्या प्रतिपादितम् । 'हे देव! आवयोर्देव-गुर्वोः प्रसादतः सत्यं भवदुक्तं भविष्यति' । इति राज्ञो वचनं संमान्य सा स्वगर्भमपालयत् । तस्या "देवगुर्वादि-पूजां करोमि, दुःस्थजनानुद्धरामि, याचकान् सन्तोषयामि, साधर्मि-कवात्सल्यं करोमि, अमारीं प्रवर्त्तयामि" इत्यादयो दोहदा जाताः। ते सर्वे राज्ञा पूरिताः । क्रमेण सा द्युतिद्योतितदिक्चक्रं, ध्वस्त-ध्वान्तभरं, सुन्दराकारं, प्राची सहस्रांशुमिव समये सुतं प्रासूत । तस्मिन्नवसरे *सुमुखया* दास्या सुतोत्पत्त्या नृपो वर्धापितः । सोऽपि सारशृङ्गारादिकं पारितोषिकं तस्यै चापर्यत् । प्रातः राज्ञा पुत्रजन्मोत्सवः प्रारब्धः । तद्यथा –

गीतनृत्याद्भुतं विस्फुरत्तोरणं, वर्यतूर्यादिवाद्यैर्नभःपूरणम् ।
दत्तसद्दानमानोरुवर्द्धापनं, तेन तेने जनानन्दवर्धापनम् ॥२॥

एवं मासे व्यतीते ततो राज्ञा कुटुम्बकं भोजयित्वा स्वप्नानु-सारेण सूनोः '*कमलसेन*' इति नाम ददे । अथाऽसौ कुमारो द्वितीयचन्द्रवद् नृपवंशव्योम विभूषयन् प्रत्यहं वर्द्धमानः सकलाः कलाः पुपोष । पावने यौवने जातेऽपि नैष हृष्यति, न च तुष्यति, परं न च निन्दति, न च केनापि सार्द्धं विवादं कुरुते, न विरोधं, न च क्रोधं, न च मानं, न मत्सरम् । निर्विकारः स विवाहवार्त्तां विषयवार्त्तां च न करोति । प्राग्जन्मसुकृताभ्यासात् शान्तो दान्तो दयारतः अधोदृक् सत्यवाक् प्रायो मुनिवद् मौनवान् ।

परोपकारनिरतो दक्षो दाक्षिण्यसुन्दरः ।
उदारः स्फारशौण्डीरो, गम्भीरो गुणवानभूत् ॥३॥

अस्मिन्नवसरे पिकगायकैर्गीतः, मधुलिड्बन्दिभिः स्तुतः, किंशुकच्छत्रः, कुन्दचामरो वसन्त ऋतुराडागमत् । यस्मिन् वसन्ते-

नष्टो मानमहाभटः प्रति पतिं सन्मानिनीनां क्षणा-
दाबद्धाञ्जलयो नतिं विदधते प्राणप्रियाणां प्रियाः ।
हेलाकेलिगताः स्त्रियः प्रियतमान् गायन्ति गर्वोज्झिताः,
प्रायश्चर्चरीरासलासलसितं जातं महीमण्डलम् ॥४॥

ईदृशे वसन्तर्तौ भृशमर्थितः सन् कुमारः क्रीडाविलोकनाय नन्दनवनमगात् । तत्र क्रीडाव्यग्रे मित्रवर्गेऽन्यत्र गते स एककः '*अहो विश्वमनाथम्*' इति कस्यचिद् वचनमश्रौषीत् । चिन्तितं चाऽनेन– 'ताते जयति कथमनाथत्वम्?' । इत्येवममर्षवान् दूरे गतः । किञ्चिदप्रेक्ष्य निवृत्तः । पुनरप्यश्रौषीत् । भूयो विलोकनार्थं गतो, न च किञ्चिद् दृष्टं निवृत्तश्च । पुनरपि श्रुत्वा त्वरितं धावितो नातिदूरे देवकुलं प्रविशतीमेकां स्त्रियमपश्यत् । 'शब्दोऽस्याः संभवेत्, तस्मात् पृच्छाम्येनामेव' इति चिन्तयन् यावदेष देवकुलं प्रविशति तावत् तदुत्पतितं, क्षणाद् दूरप्रदेशे गत्वा प्रासादरूपेण स्थितम् । यावद् विस्मितः किमपि चिन्तयति, तावद् गृहमध्यादेका प्रौढा स्त्री हृष्टचित्ता प्रोवाच– 'हे स्वामिन्! ते स्वागतमस्ति, अस्मिन्नासने समुपविश्यताम्' । इति श्रुत्वा कुमारेणोक्तम्– 'हे सुभ्रु! का त्वम्? इदं च इन्द्रजालं किम्? । यत्त्वया निर्नाथं भुवनमुक्तं तत्किम्? सत्वरमुत्तरं मे देहि' । तत् श्रुत्वा साऽवक्– "यस्य नाथो नास्ति तज्जगद् निर्नाथं मतम् । यदेतदिन्द्रजालं च, तत्तु हे नाथ । तव कृते कृतम् । 'का त्वम्?' हे बुद्धिमन्!

एतादृशं वक्तुं तव न युज्यते । यतः –

[1]सरियाणं नरिंदाणं, रिसीण कमलाण कामिणीणं च ।
पुच्छंति उग्गमं जे, कुसलत्तं केरिसं तेसिं? ॥५॥

सर्वा अपि स्त्रियः पवित्रा एव भवन्ति । यतः –

[2]बृहद्भानुर्नदी नारी, राजमार्गश्च काञ्चनम् ।
पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वदापि युधिष्ठिर! ॥६॥

तथापि तव कथ्यते-अङ्गश्रीसंज्ञाऽहं प्रौढनायिका बहुभिरुत्तमैर्भुक्ता, परं साम्प्रतं निर्नाथाऽस्मि । त्वं दयालुः सदाक्षिण्य उपकारपुरन्दरः, तेन हे स्वामिन्! ममाऽनाथाया अधुना त्वं नाथो भव" । '*उत्तमैरन्यस्त्री न भोक्तव्या*' इति वचनं स्मरन् कुमार उवाच– " नाहं परयोषितं भुञ्जे, यतो न्यायाध्वगामिभिः पुरुषैः परस्त्री त्याज्या, या दृष्टापि आलिङ्गितापि प्राणान् निकृन्तति, अयशश्च कुरुते । ततो विवेकिभिः परदाराः परिहरणीयाः यतः–

[3]मइलइ विमलंपि कुलं, हीलिज्जइ पागएण वि जणेण ।
पडइ दुरंते नरए, पुरिसो परनारीसंगेण ॥७॥

[4]उच्छिट्ठं पिय परनारिं, परिहरंति सप्पुरिसा ।
सेयंति सारमेयव्व, निंदिया जे दुरायारा ॥८॥

1. सरितां नरेन्द्राणाम्, ऋषीणां कमलानां कामिनीनां च ।
पृच्छन्ति उद्गमं ये, कुशलत्वं कीदृशं तेषाम्? ॥ 2. अग्निः ।
3. मलिनयति विमलमपि कुलं, हेल्यते प्राकृतेनाऽपि जनेन ।
पतति दुरन्ते नरके, पुरुषः परनारीसङ्गेन ॥
4. उच्छिष्टमिव परनारीं, परिहरन्ति सत्पुरुषाः ।
सेवन्ते सारमेया इव, निन्दिता ये दुराचाराः ॥

निर्नाथानां दुःस्थानां च पालनात् तथा पोषणाद् नाथोऽहं, न तु परस्त्रीसङ्गमेन" । 'नाथ! त्वं चेत् परस्त्रीसङ्गकृन्न हि, तथापि मच्चित्तं हरसि' इति वदन्तीं 'परस्त्रीकथया मे किम्?' इति विचिन्त्य [1]तामवधीर्य कुमारो गृहान्निर्ययौ । तावत्केनाप्युक्तम्- 'प्रविश्य शून्यगेहे सारमेयवत् किं निर्गतः? चेत्त्वं सुभटत्वं बिभर्षि तदा मम पुरस्तिष्ठ' । इति श्रुत्वा कुमारोऽवक्- 'स्वच्छन्दचारित्वं [2]हरेः वारयसीह किम्?' । तद्वचनं श्रुत्वा तेन नरेणोक्तम्-'सत्यं हरिः यदि मे प्रहारं सहसे' । इत्युदिते आत्तखड्गेन कुमारेण ततः स्ववामाङ्गं धृतम् । ततस्तेन नरेण वामाङ्गं धृत्वा कुमाराय प्रोक्तम्- 'प्रथमं त्वं मां प्रहर' । कुमारेणोक्तम्-'अघ्नन्तमहं न हन्मि' । तत् श्रुत्वा संतुष्टोऽवदन्नरः-'हे कुमार! सत्त्वशाली त्वमेव, अतोऽ*ङ्गश्रियं* भोक्ष्यसे । राजदुःखं स्त्रीरूपनिरूपणादि चेन्द्रजालं त्वत्परीक्षाकृते सर्वं मया कृतं, तत्सर्वं क्षमस्व। चम्पाधिष्ठातृदेवोऽहम्'। इत्युक्त्वा स तिरोऽभवत् । कुमारोऽपि अङ्गश्रीपदप्राप्तिं ज्ञात्वा हृदि मुमुदे । ततोऽग्रे गच्छन् शकुनैः प्रेरितः स्वच्छगम्भीरसन्नीरं तीरशोभिवनद्रुमं कमलावलिसंकीर्णं पक्षिलक्षोपलक्षितमेकं सरोवरं प्राप्तः । तस्मिन् सरोवरे खेदापनोदाय विनोदाय च स्नात्वा यावद् बहिर्निर्गतस्तावता गृहीताश्वेन केनचिद् विज्ञापितः-'हे स्वामिन्! तुरङ्गमारोह' । इति निशम्य कुमारोऽवक्- 'त्वं कोऽसि? किंनिमित्तं कुत्र च मां नेतुमिच्छसि?' । तेनोक्तम्-'चम्पेशो *गुणसेन*राट् आसन्ने नन्दने वने रन्तुं समागतोऽस्ति, तस्याहं भृत्योऽस्मि, तदन्तिके च गन्तव्यम्।

1. तिरस्कृत्य । 2. सिंहस्य ।

तत्र श्रीमद्भिर्भवद्भि र्गतैः कार्यं तु स्वयं ज्ञास्यते' । गुणानुरागी कुमारस्तस्योदितं श्रुत्वा वाजिस्थितोऽगमत् । तत्राऽशोकाधःस्थितेन नागलतालिङ्गितवर्ष्मणा[1], सकुण्डलयुग्गल्लेन भालोद्यत्स्वेदबिन्दुना मन्त्र्यास्यन्यस्तनेत्रेण राज्ञा साश्चर्यं नमन् कुमारो दृक्सञ्ज्ञया वारयित्वा स्खलद्भिरालापितः । यथा– 'सज्जन! पृच्छामि, कुत आगतोऽसि? किं किमेकः?। भो! भद्रं ते, सुस्वागतं तव । (कुमारेण चिन्तितम्) किं वाग्जडः?' । 'शुभाङ्गोऽपि किमर्थमेष नतिं वारयति?' इति तद्रूपाक्षिप्तः कुमारो हृदि यावत् चिन्तयति, तावन्मतिवर्द्धनमन्त्री भूपं प्राह– 'हे देव! चिरं श्रान्ता यूयं, राजपुत्रोऽप्यभ्यागतः, तेन पुर्यां प्रविश्यते, देवस्येष्टं च सेत्स्यति' । 'एवं भवतु' इत्युक्त्वा वाजिनं चारुह्य, अर्द्धावलोकनैः राजा तं पश्यन् पुर्यां चचाल । मन्त्रिणा कुमारो नत्वा रथे चारोप्य भाषितः– 'हे उत्तम ! विदेशमहमागतोऽस्मीति मनःखेद उत्तमैर्न कार्यः, यतः सूरो दूरोऽपि विश्वस्य तमः क्षणात् शमयति' । कुमारोऽवक्–'यत्र जनो गम्भीरो गुणरागवान् सरलः सत्यवाक् सौम्यश्च, स देशो बुधैः स्वदेशो मतः' । इत्यादिसूक्तिभिः कुमारस्तस्य मनो रञ्जयन् स्वःपुरीवत् सुपर्वाढ्यां *चम्पापुरीं* समाविशत् । ततो मन्त्रिणा गुरुगौरवपूर्वकं स्वगृहे नीतो भोजितश्च । तदनन्तरं शय्यासुप्तो रहो मन्त्रिणाऽभाषि––"हे विभो! अस्मादृशां चित्तं चिरं चिन्ताग्निना तप्तं वारिधरेणेव त्वया दर्शनाम्बुना आश्वासितम् । [2]सुमनःशालिनां सज्जनानां शाखिनामिव सृष्टिकृता परोपकाराय [3]सृष्टिर्निष्पादिता। ततो हे कुमार! त्वम*ङ्गदेशस्य* राज्यं लात्वा अस्मत्प्रभोः पूरयेप्सितम्" ।

1. वर्ष्मणा–देहेन । 2. सच्चित्तशालिनां पुष्पशालिनां च । 3. उत्पत्तिः ।

हसन्नवक् कुमारः– 'भो मन्त्रिन्! सति भूपे नवः किमर्थ्यते? युष्मत्प्रभोः केच्छा? । मे मनसि कौतुकं वर्त्तते, तस्माद् यथातथ्यं कथ्यताम्' । 'यदाज्ञापयति स्वामी' इत्युक्त्वा मन्त्र्यभाषत–

।। श्रीकेतुनृपकथा ।।

"इह पुर्यां श्रियां हेतुः *श्रीकेतुनृपोऽभूत्* । तस्य स्ववंशे [1]वैजयन्तीव *वैजयन्तीनामा* प्रिया । [2]सुविषयग्रामामेताम् अवनीं च सेवमानस्य राज्ञः कियान् कालो गतः । कदाचिदास्थाने विविधवार्त्ताप्रस्तावे ईदृशी वार्त्ता प्रावर्त्तत–

'अस्मिन् पुरे कः सुखी सुस्थोऽस्ति?' इति । कोऽपि भट्टोऽभणत् –"अस्त्यत्र सुखिनामग्रगण्यो *विनयन्धरनामा* व्यवहारिपुत्रः । यस्य मदनवद् रम्यं रूपं धनदवच्च घनं धनम् । यस्य [3]शिष्टसुरीसौन्दर्यजिद्वपुः प्रियाचतुष्टयम् आज्ञाविधायकं नित्यं मुखाब्जं पश्यति" । अन्येनोक्तम् –'वणिक्स्त्रीणां शंसया सुरीं मा निन्द' । पुनः सोऽवक् –'निन्दा स्तुतिर्वा काऽत्र? । सुप्रसिद्धमिदं पुरे युवतयस्तादृग्रूपाय देवान् देवीश्च भक्त्या सेवन्ते, तादृक्प्रियार्थं च कति तरुणास्तपस्यन्ति' । एवं तासां वर्णनं श्रुत्वा दैवाद् नृपो रक्तोऽजनि । परोक्ते हि यथा जनो रज्यते तथा दृष्टे न रज्यति। तत्क्षणाद्धर्मवानपि राजा अधर्ममयोऽजायत । अथवा [4]*मदनमुषितस्य कस्य न विपरीतता भवेत्?* । यतः –

1. पताकेव । 2. रमणीयविषयसमूहां राज्ञीं, शोभनदेश-ग्रामां पृथ्वीं च ।
3. उत्तमदेवीसौन्दर्यस्य जयनशीलानि शरीराणि यासाम्, एतादृशाश्चतस्रः प्रियाः । 4. कामलुण्टितस्य ।

परस्त्रीषु रतिः प्रायः, स्वस्त्रीषु श्रीमतां न हि ।
श्रियं विहाय वक्षःस्थां, गोपीषु रमते हरिः ॥९॥

एकतः कुलं कलङ्क्यते, अन्यतः स्मरो दहति । एवं स राजा दुस्तटी-व्याघ्रान्तरस्थ इव दुःखितो जातः । लसत्सङ्कल्प-कल्लोले चिन्ताम्भोधौ निमज्जताऽमुना आशाविश्रामदो द्वीपवद् उपायः प्राप्तः । यथा 'पौरान् प्रत्याय्य अस्य वणिजो विगानतामुत्पाद्य च बलादेताश्चेद् गृह्णामि तदा गर्हार्हो न भवामि' । इति चिन्तयित्वा राज्ञा एकान्ते पुरोहितो विज्ञप्तः -- "त्वं *विनयन्धरेण* सार्द्धं सकैतवां मैत्रीं कुरु । तस्यैव पार्श्वे इमं नवं श्लोकं भूर्जे लेखयित्वा मया ज्ञातस्तेनाऽज्ञातो मह्यमर्पय । तद्यथा-

त्वद्वियोगाग्नितप्तस्य, मृगाक्षि! रतिपण्डिते! ।
निशा सहस्त्रयामेव, चतुर्यामापि मेऽजनि ॥१०॥

तेन पुरोहितेन तथा कृते राज्ञा नागरानाहूय कथितम् - "भो भोः पौरा! विनयन्धरेण देव्या गन्धपुटे पत्रमिदं प्रैषि, तस्माद् भवद्भिर्लिपिं परीक्ष्य यथातथ्यं ममाग्रतः कथ्यम् । पश्चात्कदापि नो वाच्यम्-अयुक्तं नृपः करोतीति" । तेऽपि नृपपार्श्वात् पत्रं परीक्ष्याहुः – "हे प्रभो! लिपिस्तु तत्तुल्या, परं *विनयन्धरे* नेदं घटते यथा दुग्धे पूतरकाः । हे राजन्! सुधामाधुर्याभिरामे द्राक्षारामेऽत्र यो रमते, स करी सकण्टके करीरे कथं करस्य क्षेप्ता? । पुनर्यो हंसो मुक्ताभृते मानसे सरोवरे खेलति स निःशङ्कं जडसंभवं पङ्कं कथं स्पृशति? । पुनर्नरेन्द्रस्येव यस्य सद्गोष्ठिं शृण्वानः पापात्माऽपि पापं वमति, यथा जाङ्गुलिं शृण्वानो विषधरो

विषं वमति । तस्माद् हे राजन्! विशुद्धेऽस्मिन् केनचित् खलेनेदमघटमानं घटितं, यथा निर्मले स्फटिके कृष्णपदार्थेन मालिन्यम्" । इति पौरजनोक्तिमवगणय्य गजेन्द्रवद् मर्यादा-लानमुन्मूल्य नृपोऽसमञ्जसमकार्षीत्- 'रे रे भटाः! तस्य बलादानयत प्रियाः, परिवारं च निर्धाट्य द्राग् मन्दिरं मुद्रयत' । नागरानुवाच- 'भो! यूयं तस्मिन् सपापे पक्षपातिनः। ममाग्रे शुद्धिं कारयत तथा यथा क्षणात्तं मुञ्चामि' । एवं कटुगिरा राज्ञा गृहात् पौरा निर्धाटिताः। अथ विनयन्धरप्रियाः पत्तीनां स्पर्शभयात् तान् पुरतः कृत्वाऽगुः । अथ नरपतिरद्भुतं तासां रूपं वीक्ष्य स्वचेतसि इति व्यचिन्तयत् "सत्यं स्वर्गेऽपि नेदृश्यः सन्ति सुराङ्गनाः, मया महद्भाग्येन इमा दृष्टाः । एता अमृतकूपिका मृगाक्ष्यः प्रेमसोत्कण्ठा मत्कण्ठे कथं लगिष्यन्ति?। अथवा शोकातुराणां साम्प्रतमालापनं न युक्तं, कालविलम्बं कुर्वे, सर्वं शनैः कार्यं सेत्स्यति । यतो *बुभुक्षितवशाद् उदुम्बरा न पच्यन्ते*"। इति चिन्तयित्वा सत्वरं ता अन्तःपुरे क्षिप्ताः । दापितं च तासामङ्गभोगादिकं सर्वं शय्यासनादिकं च । परन्तु ताः सत्यः तत्सर्वं विषवद् गणयन्त्यः अतिदुःखितास्त्यक्ताहारा भुवि शयाना नृपादिष्टाभिश्चेटीभिरूचिरे-

सख्यो! यः फलितोऽद्य [1]पुण्यविटपी येनानुकूलो नृप-
स्तुष्टो ह्येष मरुन्मणिश्च[2] यमवद् रुष्टोऽपि जीवान्तकृत् ।
सेवध्वं विषयश्रियं तदमुना सार्द्धं समृद्धिप्रदां,
चिन्तां मा कुरुत प्रियस्य गुणिनः सङ्गो यतो दुर्लभः ॥११॥

1. पुण्यवृक्षः । 2. चिन्तामणिः ।

ताः प्राहुर्वयमद्य [1]दुःखजनयो यच्छीलरक्षोद्यता,
रुष्टो जीवितघात्ययं वरमिदं शीलं ह्यखण्डं यतः ।
सोऽस्माद्[2] भिल्लजनो वरं न रमते बन्दीकृतायां स्त्रियां,
कार्यं नान्यनरेण नः प्रभुतयाऽतीन्द्रेण[3] तद्गच्छत ॥१२॥

इत्यादिभिर्वाक्यैराभिर्निर्धाटिताभिश्चेटीभिर्नृपो ज्ञापितः । तच्छ्रुत्वा तप्तपुलिने मीनवत् सचिन्तो नृपतिः क्वापि रतिं नो प्राप। यतः –

सुखं स्वपिति नीरागी, स्थाने सघनकण्टके ।
हंसतूलीगतो रागी, निद्रां नाप्नोति दुःखितः ॥१३॥

तद्गतमानसो नृपतिर्वर्षोपमां [4]क्षपां क्षिप्त्वा प्रभाते कृतोद्भटशृङ्गारस्तासां समीपे गतः, परं ताभिर्न नतो न च विलोकितो न चालापितः । तथापि तासां रूपं दृष्ट्वा संमोहितो यावत्स-रागदृष्ट्या विलोकयति, तावत् ताः क्षणात् कपिकेशीर्मार्जाराक्षीः खरानना उष्ट्रौष्ठीः प्रौढदन्तीः जरद्वेषाः कुनासिकास्तुच्छाङ्गुलीश्च रागिणामपि रागहारिणीः पश्यन् विमर्शयामास- 'पूर्वं मया सुराङ्गनासमानं रूपं दृष्टं तत् क्व ? । वैरूप्यमिदं यदधुना दृश्यते तत् क्व?' । इति विस्मितस्तिष्ठति, तावता ज्ञातवृत्तया पट्टदेव्या तत्रैत्य इत्युपालम्भि -"हे विकारान्ध ! रे कामातुर ! त्वं नृप-कन्यां विमुच्य अधमस्त्रीषु रज्यसि । मानाऽमानकीर्त्यकीर्त्तिपात्रा-पात्राऽविलोकिनं त्वां धिक्"। इतिश्रुत्वाऽसौ भृशं लज्जितः ।

1. दुखिताः स्त्रियः । 2. नृपात् । 3. इन्द्रादप्यधिकेन । 4. रात्रिम् ।

तेन च तदवस्थास्ता विसृष्टाः । ततो दिव्यरूपास्ताश्चलिता वीक्ष्य भूपो महाश्चर्यवान् जातः । अन्यदा *श्रीसूरसेनाख्यो* गुरुर्ज्ञानवान् उद्याने आगात् । तमागतं ज्ञात्वा गत्वा च सपौरो नृपतिस्तं गुरुमनमत् । ततो ज्ञानगुरुणा गुरुणा कर्मादिक्लेशहरी धर्मदेशना दत्ता । यथा –

चला विभूतिः क्षणभङ्गि यौवनं,
कृतान्तदन्तान्तरवर्त्ति जीवितम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने,
अहो! नृणां विस्मयकारि चेष्टितम् ॥१४॥

आत्मसुखार्थं क्रियते भोगः, पश्चादेति शरीरे रोगः ।
रोगे जाते मरणं शरणं, तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥१५॥

अनित्यानि शरीराणि,विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥१६॥

इत्यादिधर्मदेशनां श्रुत्वा अवसरं प्राप्य विनयाद् नृपो व्यज्ञपयत् –"हे प्रभो! *विनयन्धरः* सुराङ्गनाभ्योऽपि अत्यद्भुताः प्रमदाः केन सुकृतेन प्रापत्? हे प्रभो! सुरूपाश्च ताः कुरूपिण्यः कथं मया दृष्टाः?" । इति राज्ञा पृष्टे सर्वोऽपि पुरीलोकः सभार्यो *विनयन्धरश्च* नव्यमेघवद् नदन्तं गुरुं प्रति मयूरवद् विलोकयन् शृणोति । गुरुराह – "हे नृप! आनन्द-शुचोः रूप-कुरूपयोः संपदा-ऽऽपदयोः सुख-दुःखयोः कर्मैव कारणम् । तत्कर्म तत्त्वज्ञैर्द्विधा प्रोक्तं शुभाऽशुभभेदतः । शुभेन सुखदा भावा अशुभेन

च दुःखदा भावा भवन्ति । ततो हे राजन्! सविस्तरमेषां पूर्वभववृत्तान्तं शृणु –

।। श्री विनयन्धरस्य पूर्वभवकथा ।।

पुरा *गजपुरे* नगरे *विचारधवलो* भूपोऽभूत् । तस्य कोऽपि वैतालिकः पुरुषोऽस्ति उदारचित्तः परोपकारकृत् । स प्रत्यहं कञ्चिदिष्टान्नैः संभोज्य ततो भुङ्क्त । एकदोत्सर्पिण्यां नवमो जिनस्तेन तिन्दुके उद्याने अप्रतिमः प्रतिमाधरो दृष्टः । तस्य निरुपमं रूपं दृष्ट्वा, तथा निस्सीममुपशमं वीक्ष्य, तथा दुस्तपश्च तपो दृष्ट्वा प्रफुल्लितवदनः शुभभावभावितः स पुमानेवं तुष्टाव–

❊ "[1]कटरे शमामृतकुण्ड! कुन्दनयन! श्रीबन्धुरवपुः!,
रे! प्रकटितधर्म कर्मतरुभञ्जनसिन्धुर! ।
[2]भासुरविमलविशालभालविजितार्यममण्डल!,
कमलसुकोमलचरणरेणुपावितभूमण्डल! ।।१७।।

ब्रह्मेन्द्र–रुद्र–चन्द्रप्रमुखसर्वदेवमस्तकमुकुट!,
जय जय जिनेन्द्र! भुवनाभिमत! कामितपूरणकामघट ।।१८।।

इति स्तुत्वा जिने बहुमानं वहन् गृहे गतः । भुक्तिकाले स एव भगवान् तस्य गृहे आगतः । तदा स हर्षभरप्रफुल्लितरोमकञ्चुको मिष्टान्नैर्भगवन्तं प्रत्यलाभयत् । भावनां च कृतवान् –'धन्योऽहं यस्य मे जिनेन दानं गृहीतम्' । तस्मिन्नवसरे दिवि देवदुन्दुभयो

❊ छप्पयछन्दः । १. आश्चर्य–स्तुत्योरव्ययम् । २. भास्वरनिर्मलविशालभालेन विजितम् अर्यम्णः–सूर्यस्य मण्डलं येन, तत्सम्बोधनम् ।

नेदुः । सुरैः 'अहो दानमहोदानम्' इति घुष्टम् । सुगन्धाम्बुपुष्पवर्षा, उत्तमा वसुधारा चेलोत्क्षेपश्च दानप्रभावतोऽभवत्। बन्दिनो नरामरा बन्दितां प्राप्ताः । सोऽपि पुमान् दानफलं साक्षाद्वीक्ष्य सम्यक्त्व-धार्यभूत् । स तीर्थपतये दानं दत्त्वा प्रथमे स्वर्गे देवोऽभूत्। तत्र सुरीभिः सुचिरं रन्त्वा आयुःक्षये प्रथमदेवलोकात् च्युत्वा अस्यामेव *चम्पायां रत्नसार*श्रेष्ठिनः *पुण्ययशः*पत्न्या गर्भे पुत्रो जातो *विनयन्धरनामा* । यस्य जन्मतः पित्रोर्नामनी सत्ये जाते । श्री-कीर्ति-कला-सुभगत्वादयो गुणाः सुपात्रदानाद् विनयन्धरेण प्राप्ताः। यतः –

दानं पुण्यतरोः सुबीजममलं पापाहिमन्त्राक्षरं,
दारिद्र्यद्रुमकन्दलीयनदवो दौर्भाग्यरोगौषधम् ।
सोपानं त्रिदिवोरुशैलचटने मोक्षस्य मार्गे रथो,
दातव्यं सततं जिनोक्तविधिना प्राप्तेषु पात्रेषु तत् ।।११।।

।। इति विनयन्धर-पूर्वभववर्णनम् ।।

इति विनयन्धरप्राग्जन्मसम्भवो वृत्तान्तः प्रोक्तः । हे राजन्! साम्प्रतमस्यैवोदाराणां दाराणां चरितानि शृणु । तथाहि-

विनयन्धरस्य दाराणां पूर्वभवस्य चरितानि

अस्मिन्नेव भरतक्षेत्रे सर्वश्रीणां निकेतनं *साकेतपुरं* नाम नगरम् । तत्राऽनेकनरपतिमुकुटस्थितरत्नसंघट्टितचरणो *नरकेसरी* राट्। तस्य [1]पुरुषोत्तमे रक्ता [2]कमलेव *कमलसुन्दरी* राज्ञी ।

1. कृष्णे । 2. लक्ष्मीरिव ।

तत्पुत्री रतिवद् रतिदा[1] *रतिसुन्दरीनामा* । अथ तस्मिन्नेव नगरे *श्रीदत्तनामा* [2]धीसखोऽस्ति. *सुमित्रनामा* श्रेष्ठी वर्तते, तथा *सुघोषनामा* पुरोहितोऽस्ति । ते त्रयोऽपि भूपतेः प्रियाः समुद्रवत् सुगाम्भीर्याः स्वस्वमर्यादां कदापि नोल्लङ्घयन्ति । तेषां च *लक्ष्मणा-लक्ष्मी-ललिताकुक्षिजा बुद्धिसुन्दरी* मन्त्रिपुत्री, *ऋद्धिसुन्दरी*, श्रेष्ठिपुत्री, *गुणसुन्दरी* च पुरोहितपुत्री । तासां लेखशालायां कला भणन्तीनां *रतिसुन्दर्या* सार्द्धं प्रेमाभूत् । सद्‍ग्गुणानां सद्यौवनश्रियामेकत्र निवसमानानां प्रेमबन्धः सञ्जायते । यतः –

विदुषां च कुलीनानां, धनिनां धर्मिणामपि ।
ततस्तद्विपरीतानां, प्रीतिः सादृश्यतो भवेत् ॥२०॥

ताश्चतस्रोऽपि एकत्र रमन्ते, एकत्राऽश्नन्ति, एकत्र स्वपन्ति, एकत्र च विचरन्ति । ताः स्नेहादेकात्मतां प्राप्ताः, परं क्रीडार्थं चतुर्धाङ्गा जाता किं रतिः उत पार्वतीति लोकैर्वितर्क्यते । अन्यदा *ऋद्धिसुन्दरीगेहे* अस्तदोषा निष्कलङ्का *गुणश्रीनाम्नी* प्रवर्तिनी सौम्यमूर्त्तिरायाता । ताभिस्तिसृभिः सखीभिर्दृष्टा । अथ सा पृष्टा- 'हे सखि! हंसीव सुविवेकिनी शुद्धवेषावृता प्रशान्तमूर्तिरेषा का?' । ततो व्यवहारिकपुत्री प्राह – "इयं श्वेताम्बरा साध्वी सर्वसाध्वीशिरोमणिर्मान्या अस्मद्गुरुर्बाल्येऽपि अजिह्मब्रह्मचारिणी। एतां ये पश्यन्ति ते धन्याः, एनां ये नमन्ति भक्त्या ते धन्यतराः, येऽस्या धर्मोपदेशं शक्त्या कुर्वन्ति ते धन्यतमाः" । इति *ऋद्धि-सुन्दर्या* प्रोक्तं समाकर्ण्य सानन्दमेताभिः प्रवर्तिनी ववन्दे । तयापि

1. कामदा । 2. मन्त्री ।

योग्यतां ज्ञात्वा द्राक्षारसोपमा धर्मदेशना प्रादायि । यथा-

इदं मानुष्यमासाद्य, रोहणाद्रिमियोन्नतम् ।
जीयेन रत्नयद् ग्राह्यं, धर्मरत्नं च दुर्लभम् ॥२१॥

विषया अभिलष्यन्ते, मूढैर्मानुष्यमाप्य यैः ।
ते कल्पशाखिनामग्रे, मार्गयन्ति कपर्दिकाः ॥२२॥

ततोऽङ्गीकृत्य सम्यक्त्वं, सदाचरत संयमम् ।
तीव्रं तपः प्रपद्यध्वं, यदीच्छत शिवश्रियम् ॥२३॥

दीप्यत्तपोग्निना तप्तं, क्षिप्तं संयमकोष्ठके ।
अलं कर्ममलं मुक्त्वा, जीवस्वर्णं विशुध्यति ॥२४॥

इति प्रवर्तिनीमुखकुण्डोत्थितं वचोऽमृतं पीत्वा मोहविषं वान्त्वा ताभिर्विनयादेवं सा साध्वी विज्ञप्ता – "हे भगवति! त्वया संयमो लीलया अग्राहि, परन्तु सोऽस्माकं मेरुतोऽपि गुरुतरो भाति । उत्तमा एव वृषभाः शकटमुद्वहन्ते न तु भुङ्गणाः। ततः करुणां विधाय गृहिधर्मं देहि, यथाऽस्माकं शर्म भवेत्" । ततः प्रवर्तिन्या विधिना सम्यक्त्वं ददे । पुनरपि प्रवर्तिन्योक्तम् 'व्रताऽशक्त्या स्त्रीभिः परपुरुषत्यागात्प्रधानं तुर्यं व्रतं ग्राह्यम् । नरैरपि परस्त्रीत्यागतस्तुर्यं व्रतं पालनीयम् । अन्यव्रतानि खण्डितान्यपि स्वर्णकुम्भवद् घट्यन्ते, परमिदं व्रतं भग्नं मौक्तिकवत् संस्कारं नाऽर्हति । नैव कार्यं स्वयं पापं, बुद्ध्या बलेन च परः कुर्वन्निवार्येत पापादिति नियमो यतिभिर्मतः । यस्मात् शीलपालनतो देवाः सेवाकरा जायन्ते, ऋद्धिः सिद्धिः प्रसिद्धिश्च भवति, सर्व-कार्याणि सिध्यन्ति, मङ्गलानि दिने दिने भवन्ति । जलं स्थलं, शत्रुर्मित्रम्,

अग्निर्नीरं, विषं सुधा, व्यालो माल्यं, सिंहश्च शृगालः शीलपालनाद् भवेत् । इदं च स्वीकृतं व्रतं कुलस्त्रीणामर्हं भवेत्"। तच्छ्रुत्वा 'इष्टं वैद्योपदिष्टं चेत्याभाणकं[1] हे भगवति! त्वया सत्यी-कृतम्' ताभिरेवं ब्रुवाणाभिः मुदा स नियमोऽग्राहि । अथाप्तजैन-धर्माणां तासां कियान् कालो गतः ।

।। श्री रतिसुन्दर्याः कथा ।।

अस्मिन्नवसरे *नन्दपुराधिपेन चन्द्रनरेन्द्रेण* चरमुखेण *रतिसुन्दर्या* रतिविजित्वरं रूपं निशम्य प्रहितो मन्त्री तत्रागतः । तेन धन्या कन्याऽर्थिता । ततो हर्षितेन राज्ञा तस्य दत्त्वा साक्षात् सल्लक्ष्मीरिव स्वयंवरा प्रेषिता । *चन्द्रनृपेणापि* सुदिने समहोत्सवं सा परिणीता । जनानन्दवर्द्धापनं वर्धापनं विधापितम् । सुवृत्तः सकलश्च चन्द्रः पूर्णचन्द्रवद् विशुद्धपक्षया तया *रतिसुन्दर्या* ज्योत्स्नयेवाऽशोभि । अस्मिन्नवसरे कुरुदेशतो *महेन्द्रसिंहेन* प्रेषितो दूतः समागत्य यथावसरं चन्द्रनृपं व्यजिज्ञपत्- "हे राजन्! अस्मन्नृपेणोक्तं यथा, सदावयोः पूर्वपुंसां क्षेमङ्करं प्रेमाभूत् । वंशस्याग्रे जाता ध्वजा इव किल ते सुजाता वाददुर्वातकम्पिताः पूर्वसम्बन्धं नोज्झन्ति, ततो यत्ते विषमं कार्यं भवेत्तन्मे कथ्यं, यथा तत् क्षणात् कुर्वे । परं मत्प्रीत्यै नवोढा *रतिसुन्दरी* प्रेष्यैव, यथा परा प्रीतिः प्रवर्द्धते" । इति श्रुत्वाऽन्तः सरोषः *चन्द्रनृपति*र्बहिरीषद् हसन् अवक् – "भो दूत! सज्जनाभिमतः पुमान् कस्य नो वल्लभः? । यतः –

1. लोकोक्तिः ।

[1]मित्ती परोवयारो, सुसीलया अज्जवं पियालवणं ।
दक्खिण्णविणयवाया, सुयणाण गुणा निसग्गेण॥२५॥"

"भो दूत! त्वद्राज्ञा युक्तमुक्तं, यतः सन्तः सौजन्यनिश्चलाः। अन्यत् कृत्यं मे निवेद्यं, परं देव्याः प्रेषणं नार्हति । *महेन्द्रसिंहस्य* स्नेहो ज्ञातो वाक्प्रतिपत्तितः, परं बाह्यगौरवेण किम्? । यतः कथयन्ति पण्डितजनाः –

[2]बज्झन्ति मुक्खविहगा, नेहविहूणेण बज्झदाणेण ।
छेयाण बंधणं पुण, नन्नं सब्भावभणियाओ ॥२६॥

वाया[3] सहस्समइया, सिणेहनिज्झाइयं सयसहस्सं ।
सब्भावो पुण सज्जण- जणस्स कोडिं विसेसेइ ॥२७॥

पुनर्दूतः प्राह – "देवो देव्यां परमोत्सुको वर्त्तते, ततो हे राजन्! तद्वचः न खण्ड्यम् । समर्यादः करी वरो, रुष्टो दारुण एव । स नृपः साम्ना मार्गयति, अन्यथा हठादप्यसौ ग्रहीता' । तच्छ्रुत्वा *रुष्टश्चन्द्रराडवक्* –"स किं राजा यः परस्त्रियमिच्छति। अथ यौवनान्धया जनन्या यत्कुकर्म निर्ममे तत्तु शीलवर्जितैः कुपुत्रैरधुना प्रकाश्यते । रे दूत! किं न वेत्सि त्वं, कः पुमान् स्वस्त्रीं प्रेषयेत्? जीवन्नेव पन्नगः किं स्वशीर्षमणिं लातुं दत्ते?" ।

1. मैत्री परोपकारः, सुशीलता आर्जवं प्रियालपनम् ।
दाक्षिण्यविनयवाचः, सुजनानां गुणा निसर्गेण ॥

2. बध्यन्ते मूर्खविहगाः, स्नेहविहीनेन बाह्यदानेन ।
छेकानां बन्धनं पुनः, नान्यत् सद्भावभणितात् ॥

3. वाक् सहस्रमतिका, स्नेहनिध्यातं शतसहस्रम् ।
सद्भावः पुनः सज्जन-जनस्य कोटिं विशेषयति ॥

पुनरपि दूत उवाच –"हे राजन्! दारसमर्पणेन स्वात्मानं रक्षयन्ति विचक्षणाः । यतः –

रक्षणीयं धनं भूत्यै–र्धनैभृत्यैर्निजस्त्रियम् ।
आत्मानं च धनैर्भृत्यै, रक्षेद्दारैरपि स्वयम् ॥२८॥

इति ब्रुवन्नसौ *चन्द्रसिंहेन* गलहस्ततो निष्काशितः । दूतोऽत्यपमानतः सरोषः स्वनृपाग्रे सविशेषमचीकथत् । सोऽपि साटोपं चतुरङ्गसैन्यपरिवृतः क्षुभिताम्भोधिवद् आजगाम । *महिमाढ्यश्चन्द्रराड्* अपि तमायातं मत्वा गजवाजिरथान्वितः स्वदेशसीम्नि सम्मुखमागत्य स्थितः । तयोर्मिलितयोः स्वस्वस्वामिकार्यप्रसक्तयोस्त्यक्तदैन्ययोः सैन्ययोर्भूरि द्वन्द्वयुद्धमभूत् ।

सादिनः सादिभिः सार्धं, रथिनो रथिभिः सह ।
अश्ववारैरश्ववाराः, पत्तिभिः पत्तयोऽमिलन् ॥२९॥

महेन्द्रसिंहसैन्येन चन्द्रबलं किञ्चिद् जितं समुद्रवारिणेवाऽऽपगाजलम् । अथ *चन्द्रो* रथाधिरूढः सिंहनादं कुर्वन् रिपून् विलोडयामास, यथा पृष्ठिं दत्त्वा सर्वे पलायितुं लग्नाः । तद् दृष्ट्वा *महेन्द्रसिंहोऽपि* रणार्थं समुदतिष्ठत् । प्राणाऽनपेक्षिणोर्द्वयोर्युद्धमभूद् वन्यदन्तिनोरिव दारुणम् । क्रमाद् गदाघाताकुलश्चन्द्रः छलाद् *महेन्द्रसिंहेन* बद्ध्वा 'साधु साधु भटत्वं ते' इति शंसित्वा मन्त्रिणेऽर्पितः । नश्यतश्चन्द्रसैन्याच्च तेन *रतिसुन्दरी* गृहीता । तल्लाभतुष्टो *महेन्द्रसिंहो नृपश्चन्द्रं* मुक्त्वा निजे पुरे गत्वा *रतिसुन्दरीं* प्रोवाच –"हे सुन्दरि! त्वयि श्रुतायां मे भृशं रागोऽभूत् । मयाऽयं प्रयासवृक्षस्त्वन्निमित्तं वर्द्धितः, हे प्रिये! प्रसाददानात् साम्प्रतं तं

सफलीकुरु, दुर्लभं च *कुरुदेशस्य* साम्राज्यं कुरु" । इति नृपवचनं श्रुत्वा चिन्तितं तया – "अनेन मम चित्तमजानता कामान्धेन सत्त्वसन्ततेर्महान् संहारः कृतः, मत्पतिः कष्टे पातितः, निजात्मा च कदर्थितः । हा हा! मे रूपं विरूपं यद् बहूनामनर्थदं, तदस्मात्कष्टकरात् कथमहं शीलं रक्षामि? । हुं हुं, सामप्रकारेणै-वाऽयं कामी कालविलम्बतः साध्यः" । इति विचिन्त्य साऽवदत्- 'हे राजन्! मयि ते रागो बाढं दृश्यते, परं प्रार्थयामि किञ्चित्, तच्च त्वमन्यथा मा कुरु'। ततो नृपेणोक्तम् –'यदि त्वं जीवितं मे याचसे तदप्यहं ददे' । ततस्तया प्रोक्तम् –'अन्यत्तिष्ठतु, चतुर्मासीं यावत् शीलभङ्गं मा कृथाः' । नृप उवाच – 'जीवितार्पणतोऽपि दुर्लभं चैतद् मे, तथापि तव प्रार्थनाभङ्गो मया नैव कार्यः' । अथ सा शरीरस्य स्नानाद्यं संस्कारं वर्जयति स्म। आचाम्लादितीव्रतपसा स्वमशोषयत् । निम्नगल्ला रुक्षकेशी शुष्कस्तनकटीतटा निर्मांसरु-धिराऽदृष्टनासा चर्मास्थिवेष्टिता कृष्णवर्णा अतिबीभत्सा दवदग्धा-ऽब्जिनीव सा ईषन्न्यूनेऽवधौ राज्ञा दृष्टा । सविस्मयं च पृष्टा – 'हे कान्ते ! तव देहे किं व्याधिर्बाधते ? अथवा मनसि कोऽप्या-धिरस्ति? यतो नवसुवर्णाभमङ्गम् अङ्गारकतामगात्'। सा प्राह - 'हे स्वामिन्! मया वैराग्यतस्तीव्रं व्रतं कर्त्तुमारब्धम् । प्राणान्तेऽपि तत्पाल्यं, तेन किलाहं दुर्बला । 'समृद्धौ ते किं वैराग्यम् ? 'इति राज्ञा पृष्टे साऽवदत् – "हे देव! निःसन्देहमयं देह एवाऽस्य कारणम् । यतः –

रुधिरामिषमेदोऽस्थिमलमूत्रादिपूरितम् ।
नवद्वारक्षरद्विस्त्ररसक्लिन्नमिदं वपुः ॥३०॥

मर्दनस्नानशृङ्गाराऽशनपानादिलेपनैः ।
अयं दुर्जनवद्देहः, सत्कृतोऽप्येति विक्रियाम् ॥३१॥

दुकूलस्वर्णमुक्तादि, भोगाङ्गं बहुमूल्यकम् ।
अमेध्यगेहे देहेऽस्मिन्, लग्नं स्यादल्पमूल्यकम् ॥३२॥

हे राजन्! पापरूपस्य वपुष एष महान् दोषो मतः, यतोऽनेन निर्गुणेन एवं गुणाढ्योऽपि मुह्यति" । इत्यादिं तस्या रागमुचं वाचं शृण्वानोऽपि हृदि किञ्चिन्न भावितो घनाम्बुना मुद्गशैल इव । नृपोऽपि हसन्नवक् –'हे चतुरे! त्वरितं तावत्पूर्णमभिग्रहं कुरु, ततस्त्वं स्वस्था भवित्री' । इति हसित्वा स निर्गतः । अथाभिग्रहे समाप्ते पुनः सोत्कण्ठं नृपोऽवदत् –'हे प्रिये! त्वन्मुखाम्भोजलुब्धोऽहं भृङ्गवत्' । तत् श्रुत्वा सा प्राह –"पारणे स्निग्धभोजिन्या मेऽङ्गे पाटवं नास्ति । शिरसि आर्त्तं, जठरे शूलं, सर्वे सन्धयस्त्रुट्यन्ति, त्वं तु मत्सङ्गमे उत्सुकोऽसि । तत इदमाभाणकं सत्यमभूत्- *वारणो मृत्युवेलायां, मार्ग्यते पञ्चभिः शतैः*" । तथापि तस्य दुराग्रहं मत्वा केनाप्यलक्षितं मदनफलं मुखे धृत्वा तद्गन्धतो वान्ति व्यधात् । राजानं प्राह- 'हे देव! देहोऽयमीदृशः, येन शुचिपदार्थोऽप्यशुचिर्भवेत् । त्वं तु बालतोऽपि बालो यद्वान्तं भोक्तुमिच्छसि'। ततो नृपेणोक्तम्- 'किमहं वान्ताशी? किं जडोऽस्मि?' । ततः साऽवदत्- "हे मूढ! एतत् किं न वेत्सि, यत् परस्त्रीरता नरा अधमाः प्रोच्यन्ते?। यतः –

"दत्तस्तेन जगत्यकीर्त्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
सङ्केतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः,

शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ॥३३॥"

नृपेणोक्तम् –'सत्यमिदं, किन्तु तवाङ्गे रागवानहम्' । सा प्राह –'साऽपाये मम काये किं तव रागकारणम्? । त्वग्-मांस-रुधिर-स्नायु-मेदो-ऽस्थि-विड्-मूत्रपूर्णो दुरभिगन्धो देहः किं प्रियः?' । सोऽवक् –'तव कृशेऽङ्गेऽपि दृशोर्मूल्यं न समग्रभूदानेऽपि'। तत् श्रुत्वा शीलरक्षणोपायमप्राप्य तृणवत्तनुं मत्वा सा तीक्ष्णेन शस्त्रेण चक्षुषी छित्त्वा उत्पाट्य च नृपस्य पुरो मुक्त्वा ततोऽवदत् –'त्वत्प्रिये अमू लाहि, पापहेतुभिः शेषाङ्गैः पूर्णम्' । नृपोऽपि एतां विगतचक्षुषं प्रेक्ष्य नीरागः खेदमेदुरोऽवक् –'हे प्रिये! आवयोर्दुःखदं दारुणं कर्म किं कृतं त्वया?' । साऽवक् –"तव ममाप्यत्र परत्र चेदं सौख्यदं, यथा कुरोगिणः कटुकौषधं रोगापहारि । हे राजन्! परस्त्रीसङ्गतस्य मानहानिर्धननाशो जीवितक्षयः, परभवे दौःस्थ्यं दौर्भाग्यं, कलेवरे कुष्ठभगन्दरादयो रोगाः समुत्पद्यन्ते, नरके लोहपुत्रिकाश्लेषणादिकं च लभ्यते । निर्लाञ्छनत्वं पारवश्यादिकं च तिर्यक्षु प्राप्यते । एतादृशेभ्यो दुःखेभ्योऽधुना आवां छुटितौ । यन्मया दुष्करं निर्मितं तदेतदुभयत्र हितमावयोः । अपि च, हे राजन्! मत्तस्त्वं पापे पतितस्तन्मुखं ते किं दर्शयामि? तेन कारणेन मयाऽन्धीभूय तव दुर्गतिपतनं निवारितम्" । इति स्मरावेशविनाशिनीं तस्या देशनां श्रुत्वा राजा प्राह –'युक्तायुक्तवेदिनी त्वं ह्येका सती सर्वोत्तमा, नितरां सापराधस्य मेऽधुना यत्कर्त्तव्यं तत्समादिश'। साऽभ्यधात् –'हे नृप! वर्जयाऽन्यस्त्रीर्यथा भवभ्रमणं न स्यात्' । राजापि पश्चात्तापाग्निना दह्यमानमनोवनः तयोक्तं व्रतं प्रपद्य तां *रतिसुन्दरीं* निजान्तरप्रेम्णा गुरुवद् अमन्यत । 'मया अनार्येण

पापिना महासत्या अनर्थः कृतः' इति सशोकं नृपं मत्वा पञ्च-परमेष्ठिनमस्कारपरा कायोत्सर्गे स्थिता। तस्मिन्नवसरे शासनसुरी समागत्याऽक्षिणी दत्त्वा सविलासं तुष्टाव –

सतीमतल्लिके देवि, प्रबोधितायनीपके!।
सच्छीलधारिके जीया-स्त्रिजगज्जनदीपिके! ॥३४॥

तद्दर्शनेन समुल्लसितहर्षतरङ्गो नृपतिश्चिन्तयामास –"अहो! शीलस्य माहात्म्यं, गते नेत्रे पुनः प्राप्ते। अहो! योषितामपि धैर्यं, धन्यमस्या जीवितं, सफलो मनुष्यावतारोऽस्याः, साक्षाद् देवी यस्याः सान्निध्यं करोति"। इत्यादि भावयन्नरेन्द्रः स्वीकृते शीलव्रते निस्तन्द्रो निरतोऽभूत्। बहुधा च निजापराधं क्षमयित्वा विश्व-स्तामात्यसंयुतां शृङ्गाराद्यैश्च सत्कृत्य तां *रतिसुन्दरीं* नन्दने पुरे प्रैषीत्। *चन्द्रभूपस्य* संदिष्टम् –' भो! एषा मम भगिनी, पुनर्मम धर्मगुरुः, देवीकृतरक्षा महासती ह्येषा, तेनाऽस्यां मनागपि न शङ्क्यम्। मयि दुष्टे त्वया क्षम्यम्। त्वमेव जगत्यां धन्यो यद्गृहे साक्षाल्लक्ष्मीवद्विलसत्यसौ महासती'। इति सचिवोक्तां वाचं श्रुत्वा तां च कृशां वीक्ष्य चमत्कृत*श्चन्द्रनृपति*स्तया सार्धं प्राज्यं धर्मराज्य-मपालयत्।

प्रवर्त्तिनीनां वचनं दधानया,
श्रीजैनधर्मे किल सावधानया।
अपालि शुद्धो *रतिसुन्दरीस्त्रिया,*
सच्छीलधर्मो विकलङ्कया तया ॥३५॥

॥ इति रतिसुन्दरीकथा ॥

॥ बुद्धिसुन्दरी-कथा ॥

अथ *बुद्धिसुन्दर्यपि* भूयोभिर्धीसखैः प्रार्थ्यमानापि पित्रा *सुसीमनगरे सुकीर्त्तिनृपमन्त्रिणे* दत्ता । सा बुद्धिसुन्दरी सौम्यं [1]कुवलयोल्लासकरं सन्तापवारकं [2]ताराधिपं प्राप्य [3]राकारजनिवद् बभौ । अन्यदा राजपाट्यां गच्छता राज्ञा साऽदर्शि लावण्याऽमृतवापिका स्वीयसौधाग्रे क्रीडन्ती । एतस्या *बुद्धिसुन्दर्या* रूपे लावण्यरसमये राज्ञो मनोद्रव्यं [4]शिलाजतुवत् तथा लग्नं यथा तन्मयतामगात् । ततः कामाग्नितप्तेन राज्ञा स्वदासी *बुद्धिसुन्दरी*पार्श्वे प्रेषिता । तया दूत्या बाढं प्रलोभिताऽपि सा तं नैच्छत् । निर्भर्त्स्य दासी निष्काशिता । तथाप्यकार्यसज्जेन निर्लज्जेन भूभुजा मन्त्रभेदच्छलात् सस्त्रीको मन्त्री चारके क्षिप्तः। ततः पौरैर्विज्ञप्तम्- "हे राजन्! नेदृक्करोत्ययम् । सत्कुलसंभूतोऽसौ स्वामिद्रोहं कदापि न करोति, भवतां केनचित् खलेन कथितं भविष्यति । ततो यदि प्रजां स्वीयां जानासि, पितेव पालयसि, तदा मुञ्चैनम्"। इति कथिते *बुद्धिसुन्दरीं* विना मन्त्रिणं विमुच्य भूप उच्चैःस्वरमवोचत् –'भवन्तो यदि प्रत्ययं कुरुत तदा तां मुञ्चामि, नान्यथा'। ततः प्रजा नृपतेर्भावं मत्वा गृहे गताः । नृपोऽपि अन्तःपुरे गत्वा तां *बुद्धिसुन्दरीं* प्राह –"हे सुन्दरि! तां दूतीं निर्भर्त्स्य किं सौभाग्योपरि मञ्जरीमिच्छसि?। तदा चेद् दूत्या कथितं वाक्यं कृतं स्याद् नाऽभविष्यदियं विपत् । साम्नैव स्वार्थसिद्धौ चण्डं दण्डं कः

1. पृथ्वीवलयहर्षंकरं, कुमुदविकासकरं च । 2. मनोहरस्वामिनं, नक्षत्राधिपं च । 3. पूर्णिमारात्रिवत् । 4. प्रस्तरलाक्षावत् ।

करोति? । अथ हे मानिनि! चेद् अमानं मानं मनसीच्छसि, तदा माम् आदेशकारिणं सम्मानय, स्नेहं चानय" । इति भूपतिवचनं श्रुत्वा संवेगरङ्गवारितरङ्गिणी सा *बुद्धिसुन्दरी* सादरं भूपप्रबोधनायोचे- "हे राजन्! ईदृशेऽकार्ये हीनजातयो रमन्ते, परं भवादृशानां कुलीनानां नैतत्पापं कर्तुं युज्यते । यतः सन्तो विषयानलैः सन्तप्ता अपि स्वां स्थितिं न मुञ्चन्ति, प्रबलैर्वातैः क्षोभिताः समर्यादाः समुद्रा इव । हे राजन्! धर्ममार्गप्रवर्त्तनाद् राजान ऋषयः प्रोक्ताः, त एव स्वयम् अनयं कुर्वन्तः साक्षाद् राक्षसाः कथ्यन्ते । अपत्यतुल्याः प्रजा राज्ञां कामयितुं न युक्ताः । यतः –

पार्थिवानां स्वदेशस्था, अपत्याभाः प्रजा मताः ।
तत्र न्यायवतां राज्ञां, कामरागो न युज्यते ॥३६॥

हे नृप! तवाऽन्तःपुरे बह्व्यो धन्या राजकन्याः सन्ति, ततो हे राजन्! हीनां स्त्रीं मादृशीं प्रार्थयन् किं न लज्जसे?। हे भूप! पराङ्गनाप्रसङ्गेन जगत्ययशःपटहं मा वादय" । इति तया युक्तिसंयुक्तमुक्तमपि तस्य मूढधियः कर्णगोचरे न स्थितं, यथा भृते कुम्भे जलम् । ततो भूपो हसित्वा प्राह -- 'हे सुन्दरि! सर्वं वेदम्यहं, किन्तु अयं वितर्कः स्नेहरसिकानां न युज्यते'। अथ *बुद्धिसुन्दरी* तन्निश्चयं ज्ञात्वा कालविलम्बं संकलय्य च बुद्धिपूर्वकं सादरं तं नृपं प्राह- 'हे सुलक्षण! यदि तव चित्ते एष एव निश्चयो वर्त्तते तर्हि नियमं यावत् प्रतीक्षस्व । मम प्रार्थनां प्रपद्यस्व । यतः–

"[1]जो कुणइ नियमभंगं, जोवि य कारेइ कहवि दुब्बुद्धी ।
ते दोवि हुंति दुहलक्ख-भायणं भीमभवगहने ॥३७॥"

ततो नृपेण स्त्रीषु मार्दवं वश्यमूलं स्मृत्वा तद्वचनमनिच्छया स्वीचक्रे । सापि किञ्चित्स्वस्थाशयाऽजनि । अथ सा *बुद्धिसुन्दरी* भूपप्रबोधनोपायान् चिन्तयन्ती विनोदैस्तन्मनो रञ्जयन्ती स्वयं समयमगमयत् । अन्यदा तया [2]मदनमानाय्य [3]पौस्तकर्मणि प्रशस्तं वर्णविच्छित्त्या मनोहरं स्वप्रतिरूपकं विहितम् । तच्च राजानं प्रदर्श्य तया प्रोक्तम् – 'अहमस्याः सदृशी न वा?' । सोऽपि सम्यग् वीक्ष्य तत्कलाकौशल्यरञ्जितः प्राह –" अहो !

वपुषि वर्णविन्यासः, कटरे करलाघवम् ।
पश्यन्तीव हसन्तीव, येनेयं त्वमिवेक्ष्यते ॥३८॥

हे सुभ्रु! इदं स्वरूपं निर्माय त्वया विज्ञानं दर्शितम् । यच्चित्ते त्वं स्थिता तस्य दृष्टमेतत्सुखप्रदम्" । ततः सा प्राह- 'चेदित्थं तर्हि सौख्यदामेतां त्वं वेश्मनि रक्ष, मामधुना मुञ्च तवाऽत्रामुत्र च दुःखदाम्' । तत् श्रुत्वा नृप उवाच –'हे प्रिये! तवाऽङ्गसङ्गाशारज्जुबद्धा इव मम प्राणा एवं कृते शशा इव निर्यान्ति' । पुनरपि सा प्राह –'हे स्वामिन्! एषा मदधिका, यत इयं मदनवत्येव, अहं तु मदनवर्जिता' । इति ब्रुवाणया तया सा मदनाङ्गना राज्ञोऽग्रे मुक्ता, तेन[4] साऽऽशु निक्षिप्ता, झटितीयं भङ्गं प्राप्ता । तस्या उच्छलन्तं दुर्गन्धमशुचिमत्तां च दृष्ट्वा भूयो नृपः

1. यः करोति नियमभङ्गं, योऽपि च कारयति कथमपि दुर्बुद्धिः ।
तौ द्वावपि भवतो दुःखलक्ष-भाजनं भीमभवगहने ॥

2. माषपिष्टम् । 3. लेप्यादिकार्ये । 4. राज्ञा

प्राह – 'हे प्रिये! यद्बालानामपि निन्द्यं तत् किमिदं त्वया चेष्टितम्?'। तयोक्तम् –"स्वप्रतिच्छन्दं मया स्वच्छन्दं निर्मितम् । इयं नारी मत्तुल्या, अथवाऽहम् अतोऽपि हीना । यतो जलानलादिना चैषा शोध्यमानापि शुध्यति, अहं तु स्वर्णरत्नादिसंस्कारैः कदापि न शुध्यामि । यतः –

उत्पन्नमशुचेर्वृद्धं, रसेनाऽशुचिना वपुः ।
अशुचिद्रव्यसंपूर्णं, स्रवत्यशुचि चान्वहम् ॥३९॥

चेद् भवेदस्य देहस्य, बहिरन्तर्विपर्ययः ।
दक्षो रक्षां न कुर्यात् कः, काकगोमायु[1]गृध्रतः? ॥४०॥

हे कोविद! अस्य कुथितस्य कलेवरस्य कृते नरकापदां सत्यङ्कारं कथं ददासि? । हे नृपते! तिलमात्रसुखस्यार्थं मांसासक्तमीनवद् मेरुतोऽधिकं तिर्यग्नरकदुःखं किं लभसे? । हे राजन्! दत्तदुर्गतिद्वारान् परदारान् यो न सेवते, स आपत्परंपरापारं प्राप्तः सारं सुखं श्रयेत् । हे राजन्! भवादृशां सज्जनानां सङ्गः कस्य सुखदो न? नरकाग्निज्वालामालावलीढता-दुःखं पुरो यदि न भवेत् । भोगिनां नृणां भोगसौख्यं कियत्कालम्? दुःखानि तु नरके पल्योपमसागरोपमाणि भुज्यन्ते । ततो हे राजन्! मत्तः सुन्दरे त्वदन्तःपुरे सत्यपि मयि किमधिकं वीक्षसे? यतो बाल-वदद्यापि कदाग्रहं नैव मुञ्चसि । हे राजन्! सर्वाः स्त्रियो बहिः पूताः[2], मध्ये तु सर्वा अपि विष्ठादिभिर्भृताः, अतः का इष्टा का चाऽनिष्टा । यथा बालाः चन्द्रमेकविधमपि जले जलेऽनेकधा पश्यन्ति, तथैव कामिभिः अन्ययोषितां कामाः श्रेष्ठाः काम्यन्ते"।

1. गोमायुः शृगालः । 2. पवित्राः-सुन्दराः

इति *बुद्धिसुन्दर्यु*पदेशं श्रुत्वा राजा सहसा ससंवेग इदमब्रवीत् – –"हे सुन्दरि! त्वया साधूक्तं, मयाधुना तत्त्वं ज्ञातम् । त्वया मम मोहान्धस्य विवेकलोचनं दत्तं, विकटे नरकावटे पतन् सम्यग् वारितोऽहम् । अतो हे धर्मदात्रि! वद, तव किं करोमि?" । तया प्रोक्तम् –'हे महाराज! त्वं परस्त्रीगमनं वारय, येन निर्मलालोकमर्कं दृष्ट्वा यथा कोकः सानन्दो जायते तथा लोकोऽपि भवति' । ततः सदाचारपरो राजा परदारपराङ्मुखोऽजनि । ततः 'साधु साधु महाराज! त्वया वंशो विभूषितः, स्वसत्त्वं रक्षितं तत्त्वं च लब्धम्' इति तया स्तुतः । यतः –

[1]बंभव्वयकयसोहो, पावइ कित्तिं जसं च जियलोए ।
देवाणवि नमणिज्जो, सुहगइभागी य परलोए ॥४१॥

[2]गिहत्था वि सुसीला जे, हुंति ते सव्व सिद्धिगा ।
सणंकुमारभूवुव्व, पाल–गोवालया जहा ॥४२॥

भूयोऽपि नृपः क्षमयित्वा वस्त्राभरणदानैस्तां सत्कृत्य विससर्ज । मन्त्रिणमपि समाकार्य मानसन्मानदानतः पुनरपि मन्त्रिपददानेनाऽमानयत् ।

धर्मकैरवसुचन्द्रचन्द्रिका–सोदरीयमिति बुद्धिसुन्दरी ।
निश्चयं [3]ह्यकरणस्य निर्भयं, सङ्कटेऽतिविकटेऽप्यपालयत् ॥४३॥

॥ इति बुद्धिसुन्दरीकथा ॥

1. ब्रह्मव्रतकृतशोभः, प्राप्नोति कीर्तिं यशश्च जीवलोके ।
देवानामपि नमनीयः, शुभगतिभागी च परलोके ॥
2. गृहस्था अपि सुशीला ये, भवन्ति ते सर्वे सिद्धिगाः ।
सनत्कुमारभूप इव, पालगोपालकौ यथा ॥ 3. ब्रह्मचर्यस्य ।

॥ ऋद्धिसुन्दरी-कथा ॥

अथ *ताम्रलिप्तिपुरीनिवासी श्रीदत्त*वणिक्पुत्रो जिनधर्मवासितान्तःकरणः *सुधर्मनामा* वाणिज्याय *साकेतपुरे* समागतः। तत्र विपणिस्थेन तेन सौन्दर्यशालिनीं सखीयुतां राजमार्गे गच्छन्तीम् *ऋद्धिसुन्दरीं* वीक्ष्य चिन्तितम् – "अस्मिन्नसारे संसारसागर-सौख्यवर्जिते लक्ष्मीरिव सारङ्गलोचनाऽसौ सारायते । यतः –

क्षीरसागरकल्लोल–लोललोचनया स्त्रिया ।
असारोऽपि च संसारः, सारवानिव लक्ष्यते ॥४४॥

अहो! अनया सार्द्धं चेद्दैवयोगान्मम विवाहो जायेत तदा सुखाभोगा भोगाः, अन्यथा तु क्लिष्टा रोगाः" । इति चिन्तयतस्तस्य सस्यक्षेत्रेषु गौरिव वार्यमाणाऽपि दृष्टिस्तस्यां किल बलात्पपात। विविधक्रीडाकुतूहलविलोकने व्यग्रया तया *ऋद्धिसुन्दर्याऽपि धर्मो*परि स्वदृष्टिर्न्यस्ता । तौ मिथो रक्तौ वीक्ष्य सख्याख्यत् – 'सर्वसाक्षिकं स्वामिन्याश्चित्तं चोरयन् सत्योऽयं पश्यतोहरः' । ततोऽन्यया सख्या प्रोक्तम् –'हे सखि! अयं वणिग् दाता ज्ञाताऽपि वीक्ष्यते, यः किल हेलया स्वं चित्तवित्तं स्वामिन्यै ददौ' । अपराह- 'वराकोऽयं भृशं कामशरार्दितः सञ्जीवन्याः स्वामिन्या जीवितार्थी पार्श्वमागतः' । एवं सखीभिर्ज्ञाता विलक्षा *ऋद्धिसुन्दरी* प्राह –'भोः सख्यः! एतेन प्रलापेनाऽलं, चलताग्रतः' । इतो *धर्मेण* स्वभावेन सहसा क्षुतं कृतं, तत्प्रान्ते 'नमो जिनेन्द्रेभ्यः' इत्यञ्जसा प्रोक्तम् । तन्निशम्य तदीयं मन उल्ललास । *ततस्तयोक्तम्* – '*अयं जैनो जनो जगति चिरं जीयात्*'। ततस्तया स्वाभिप्रायः

पितुरग्रे निवेदितः । तत्सर्वं वृत्तान्तमाकर्ण्य *सुमित्र*व्यवहार्यपि भव्यजीववत् तद्विज्ञानधर्मस्वरूपं पप्रच्छ परिजनान् । चैत्ययति-पूजारसिकतां *धर्मस्य* ज्ञात्वा स गत्वा स्वयमेवाऽस्मै *धर्माय* सुमुहूर्ते तां महताडम्बरेण ददौ । बहूनां याचमानानां कुलरूपकला-भृतामजैनानां जनानां या पित्रा पुरा न दत्ता सा जिनधर्मविदा *धर्म*सार्थवाहेन अप्रार्थिता लब्धा, *यतोऽर्हन्मतस्थिता अप्रार्थितमेवार्थं लभन्ते* । विवाहे वीते सति संपूर्णकृत्यः सिद्धमनोरथो *धर्मः* प्रियया सह *ताम्रलिप्तिं* पुरीं प्राप्तः । अभिन्नचित्तस्वभावयोस्त-योर्दम्पत्योस्तथा प्रेम सञ्जातं यथा निमेषमपि तौ द्वौ वियोगं न सहेते । अन्यदा *धर्मो* धनार्जनाय यानपात्रं भाण्डैर्भृत्वा प्रियान्वितो-ऽम्बुधावगच्छत् । गच्छतस्तस्य दुर्दैवाद् दुर्दिनमभवत् । उच्छलल्लोल-कल्लोलाः कालिका वायवो ववुः । भृत्यैर्भीममम्बुधिं वीक्ष्य नाङ्गरा अवलम्बिताः, सितपटः सङ्कोचितः, स्वस्वदेवता विज्ञप्ताः । तदा *धर्मेण* सपत्नीकेन साकारमनशनं स्वीचक्रे । प्रवहणं चक्राविष्टमिव क्षणं जलोर्ध्वं भ्रान्त्वा युवतिचित्त-विन्यस्तगुह्यवत् सहसाऽस्फुटत्। तदा वारं वारमुन्मज्जननिमज्जनं कुर्वद्भ्यां ताभ्यां पुण्यानुभावतो विपुले फलके प्राप्ते । तद्बलात्तौ चतुष्पञ्चवासरैस्तोयधिं तीर्त्वा तटे लग्नौ । दैवयोगाद् मिलितौ, परमप्रमोदं च प्राप्तौ । परं *धर्मो* निजप्राणप्रियां प्रणयिनीं विपदापन्नां विलोक्य खेदातुरो ध्यायति, तदा *ऋद्धिसुन्दर्या* प्रोक्तम् –'हे नाथ! अस्मिन्नपारे संसारसमुद्रे सर्वतो विपदः सुलभाः, परं धर्मसिद्धिः किल दुर्लभा । ततो जिनधर्मविदा सम्पदि प्रमोदो नैव कार्यः, विपद्यपि च न खेदः कार्यः । यतो देहिनां प्राक्पुण्य-पापाभ्यां सुख-दुःखे जायेते ।

यतः –

सुखदुःखे च भोक्तव्ये, धीरैर्वा कातरैर्नरैः ।
भवितव्यं ततो धीरैः, सत्तमैः साहसान्वितैः ॥४५॥

प्राणिभिः पुण्यतः सुखसंयोगसम्पदः प्राप्यन्ते, पापात् पुनर्विपर्ययः स्यात्, तस्मात्पुण्याराधने नैव प्रमाद्येत्" । इत्येवं मिथो दत्तस्थैर्यौ तावुभौ श्राद्धधर्मधरौ भिन्ननौचिह्नमूर्ध्वं कृत्वा फलाशनौ तत्र स्थितौ । अन्यदा प्रवहणपुरुषैस्तत् चिह्नं दृष्टम्। तरण्डके पुरुषा निवेश्य प्रेषिताः । ते समागत्य कथयन्ति स्म – '*सुलोचनसार्थवाहो* जम्बूद्वीपं याति, यदि तवेच्छा स्यात् तन्नावमारोह'। तन्निशम्य सपत्नीको *धर्मो* नावारूढो गतः । श्रेष्ठिना पोतमारोपितः सम्मानितश्च क्रमेण गच्छति । यावद् द्व्यहोरात्रगम्यं जलधेस्तटं जातं तावत् *सुलोचनश्रेष्ठी धर्म*स्त्रीं वीक्ष्य कामार्त्तोऽचिन्तयत् –"अहो! विधिना सुचिरन्तनो विज्ञानसन्दर्भ इमां सुलोचनां निर्माय इदानीं प्रकटीकृतः । ततो यद्युत्कण्ठं मत्कण्ठं स्वयं नालिङ्गत्येषा तदा जीवितेन यौवनेन रूपेण धनेन च किम्? । स्ववल्लाभादपरं नरमेषा कदापि नेच्छति, मधुरमाम्रं मुक्त्वा निम्बफलं कः समीहते?" । एवं सोऽनल्पसङ्कल्पसर्पदष्टोऽतिदुष्टहृद् दूरभव्यवद् [1]*धर्म*निर्घाताभिमुखः सञ्जातः। ततस्तेन *सुलोचनेन* परिजने सुप्ते सति मध्यरात्रौ लघुशङ्कार्थं समुत्थितो *धर्मः* पृष्ठतः स्थित्वाऽगाधे पयोनिधौ निक्षिप्तः। अथ प्रभाते जाते *ऋद्धिसुन्दरी* स्वकान्तमदृष्ट्वा किंकर्त्तव्यतामूढात्मा करुणस्वरं रोदितुं लग्ना । सुलोचनेनापि भणितम् – 'हा हा! मम मित्रं कुत्र गतम्?' । भृत्यवर्गोऽपि

1. धर्मविनाशाभिमुखः ।

हाहारवं कुर्वन् रुरोद। सुचिरमाक्रन्दता *सुलोचनेन ऋद्धिसुन्दरी* भृशमनुनीता। उक्ता च "हे सुन्दरि! चिन्तां मा कार्षीः, अहं ते नाथो भवितास्मि। मदर्जितं च यद्वित्तं तद् हे कृशोदरि! तावकम्। ततो हे स्त्रि! दैवेन कार्ये घटिते सति किं खेदेन?। अहं तव दासत्वं प्रतिपद्य [1]निर्वृतिं विधास्ये, यदादेक्ष्यसि[2] तत् कृत्यं करिष्ये, बहूक्तेन किम्?"। एवं तस्य सपापानालापान् श्रुत्वा विचक्षणा सा संवेगरङ्गतो दध्यौ -"धिगनर्थकृद् मामकं रूपम्। एतेन मयि रक्तेन मत्पतिः समुद्रे पातितः, यतो रागग्रहग्रस्ताः कार्याकार्यं न चिन्तयन्ति। ततः शीलरक्षार्थमहमप्यब्धौ स्वं क्षिपामि, तं विना जीवितेन किम्?, यतः कुलस्त्रीणामकान्तानां मरणं शरणम्। अथवा जिनशासने बालमरणं निषिद्धं, जीवन् जीवः कदाचिद् धर्माचरणं लभेत, परमस्मात्कामिनः कथं निर्मलं शीलं रक्षामि?। अथवा दुःखमयं समयमिमं साम्ना गमयामि"। इति विचिन्त्य सा सती प्राह- 'हे सुभग! पयोनिधेः पारं प्राप्य निश्चिन्ता समयोचितं तव हितमहं करिष्ये'। तत् श्रुत्वा सहसा स्वस्थस्तं कालं प्रतिपालयत्यसौ, यत आशालुब्धा जीवाः शरच्छतं विलम्बन्ते। अथ *सुलोचन*श्रेष्ठिकृतदुर्नयालोकक्रुद्धमरुत्कृतकुवायुना भग्नं तत्पोतं शतखण्डमजायत। *ऋद्धिसुन्दरी* सम्यक्त्वमिव सौख्यदं फलकं प्राप्य भववद् भीमम्मोधिं किल लीलया अलङ्घयत्। लब्धप्रागभिन्नबोहित्थमहत्फलयोगतस्तटस्थाने पूर्वं प्राप्तस्य *धर्मस्य* पुण्ययोगेन अमिलत्। ततस्तोषपीयूषसिक्ताभ्यां ताभ्यां स्वानुभूतं स्वं स्वं वृत्तान्तमादितः पृष्टं परस्परं प्रोक्तम्। *सुलोचना*ऽऽपदं

1. सुखम्। 2. आज्ञां करिष्यसि।

श्रुत्वा *धर्मश्रेष्ठी* नितरां विषण्णः, प्रायः *सन्तोऽपकारिण्यपि उपकारिणः स्युः* । पुनरपि धर्मश्रेष्ठी वल्लभां प्रोवाच –"हे प्रिये! अर्हद्–गणधरादयो धन्याः, येषां समीपस्था जीवा अशुभभावनां त्यजन्ति। आवयोः समीपे [1]तस्य धर्मसाधनं तु दूरे, हा हा! प्रत्युत पापपरिणामोऽधिको जातः। अहो! विचित्रा कर्मपरिणतिर्जीवानां, येन निरीहेण तीरदानत आवयोरुपकृतं सोऽपि जीवनसन्देहं तथा धनहानिं च प्राप्तवान्" । इति भावयतोस्तयोर्निरुपमं रूपं दृष्ट्वा तटस्थग्रामाधिपतिश्चमत्कृतश्चिरं चित्ते चिन्तयामास– "कोऽप्ययं सप्रियः सौम्यवदनो मदनोपमः कुतश्चित् कारणादेवाऽत्र समागतः । नूनं कोऽपि देवावतारः । अथास्याऽभ्यागतस्य पुंरत्नस्य गौरवं तथोद्धारं वित्तानुसारतः कुर्वे । यतः –

"[2]कड्ढिज्जंति गयंदा, पंकखुत्ता महागयंदेहिं ।
आवइपडिया सुयणा, सुयणेहिं समुद्धरिज्जंति ॥४६॥"

इति चिन्तयित्वा तेन बहुमानतः सम्भाष्य सप्रसादो निर्विषादो निजावासे सभार्यो *धर्मो* वासितः । स्वभुजार्जितवित्तस्य तस्य स्वस्थचित्तस्य धर्मं कुर्वतः सुखभासुरा वासराः प्रयान्ति । अथ *सुलोचन*श्रेष्ठ्यपि 'पापी' इति कृत्वा ब्रुडन्नब्धिना उत्क्षिप्तो मत्स्यैर्विदीर्णः केनचित् काष्ठेन कष्टात् तटं प्राप्तः । स भ्रमन् क्वचित् पल्ल्यां गतः, परं तत्राऽन्नमप्राप्नुवन् क्षुधितो गृध्रपक्षिवद् मांसलुब्धोऽभूत् । बुभुक्षितः किं न कुर्यात्? । यतः –

---

1. सुलोचनस्य । **2.** कृष्यन्ते गजेन्द्राः, पङ्कनिमग्ना महागजेन्द्रैः ।
आपत्पतिताः सुजनाः, सुजनैः समुद्ध्रियन्ते ॥

बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
आख्याहि भद्रे! प्रियदर्शनस्य, न गङ्गदत्तः, पुनरेति कूपम् ॥४७॥

तस्य मांसस्याऽजीर्णदोषतो वमनं विचलितं, तेन स कष्टकृत्कुष्ठार्दितोऽचिरादभवत् । धर्मघातेन यः कामी नरः कामान् कामयते, सोऽत्यन्तं दुःखी स्यात् *सुलोचनवत्* ।

अन्यदाऽसौ स्थाने स्थाने दुःखक्लान्तो भ्रमंस्तत्रायातः । जलार्थं गतया *ऋद्धिसुन्दर्या* दृष्ट उपलक्षितश्च । तया दयार्द्रया गत्वा स्वपतिर्ज्ञापितः । तेनापि गृहमानीय मानितो भणितश्च सः - "जगज्जनसुखच्छायादातुर्मार्गतरोरिव तवैषा ह्यतिदारुणाऽवस्था कथं वर्त्तते? । अथवा विपदो महतामेव भवन्ति, न लघूनां; यतो राहुग्रहो रवीन्द्वोरेव, न च नक्षत्रग्रहताराणाम्। ततो हे सखे! खेदं मा कार्षीः, धीरचित्तो भव । बहुनाऽपि धनेन तव देहं नीरोगं कुर्वे"। एवमाश्वास्य स सुलोचनः शस्यैरौषधादिकैरुपायैस्ताभ्यां तथोपचरितो यथा शान्तरोगोऽजनि। तयोर्धन्ययोर्जगत्यसामान्यं सौजन्यं दृष्ट्वा त्रपानिमीलल्लोचनः *सुलोचनो* हृदि व्यचिन्तयत् "धात्रा सज्ज़न-चन्दनौ परोपकाराय सृष्टौ, पीडितानां लोकानां यौ सन्तापसमापकौ। मया एतयोर्निर्घृणं दुष्टं व्यवसितम्, अनयोः पुनर्मयि पापिन्यपि कृपापूर्णं मानसम् । सोऽहं जलधेर्जले पतितस्तदा मृतः श्रेयान्, न चैतयोर्लोचनैर्दृष्टोऽधुना जीवन्नपि" । एवं लज्जाकुलस्वान्तोऽधोमुखो मिलितेक्षणः सधर्मेण *धर्मेण* शिष्टगिरा इति पृष्टः -"हे सखे! कुटुम्बविरहोद्भवम् अथवा वित्तव्ययोत्पन्नमथवा व्याधिसम्भवं दुःखं किं कुरुषे? । हे सखे! मयि सहाये संस्थिते जीवतस्ते सुहृत्सङ्गो भविता, घनं धनं च भविता, व्याधिरपि चिरं न स्थाता । यतो ग्रीष्मशोषिताः सरोनद्यो [1]घनैः सद्यः पूर्यन्ते,

क्षीणः [2]शीतमयूखोऽपि पीयूषेण[3] पुनरुपचीयते। स्वकृताद् दुष्कृताद् दुःखं, स्वकीयात् सुकृतात् सुखं, ततस्तयोर्योगे खेदानन्दौ मनागपि न विधेयौ । तस्मात्सुखार्थिभिः सदा धर्मः संसेव्यः । अनन्त-जन्मदुःखकारणं पापं परिहार्यम्"। तदा *सुलोचने*नोक्तम्- "तद् बाढं करोति मे दुःखं हृद्गतशल्यवद् यत् तदा मया गम्भीरे वार्धिनीरे क्षिप्तोऽसि । एतद् ज्वलदुल्मुकवद्[4] मम मनोऽविश्रान्तं दहति । पुनः क्रूरचरित्रेण मया यन्महासती कामिता तस्य पापस्य फलं मया इहैव प्राप्तम् । अहं पापभृतश्चेति [5]प्रेतपतिनापि नादृतः। ततो हे मित्र! यावन्मात्रं त्वया मदर्थमुपचर्यते तावत्त्वं मां पश्चात्तापपावके बाढं क्षिपसि"। इति विविधं प्रलपन्नयम् *ऋद्धिसुन्दर्या* प्रोक्तः – "त्वं धन्योऽसि, यत् पापे पश्चात्तापं करोषि। यतः पापिनः पापं कृत्वा परितोषं प्रपद्यन्ते, सन्तस्तु नैव पापं कुर्वन्ति, कृते च तत्राऽनुतापिनः । अथवाऽत्र तव दोषो न, अज्ञानस्य एतद्विजृम्भितम्। अन्धस्य कूपे निपततः क उपालम्भं प्रयच्छति?। तस्माद् हे सत्पुरुष! त्यजाऽज्ञानम्, इन्द्रियाणि च संवृणु, विषयग्रामं विषवद् हर, हितमाचर । महाविषं भुक्तं वरं, वह्नौ प्रवेशनं वरं, परमिन्द्रियार्त्तानां तत्तद्दुष्कृत्यसेवनं वरं न । यतः –

मातङ्ग-मीन-मधुलिट्-पतङ्ग-हरिणादयः ।
एकैकेन्द्रियदोषेण, लभन्ते वधबन्धनम् ॥४८॥

इन्द्रियैः पञ्चभिर्यत्र, युगपत् पीडिता नराः ।
भवप्रपञ्चे ते भूयः, कथं नाऽञ्चन्ति पञ्चताम्? ॥४९॥

1. मेघैः । 2. चन्द्रः । 3. अमृतेन । 4. उल्मुकम्-अलातम् (मशाल-भाषायां) । 5. यमेन ।

विषयान् मृगतृष्णाभान्[1], दर्शं दर्शं भवे भवे ।
धावन्तो मृगवज्जीवा, म्रियन्ते त्वनवाप्य तान् ॥५०॥

विषयेभ्यो विनिर्मुक्ता, रक्ताः श्रीजिनशासने ।
भवकान्तारमुल्लङ्घ्य, लभन्ते [2]शिवमव्ययम् ॥५१॥"

इति तस्या गिरा स्फुरज्ज्ञानलोचनः *सुलोचनो*ऽब्रवीत् – 'हे सुन्दरि! त्वमेव मे स्वसा, त्वमेव मे जननी, त्वमेव मे धर्माचार्यः। हे उदारवाणि! त्वमादिश, किं करवाण्यहम्?' । ततः सा प्राह– 'अन्यवनितां मुञ्च, शीलवारिणा च स्वं सिञ्च' । 'ओम्' इति प्रतिपन्नाणुव्रतस्तया वर्णितः *सुलोचनो*ऽपि स्वापराधं क्षमयित्वा निजं धाम जगाम । *धर्मो*ऽपि निर्मलधर्मेणोपार्जितवित्तः प्रियान्वितः *ताम्रलिप्तिं पुरीं* प्राप्तः कुलाचारं चिरकालमपालयत् ।

"कष्टे निकृष्टे च सतीषु सुन्दरी,
प्रबोध्य तं श्रेष्ठिनमृद्धिसुन्दरी ।
यथा ररक्षाऽकरणस्य[3] निश्चयं,
यूयं तथा रक्षत चाक्षताः स्त्रियः! ॥५२॥"

इति ऋद्धिसुन्दरीकथा

1. मृगतृष्णासदृशान् । 2. अविनाशिनं मोक्षम् । 3. शीलव्रतस्य ।

।। गुणसुन्दरी-कथा ।।

अथ *गुणसुन्दरी* गुणलावण्यं तारुण्यं प्राप्ता। अस्मिन्नवसरे *वेदशर्मात्मपुत्रेण वेदरुचिना* सा सखीयुता दृष्टा । चिन्तितं च तेन- 'लक्ष्मीवत् चेदियं मृगाक्षी मद्गृहे न वसति तर्हि काशपुष्प-वन्निष्फलं जन्मेदम् । मदनाऽर्दितो [1]वाडवो यावदित्यादि चिन्तयति, तावत्सा बाला लोचनगोचराददृश्यतां गता । ततो ज्ञाताकूतैर्मित्रैः स तु गृहे समानीतः, परं तन्मनोमधुपो *गुणसुन्दरी*मुखकमले एव संलग्नोऽस्ति । ततस्तस्य मित्रैः सकलोदन्तस्तत्पितुर्ज्ञापितः । तन्निशम्य पुत्रस्नेहात् पित्रा गत्वा *सुघोषः* प्रार्थितः सुताम्। ततः *सुघोषेण प्रोक्तम्* –"*श्रावस्त्यां* नगर्यां पुरोहितसुताय *पुण्यशर्मणे*-ऽर्पितास्ति । महतामुक्तं नान्यथा जायते । यतः –

सकृज्जल्पन्ति राजानः, सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः ।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ।।५३।।

श्रुत्वेति जनकोऽव्रजत्, तथापि *वेदरुचिर्गुणसुन्दर्यां* रागं न मुमोच । तदर्थं मन्त्रान् ध्यायति, देवानामुपयाचितानि मानयति, तथापि तामसौ न लेभे । यतः-*पुण्यं विना कुत ईप्सितं लभ्यते?*। अहो कामस्य वामता! यः पराधीने दुर्लभे च रुचिं कारयति, स्वाधीने सुलभे च न हि । इतश्च *श्रावस्ती*तः समेतेन पुरोहितसुतेन सपुण्येन *पुण्यशर्मणा* पुण्याहे सा परिणीता। सुवेदवेदिना विधिना वरविवाहे विहिते *गुणसुन्दरीं* गृहीत्वा *पुण्यशर्मा* स्वपुरीं प्राप ।

1. ब्राह्मणः ।

तद्वीक्ष्य *वेदरुचि*रुन्मत्तो मद्यमत्त इव धत्तूरप्रेरितो वा कार्या-कार्याऽपटुः अचेतन इवाऽभूत् । अथ पित्रादिभिर्वार्यमाणोऽपि सधनं सदनं त्यक्त्वा स दुःखितः साकेतात् *श्रावस्त्याम*चलत् । अन्तरा गिरिदुर्गस्थां पल्लीं प्राप्य *गुणसुन्दरी*सङ्गमाशया स द्विजाधमः पल्लीपतिं सिषेवे । दुष्करं कार्यं कुर्वता तेन पल्लीपति-र्विश्वासमाशु प्रापितः । अन्यदा तं पुरोहितगृहे धाटीक्षेपणं व्यजिज्ञपत्। महौजसा पल्लीशेन चरेभ्योऽवसरे ज्ञाते निशि साक्षेपं तद्गृहे विकटा धाटी चिक्षिपे । भिल्लैः सर्वस्वे गृहीते स द्विजाऽधमः *गुणसुन्दरीं* लात्वा पल्ल्यामानीय सुस्थान-दान-मानैरमानयत् । तां *गुणसुन्दरीं* वाग्भिः कांश्चिद् वासरान् विनोद्य वाडवो[1]ऽवदत्– "हे भद्रे! मच्चित्तं त्वद्गुणैर्हृतं तन्मेऽधुना त्वं देहि, तद्विना सञ्ज्ञयोज्झितो जीवितान्तमिव प्राप्तः । त्वं तु धर्मवती धन्याऽसि, ततो ममोपरि कृपां कुरु । त्वं यद्यपि दूरे संस्थिता, तथापि स्वप्ने जागरणे गृहे दिक्चक्रे जिह्वाग्रे च त्वमेव मे सर्वत्र प्रतिभासि"। तत् श्रुत्वा सा प्राह –'न वेद्मि कस्त्वम्? त्वयाऽहं क्व दृष्टा? कथं च त्वच्चित्तं हृतम्?' । ततस्तेन सर्वो वृत्तान्त उक्तः । तच्छ्रुत्वा तया चिन्तितम् –"नूनं मयि अयं गाढरागवान्, अहं तु निःशरणा एकाकिनी, एते कुग्रामवासिनोऽनार्याः, तथाप्यस्माद् निर्मलं शीलं ममास्तु । यतः –

[2]अयि चलइ, मेरुचूला, उदेइ सूरो वि पच्छिमदिसाए ।
मइलेइ जीयंतीए, नियकुलसीलं न हि कयावि ॥५४॥

1. ब्राह्मण ।

2. अपि चलति मेरुचूला, उदेति सूर्योऽपि पश्चिमदिशायाम् ।
मलिनयति जीवन्त्यां, निजकुलशीलं न हि कदापि ।

चिन्तितं *गुणसुन्दर्या* –"नाऽयं निर्गुणः पुमान्, प्रार्थनायां परायणत्वात् । यत उद्धताः शीलभङ्गे बलात्कारं कुर्वन्ति, ततोऽयं प्रतिबोधनीयो निर्मलं शीलं च पाल्यम् । एवं कृते प्रवर्त्तिन्या अखण्डित आदेशोऽपि भवति । कैतवं विवेकिभिर्न कर्त्तव्यं, परं धर्मार्थं मायापि कार्या" । इति विचार्य सा तं प्रति मधुरमाह –"हे सौम्य! पूर्वं चेत् सरागतां त्वमज्ञापयिष्यस्तदा त्वामासन्नं मुक्त्वा विदेशिनं नाऽहमवरिष्यम् । फलिताम्रं पुरस्त्यक्त्वा दूरे शाल्मलिं कोऽभिलषेत्? । द्वयोः कुमारयोर्[1]योगे कुलद्वयस्य नैर्मल्यं निष्कलङ्कं यशः सुखं च सर्वं सुन्दरं भवति । अधुना चावयोः संयोगे लोके निन्दा स्यात्, प्रेत्य दौर्गत्यदुःखानि च । ततो हे धीरे! विचारय, यतः सन्तो विवेकिनः" । इति तस्या वचनं श्रुत्वा चिन्तितं तेन – 'अहो! एषा मय्येव रागिणी, परं मया पूर्वमस्या मनोभावो मुधा न ज्ञापितः । अथैतदर्थं चायासो महान् मयैवं निर्मितः, ततः क्षुधितो भोजनवत् करस्थामेतां कथं त्यजामि?' । इति ध्यात्वा [2]वाडवोऽवदत् –'हे सुभ्रु! त्वया सत्यमुक्तं, परं त्वां विना नैव जीवामि, यतस्त्वदायत्तं मे जीवितम् । कुलं कलङ्कितमस्तु, निन्दाऽस्तु, प्रेत्य दुर्गतिरप्यस्तु, तथापि त्वं मां स्वसङ्गमसुधारसेन जीवय' । इति बटुकवचनं श्रुत्वा स्वमनसि शीलपालनं निश्चित्य सा पुनरेवं जगाद –'पल्लीयं कल्पवल्ली, चेत् त्वं मत्सङ्गेन जीवसि ततो मया तव हितं कार्यम् । किन्तु मया चतुर्मासीं यावन्मन्त्रसिद्ध्यै ब्रह्मचर्यमादृतम् । ततोऽङ्गे न विभूषा कार्या, पुमान् स्वबन्धुवद् मान्यः, अतस्तावद्विलम्बय' । इति तस्या वचनं श्रुत्वा विप्रेणोक्तम्–

1. कुमारस्य कुमार्याश्च । 2. ब्राह्मण ।

'तेन मन्त्राराधनेन किं भवेत्?' । सा प्राह-'अवैधव्यं धनलाभः पुत्रोत्पत्तिश्च जायते' । इति श्रुत्वा हर्षितो धिग्जातिः 'इदं मदर्थमेव' इति ध्यात्वाऽऽदिष्टवान् । अथ सा सुस्थिता बन्दिमोक्षमिच्छन्ती तत्प्रीत्यै सर्वाणि गृहकार्याणि चकार। शाकपक्वान्नैः सरसां रस-वतीमसौ करोति स्म । क्षैरेयीघृतखण्डादि विप्रेष्टं पर्यवेषयत्। किं बहुना? अल्पैर्दिनैस्तया तथा [1]प्रत्यायितो यथाऽयं वेत्ति स्वचित्ते 'प्रियोऽस्म्यहमेवाऽस्याः' । सापि महासती सदात्मानम् आचाम्लो-नोदरादिभिः शरीरमशोषयत् । स्नान-शृङ्गार-ताम्बूलादि तत्याज। अथ पूर्णेऽवधौ पश्चाद्रात्रौ भृशं पूत्कुर्वती तेन तस्करविप्रेण पृष्टा सती ग्लानेवाऽवदत् – 'मां शूलं भृशं बाधते'। तत् श्रुत्वा तेन मणिमन्त्रौषधादिकैरुपचारः कृतः, परं विलुठन्ती प्रातरुत्थाय गृहकृत्यानि साऽकरोत् । पुनरपि क्रन्दन्ती जगाद - 'हे सुभग! दुर्भगाऽहं तव गृहवासार्हा न, यतो दुर्व्याधिबाधिता । मस्तके वेदना किलाऽत्यन्तम्, अङ्गानि मे ज्वलन्ति, निखिलाऽन्त्राणि छिद्यन्ते, सर्वे सन्धयस्त्रुट्यन्ति ।

न दुःखं विरहो भर्त्तु-र्न दुःखं व्याधिवेदना ।
दुःखाद् दुःखमिदं यत्तु, मया नोपकृतं तव ॥५५॥

मदर्थं क्लिश्यमानेन त्वया किञ्चित् फलं नाप्तं, यथा यत्नतो मृगतृष्णार्थं धावता मृगेण । किन्तु मया पूर्वभवे स्वसुखाय परपीडा कृता, अभ्याख्यानं दत्तं, परेषां वित्तं चोरितं, तथा परस्त्रियं हृत्वा व्रतभङ्गः कृतः, तद्विपाकाऽनलेन ममाङ्गं प्रसह्य दह्यते । वेदना-विधुराऽहं प्राणान् धर्तुं न शक्नोमि, ततः काष्ठानि मे देहि, यथा

1. विश्वासितः ।

तव पुरः कष्ठानि गमयामि" । एवं तां क्रन्दन्तीं प्रेक्ष्य उद्विग्नो द्विजोऽवदत् – 'हे भद्रे! प्राणान् तृणीकृत्य तव पाटवं करिष्ये, दैवाद् दुःखमिदं जातं, ततस्त्वं स्वेच्छया *श्रावस्तीं* गच्छ । तत्र वैद्यौषधादियोगेन नीरोगता भवेत्' । तयोक्तम् – "हे सौम्य! न वेद्मि दुर्जनः किं भणिष्यति ? । भर्त्ता मां कथं प्रत्येति? यतः स सततमीर्ष्यालुः ।

एक दुःखमिदं देहे, द्वितीयं दुर्जनोक्तयः ।
कः शक्नोति द्वयं सोढुं, क्षारक्षेपमिव क्षते ॥५६॥

अथवा अपरैर्विचारैः किम् ? हे विदांवर ! त्वं विचारय । इत्थं दुःखभरार्त्ताया मम मरणमेव शरणम्" । ततो विप्रेणोक्तम्– 'अहं तव दुःखं द्रष्टुं न शक्नोमि, ततो हे मुग्धे ! हुतभुग्ज्वाला-वलिकवलनं कथं द्रष्टुं शक्नोमि ? । ततस्त्वं निःशङ्कं स्वग्रामे व्रज, तव सहायतामहं कुर्वे, यतो जीवन्नरो भद्रशतं प्राप्नोति' । इति गिरं भणन् तयोक्तोऽसौ– 'हे सौम्य! यथासुखं कुरु'। ततः स तां रथमारोप्य पुरासन्ने नीत्वा प्रोवाच –'हे सुभ्रु ! पुरे कथमहं मुखं दर्शयामि ? ततस्त्वं भर्तृगृहे गच्छ, अहमपि त्वयि गतायां सत्यां स्वगृहं चलामि' । इति द्विजोक्तं श्रुत्वा सा चिन्तयामास – 'कथमेनमबोधितं मुञ्चामि ?' । इति ध्यात्वा साऽभ्यधात्– "पर्याप्तमन्यवार्त्ताभिः, अतः परं त्वं मम बान्धवः, ततः पुर्यां त्वं समागच्छ, भगिन्या सह का त्रपा ? । इतस्त्वयि निवृत्ते मम हृदये निर्वृतिः कथम् ? इति गुणदोषौ विभावय" । तत उभावपि गेहं गतौ । दृष्ट्वा स सज्जनः *पुण्यशर्मा* भृशं हृष्टः । ततस्तया

विज्ञप्तम् – 'हे नाथ ! अमुना बन्धुना भिल्लेभ्योऽहं विमोचिता, ततोऽस्य गुरुतरं गौरवं कार्यम्' । इति प्रियावचनं श्रुत्वा *पुण्यशर्मा* तं प्रत्याह –'हे सुन्दर! काकौकसि मरालवद् भिल्लपल्ल्यां तव वासो न योग्यः, तस्माद् हे शिष्टात्मन्! त्वमत्र तिष्ठ, यत्ते न्यूनं तदहं ददामि'। इति रम्यं तद्वाक्यं निशम्य स द्विजो ह्रीणो हृदि दध्यौ – "अहो ! अस्य कोकिलारुतवद् वचनमाधुर्यम्, अहो! अस्य मन्मथविजित्वरं रूपम्, अहो! अस्य दुग्धाब्धिवद् गाम्भीर्यम्, अहो ! अस्य देवाद्रिवत् तुङ्गता, परमनन्यसौजन्यमनेन कुतः सङ्गृहीतमिति न जाने । अस्य महात्मन उपरि मया निरर्थको महानर्थो निर्मितः, अथवा मार्जारो लोलतया दुग्धभृतां दोर्णिं किं न भनक्ति? । इयमपि एनद् नररत्नं मुक्त्वा मयि कापुरुषे किं रमेत ? हंसी सरोजमेव सेवते, परं निम्बं कदापि न सेवते । अहो! विशुद्धया बुद्ध्या एतया निर्मलं शीलं पालितं, ममात्मापि नरककुहरे पतन् निवारितः । अपराधग्रहग्रस्तश्चेद् जीवन् निःसराम्यहं ततो नेदृगपराधं भूयः करिष्यामि, स्मरिष्यामि च महासतीम्" । इतश्च किङ्करैर्विज्ञप्ते समये *पुण्यशर्मणा* पुरोधसा प्रथमतः स तस्करविप्रः अभ्यङ्गोद्वर्त्तन-स्नान-भोजनानि कारितः, पश्चाच्च यथावसरे शय्यां दत्त्वा सुष्वाप । यतः –

सर्वत्र शुचयो धीराः, स्वकर्मबलगर्विताः ।
कुकर्मनिहतात्मानः, पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥५७॥

अथ निर्गन्तुमिच्छन् *वेदरुचि*र्मध्यरात्रे दैवादहिना दष्टः । कृतोऽनेन पूत्कारः । जजागार सर्वोऽपि परिकरः । कृतदीपेन

पुण्यशर्मणा दृष्टः । आहूतैर्मान्त्रिकैः प्रतीकारे क्रियमाणेऽपि रुद्धा वाणी, स्थितं चाऽङ्गं, परं नायं सावधानो बभूव । कालदष्ट इति कृत्वा सर्वैरपि वैद्यैस्त्यक्तोऽसौ । ततो *गुणसुन्दरी-पुण्यशर्माणौ* निराशौ संस्थितौ । अस्मिन्नवसरे गुणसुन्दर्या प्रोक्तम्–'चेन्निष्कलङ्कं मे शीलं तदाऽस्त्वेष निर्विषः' । इति ब्रुवाणया नीरकलशव्यग्रहस्तया卐 सहसा जलेन [1]त्रिः सिक्तः, तदा क्षणेनासौ निर्विषोऽभूत्। अहो शीलस्य माहात्म्यम्! । यतः –

तावद् [2]व्यालबलं च केसरिकुलं तावत्क्षुधा व्याकुलं,
तावद् [3]भोगिभयं जलं च जलधेस्तावद् भृशं [4]भीषणम्।
तावच्चाऽऽमय[5]–चौर–बन्ध–रणभीस्तावल्लसन्त्यग्रयो,
यावन्नैति जगज्जयी हृदि महान् श्रीशीलमन्त्राधिपः॥५८॥

तदाकर्ण्य नगर्या लोको मिलितः । 'हे महासति! चिरं जीव चिरं जीव' इति ब्रुवंश्च कुसुमाञ्जलिपूर्वकं पूजां चकार। अवग् *वेदरुचिः* –'अहो! एतच्चेतसि चित्रम्, मनोज्ञः को वृत्तान्तो यत् पौराः पूजोपस्करपरायणा दृश्यन्ते?'। ततो जनो जगाद – 'त्वं गारुडिकैरपि द्वौ यामौ मुक्तः, परं तव स्वस्रा महासत्या स्वशीलश्रावणाद् जलैः सिक्तः पुनर्जीवितं प्राप्तोऽसि, ततो हर्षसागरैर्नागरैरस्याः पूजा क्रियते' । तत् श्रुत्वा तुष्टो *वेदरुचिः* प्राह –''त्वं पुरा मम भगिन्यभूः, साम्प्रतं प्राणार्पणेन मे त्वमम्बा, पापनिवारणाच्च त्वं मे गुरुः । त्वन्माहात्म्यं मया ज्ञातम् । त्वया मत्पापचेष्टितं

1. वारत्रयम् । **2.** दुष्टगजबलम् । **3.** सर्पभयम् । **4.** भयङ्करम् ।
5. आमयो रोगः । 卐 व्याकुलता पूर्वक हाथ में जलकलश लेकर ।

ज्ञातं, तथापि ममोपकृतिः कृता । ततो हे कोविदे! तव चित्ते किं वर्त्तते?" । तत् श्रुत्वा सतीमतल्लिका[1] *गुणसुन्दरी* प्राह – "परदारगमनं त्यज । हे भ्रातः! इदं व्रतं लात्वा मम स्वस्य चोपकृद् भव । हे बान्धव! अपरस्त्रीगमनं कीर्त्तिवारणं क्षयकारणं आयास-क्लेश-विरोधजननं च, तस्मात्त्वं परिहर । अथवाऽस्य व्रतस्य प्रभावः स्वयं त्वया दृष्टः, तस्माद् हे भ्रातः! किं भूयो भणितैः? सावधानं मनः कृत्वा व्रतं समाचर" । *वेदरुचिरपि* प्रसन्नमना भूत्वा सम्यक् शीलव्रतं प्रपद्य *पुण्यशर्माणं* मोदयित्वा *गुणसुन्दरीं* च क्षमयित्वा स्वस्थमनाः स्वस्थानं प्राप्तः ।

॥ इति स्वकुलद्वयदीपिकानिभाया धर्मप्रसङ्गे गुणसुन्दर्याः कथा ॥

॥ मुनीन्द्रदेशना ॥

एवं परपुरुषपरिहारलक्षणं चतुर्थं व्रतं सम्यक् प्रपाल्य ताश्चतस्रोऽपि [2]दिवि देव्यो बभूवुः । तत्र स्फारस्फुरद्देहद्युतिद्योतित-दिगङ्गणास्ता देव्यो *रतिसुन्दरे* विमाने दिव्यसुखं भुक्त्वा पुण्यशेषे ततश्च्युत्वा इहैव पुर्यां ताः समुत्पन्नाः । *काञ्चनस्य कुबेरस्य धरणस्य पुण्यसारस्य* च गृहे *वसुन्धरायाः पद्मिन्या लक्ष्म्या वसुश्रियश्च* कुक्षितः शुक्तिभ्यो मुक्तावत् सद्वृत्ताः सुता जाताः । *तारा-श्री-विनया-देवी*संज्ञाभिस्ताभिरन्वहं पद्मिनीभिः सरांसीव महेभ्यानां कुलानि भान्ति । सुखाऽधीतकलाः प्राप्तयौवना रूपपावनाः पूर्वभववत् प्रेमसंपन्ना गृहीतद्वादशव्रतास्ताश्चतस्रोऽपि विनयन्धरश्रेष्ठिना तया [3]तीर्थकृद्दानपुण्यशृङ्खलयाऽऽकृष्य परिणीताः।

1. सतीषु उत्कृष्टा । 2. स्वर्गे । 3. वैतालिकभवे, सम्बन्धो द्रष्टव्यः ६२ तमे पत्रे ।

समपुण्यानां समा एव संयोगा भवन्ति । यतः 'सदृशाः सदृशैः सार्द्धं रज्यन्ति' इति लोकेऽपि गीः । पुण्यानुबन्धिपुण्याब्दैः संसिक्तसप्तक्षेत्रजा सस्यश्रीरमूषां[1] महानन्दाय फलिताऽभवत् । हे [2]राजन्, सुरसान्निध्यसंयुक्तानां सद्धर्मभावितचेतसाममूषां यो विघ्नं करोति, सोऽचिरेण विनश्यति । हे राजन्! त्वमपि जानासि, [3]चक्षुर्भ्यां वीक्षितं स्वयं यत् शासनदेवीभिरासां बीभत्स्यदर्शनं कृतम् । हे राजन्! यासां शीलस्फुरद्भासां महासतीनां हुङ्कारेणैव हङ्कितो महाविद्यासमन्वितोऽपि शीघ्रमेव भस्मसाद् भवति । परं सम्यक्त्वगुणतो जातानुकम्पाभिरेताभिस्तवोपरि वैरूप्यं चित्ते न चिन्तितम् । यतः --

यक्ष-राक्षस-विद्याध्रा[4]-स्तन्न कुर्युर्विराधिताः ।
चिन्तिता शीलभङ्गार्थं, यद्विधत्ते महासती ॥५९॥

हे धराधीश! त्वमपि धन्योऽसि, यत्त्वया स्मरगरार्दितः[5] स्वात्मा अचिराच्चेतितः, तेन त्वं कल्याणं लप्स्यसे । तस्माद् हे महीपते! अल्पशीलतरोरित्थं फलं वीक्ष्य प्रौढतरशीलकल्पद्रुमफलास्वादनचातुरी तव कर्तुमुचिता" ।

इति ज्ञानिवागञ्जनेन मिथ्यादृक्पटले गते सर्वभावावभासकं परमोज्ज्वलं सम्यक्त्वरत्नज्योतिः प्राप्य मुनीन्द्रं राजाऽभणत् "हे भगवन्! एषां धन्यानां चारु जीवितम्, येषां वृत्तान्त एकान्तकान्तः सर्वसुखप्रदः । हे भगवन्! अहं तु पापचरितः सतीसन्तापकारको निन्द्यानामपि निन्दनीयो हीनेष्वपि हीनतमोऽहम् । अथवा प्राग्भवे

1. चतसृणां स्त्रीणाम् । 2. श्रीकेतो भूप! । 3. पूर्वमागतः सम्बन्धो द्रष्टव्यः पत्रे ६० तमे । 4. विद्याधराः । 5. कामविषपीडितः ।

मया पुण्यं कृतमस्ति, अन्यथा पूज्यवचनाऽमृतपानं श्रवणयोग्यं कथं स्यात् ? अथवा बहूक्तेन किम् ? भगवन्! भवदुक्तं दुर्धरं शीलव्रतं धरामि यावज्जीवम्" । तस्मिन्नवसरे सभार्यो *विनयन्धरोऽपि* व्यजिज्ञपत् –'हे पूज्याः! भगवद्वचोमन्त्रैर्नष्टोऽस्मद्विषयग्रहः, ततस्त्वत्पदोर्मूले चारित्रं चरितुमिच्छामः' । ततो गुरुभिरुक्तम् – 'भो ! अस्मिन् कार्ये प्रतिबन्धं मा कुरुध्वम्, धन्यानामुचितमेवेदम्'। इति गुरुणोक्ते ते तुष्टा नृपादयो गुरुं नत्वा गेहे गता दीक्षायाः सामग्रीं कर्तुमुद्यताः । परं राज्ञो राज्यार्हः कोऽपि पुत्रो नास्ति, तेन मन्त्रिभिर्भूपतिर्विज्ञप्तः –'हे स्वामिन्! सुतोत्पत्तिं यावद्विलम्बय'। इत्युक्तेऽपि प्रवर्द्धमानवैराग्यो *नृपतिर्वैजयन्तीं* निजां पट्टराज्ञीं षड्मासगर्भसम्पूर्णां निजे राज्येऽभिषिच्य, मन्त्रिसामन्तान् स्वस्वकार्ये नियोज्य, *विनयन्धरं* सङ्क्षम्य, जिनप्रासादेष्वष्टाह्निकमहिमानं कृत्वा, सप्तक्षेत्र्यां धनम् उप्त्वा याचकेभ्यो दानं ददौ । ततो महताऽऽडम्बरेण नृपतिः, सभार्यो *विनयन्धरः*, तथान्येऽपि घनाः पौरजना गुरुसन्निधौ विधिं विधाय दीक्षां जगृहुः ।

सामन्तादिभिराश्वस्ता सा *वैजयन्ती* राज्ञी तु तनयाशया गर्भं पालयामास । अन्यदा सा राज्ञी सम्पूर्णे समये जाते सुप्ते च सकले जने सन्मुहूर्ते सुरूपां सुतां प्रासूत । तां निरीक्ष्याऽचिन्तयद् राज्ञी – ' हा! पापाया मे सुताऽजनि । वैपरीत्यं विधेर्जातम्, अथवा रहसि मन्त्री ज्ञाप्यः' । ततस्तया दास्या मन्त्री ज्ञापितः । तेनापि धीमता तत्क्षणादेव वर्द्धापनं समादिष्टम् । एकान्ते संस्थापिता देवी, ख्यापितं च पुत्रजन्म । तत् श्रुत्वा सामन्ताद्याः सर्वेऽपि महानन्दं प्रपेदिरे । अथ रहःस्थाया नृवेषायाः सुताया यौवनं

वीक्ष्य देव्या मन्त्रिणे प्रोक्तं यथा 'अस्या उचितं कमपि भाग्यमनोहरं वरं पश्य । तत् श्रुत्वाऽमुना सप्रभावो यक्ष आराधितः । स तुष्टोऽवक् – 'तृतीयेऽह्नि मया सुरक्षितं सरःस्थितं पोतनपूःप्रभोः सुतं योग्यं वरं लाभयिष्यसे, सोऽस्याः प्राग्भवस्य भर्त्ता । अस्य देशस्याऽपि स एव स्वामी भविष्यति' । सोऽहं [1]मन्त्री कन्यानृपा-न्वितस्तत्र प्राप्तो यक्षादेशेन । शेषं सर्वमपि त्वया ज्ञातमस्ति । परं दृष्टमात्रेऽपि त्वयि तस्यास्तीव्ररागोऽस्ति। सा कामं कामविकारेण समन्ततः सङ्गृहीताऽस्ति । अपि च –

लोलं लोचनपङ्कजं [2]कृतमलं मन्दप्रभं लज्जया,
भालं स्वेदलवैश्च तारकगणाकीर्णाष्टमीन्दुप्रभम् ।
रोमाञ्चेन तथाऽञ्चिता तनुलता भ्रष्टाक्षरा भारती[3],
साक्षादेव विचक्षणेन भवता तस्या न किं लक्षिता? ॥६०॥

ततो बहुधाऽन्योपकारिणा कुमारेण मेघेन सरांसीव तस्या मनोरथाः पूर्यन्ताम् । हे स्वामिन्! एष परमार्थो मया सम्यग् निवेदितः । अधुना अस्माकमत्रार्थे तत्परा यूयं प्रमाणम्" ।

॥ इति श्रीकेतुनृपकथा ॥

तच्चरित्रामृतं पीत्वा दाक्षिण्यगुणसम्पूर्णः कुमारः श्रेष्ठं मन्त्रिणो वचो मेने । कुमारस्याऽपि प्राग्भवाभ्यासतो रम्यरूपाद्यतिशयाच्च राजकन्यां प्रति प्रेमरागोऽजायत । यतः –

1. पुरुषवेषाया नृपपुत्र्या मतिवर्धननामा मन्त्री । पूर्वमागतः सम्बन्धो द्रष्टव्यः पत्रे ५७ तमे । q कन्या रूपी नृपः । 2. अलम्–अतिशयेन कृतम् । 3. वाणी ।

[1]जाइसराइं नूणं, नयणाइं मणं च हुन्ति लोयस्स ।
पच्चभियाणन्ति जओ, पियापियं दिट्ठमित्तंपि ॥६१॥

तदाकर्ण्य हृष्टया *वैजयन्त्या* राज्या तिथि-नक्षत्र-वार-लग्नबलैः शुभे मुहूर्त्ते विवाहः प्रारम्भि । अतिमान-दान-सन्मान-गीत-नृत्यपुरस्सरं कुमारेण सगौरवं *गुणसेना* परिणीता । *अङ्गदेशस्य* साम्राज्येऽसौ अधिष्ठाय संस्थितः क्षितिमण्डले रविरिव ख्यातोऽभूत् । अन्यदा *वत्सदेशा*धिपेन *समरसिंहेन* राज्ञा तं वृत्तान्तमाकर्ण्य समत्सरं प्रेषितो दूतः समागतः । स च स्वस्वाम्युक्तमिति जजल्प – "भोः स्वयंभूतपार्थिव! शृणु त्वं यथा, क्रमागताऽपि राज्यश्रीः किल कृच्छ्रेण भुज्यते, त्वं तु स्वामिनं शीर्षेऽकृत्वा निर्भयं राज्यश्रियं भुञ्जानो यद् न बिभेषि, हे पान्थ! तत् किं नीराजकं जगत्? । ततस्त्वं मानयाऽऽज्ञां मे, अथवा राज्यं सन्त्यज्य पलायस्व, अथवा रणे सज्जो भव, नाऽतः परस्तुर्योपायोऽस्ति ते" । इति दूतगिरं श्रुत्वा मनसि जातकोपोऽपि बहिर्हसन्नाह – 'स्वयंभुवो मे पृथिवीमन्यः कः प्रसह्य गृह्णीयात्? तस्मादुपायद्वयं दूरान्मुक्त्वा अहं सङ्ग्रामे सज्जोऽस्मि । त्वमेव समरे सिंहतां त्यक्त्वा श्वेव मा भवेः' । इत्यादिदुर्गिरा दूतं विसृज्य चतुरङ्गबलं सन्नह्य चलितो नृपः स्थितश्च स्वदेशसीम्नि । तत्र विस्तीर्णे द्वे सैन्ये मिलिते । परं बहुलारम्भकं समरसिंहनृपं विलोक्य करुणाञ्चितचेतसा कुमारेण कथापितं यथा – ' आवां मत्तौ युध्यावहे, परप्राणपीडया किं प्रयोजनम्?' । तेनाऽपि तथैव

1. जातिस्मराणि नूनं, नयनानि मनश्च भवन्ति लोकस्य ।
प्रत्यभिजानन्ति यतः, प्रियाप्रियं दृष्टमात्रमपि ॥

प्रतिपन्नम्। ततो द्वावप्येतौ सुगम्भीरगजराजवद् गर्जन्तौ परस्परं योद्धुं लग्नौ । तौ द्वौ ढौकमानौ न चुक्षन्तौ, बहुवीरहक्कया हक्कन्तौ, सिंहनादैः पूत्कुर्वन्तौ, परस्परं विविधायुधानि मुञ्चन्तौ, वल्गन्तौ लगन्तौ च लीलया खलु खेलन्तौ तथा युयुधाते यथा मिथः पोत्रिणौ[1]। एवं रणे जायमाने *दैवात्समरसिंहराड्* घातार्त्तो मूर्च्छया मिलितेक्षणो भूमौ पपात । अथ [2]राज्ञा नीरमानाय्य सिक्तो वस्त्रेण च वीजितो बहूपायैः स्वस्थीकृतः । पुनरेवमाश्वासितश्च सः – 'हे राजन्! त्वं नामतः परिणामतश्च सत्यं *समरसिंहः*, मा विषीद, प्रसीद, स्वस्थो भूत्वा हस्ते शस्त्रं गृहाण' । इति स *कमलसेन*-नृपवाक्यं श्रुत्वा "अहो [3]शौण्डीर्यमेतस्य! अहो कलाकौशल्यम्!। तद् राजकुलोद्भवः कोऽप्येष महान् पुमान् । क्वाऽहं वृद्धोऽप्यहो लुब्धः, क्वाऽयं विनयतत्परो लघुः । निर्मानस्य मे भोगासक्तिर्न युक्ता, तेन योगाभ्यासोऽधुना कर्त्तुं श्रेयान्" । इति ध्यात्वा समरसिंहोऽवक् – 'हे महासत्त्व! मानघातेन मृतकतुल्येन मया सह त्वया रणः कर्त्तुं न युज्यते, ततोऽष्टाभिः कन्याभिः सह मद्राज्यं गृहाण । अहं तु परत्र हितमुत्तमं चारित्रं ग्रहीष्यामि'। तदा *कमलसेनेनोक्तम्* –'हे महीप! क्रमागतं राज्यं कुरु, हे नृपपुङ्गव! समये परलोकहितं साध्यम्' । इति बहुधोक्तोऽपि वैराग्यरसासिक्तः *समरसिंह*नृपस्तस्मै राज्यं कन्याश्च वितीर्य *सुधर्माचार्य*सन्निधौ महताऽऽडम्बरेण प्राव्राजीत् । ततः सीमसामन्तमण्डलैस्ताः कन्या विवाहिताः । अथ लब्धद्वितीय-राज्यश्रीः *कमलसेन*राट् *चम्पापुरीं* प्राप्तः प्रजाः पालयति।

1. सूकरौ । **2.** कमलसेनेन नृपेण । **3.** शौर्यम् ।

अस्मिन्नवसरे *पोतनपुरात् शत्रुञ्जय*नृपतेर्दूतः समागत्य प्रणनाम । ततः सभासीनेन भूभुजा पित्रोः प्रवृत्तिं स पृष्टः । सोऽपि शिष्टधीः स्पष्टमाचष्ट –"हे स्वामिन्! निर्निमित्तं पित्रोरनुज्ञां विना च त्वयि क्वापि निर्गते नागराः सर्वे वसन्तयात्रां त्यक्त्वा हाहाकारकराः खलु त्यक्ताखिलाहाराः शोकाकुला जाताः । तव वियोगेन जनकादिभिर्यादृग् दुःखमनुभूतं तादृग् नरके नारकाणां भवेत् । साम्प्रतं केनाऽपि वैतालिकेन स्तूयमानान् तव गुणान् श्रुत्वा स्वास्थ्यवतां तेषामादेशादहमागतः । अतो देवं विज्ञपयामि-दुःखदावाग्निदग्धयोः पित्रोर्निर्वापणं कार्यं निजदर्शनवारिणा" । श्रुत्वा नृपेणेति चिन्तितम् – "अहो! अतिनिबिडो रागः पित्रोः, इयत्यपि काले गते नाऽहं विस्मृतः । अहो! अपत्यप्रेम दुर्घटम्, अहं तु कुक्षिम्भरिर्भूत्वा पितरौ विस्मृत्य स्थितः । ततस्तत्र गत्वा निजर्द्धिदर्शनेन तयोर्मनोमुदं कुर्वे" । इति चित्ते निश्चित्य दूतस्य वचनं प्रतिपद्य च मतिवर्द्धनमुख्यान् मन्त्रिणो राज्ये नियोज्य, प्रस्थानमङ्गलं कृत्वा, बन्धुरैः सिन्धुभिर्हेषद्भिर्हयैः, कृतानन्दैः स्यन्दनैः गतापद्भिश्च पत्तिभिर्वृतः सन्मुहूर्त्ते नृपतिरचलत् । किं कुर्वन्? उद्दण्डपुण्डरीकाद्यैस्तपनातपं वारयन्, वाद्यमानघनातोद्यैरभितो नभः पूरयन्, गर्जद्भिर्वारणैरुच्चैर्हेषद्भिर्हयैर्भृशं रथानां चक्रचीत्कारैश्च दिक्चक्रं चालयन्निव, पथि प्राप्तैः पार्थिवैः प्राभृतैर्भृशं पूज्यमानः, कुतूहलोत्तालैर्लोकैः पदे पदे प्रेक्ष्यमाणः, चैत्येषु रचयन्नर्चां, दानाद्यैर्मा-नयन् मुनीन्, जैनान् जीर्णप्रासादानुद्धरन्, दुःखितांश्चाऽनुकम्पयन् दीप्तिमान् कमलसेनराड् यावत्पितुः पुरपरिसरं प्राप्तस्तावद् ज्ञातोदन्तः

पिता मुदाऽन्वितः सम्मुखमभ्येत्य विरहसन्तप्तं निजं हृदयं चन्दन-शीतलं पुत्रवक्षःस्थलं श्लिष्ट्वा निर्वापितवान् । अथ गजराज-मस्तकस्थपितुरर्द्धासने स्थितः सधवस्त्रीभिर्वीक्ष्यमाणः श्वेतचामर-वीजितः पौराणां च प्रतिद्वारमादरादर्घं प्रतीच्छन्, पुरसरसि पौरमुखा-ब्जानि भास्वानिव विकाशयन्, वाद्येषु वाद्यमानेषु स राजसौधं जगाम । हर्षाश्रुवारिभिर्जनन्या पादप्रणतः स्नपितः । हृदयस्थं चिरकालीनं दुःखं वचनच्छलान्निष्काश्य जनन्योक्तम् -'हे वत्स! वज्रवत्कठोराऽहं, यतस्त्वां विना जीविता । हे वत्स! मद्भाग्यात्त्वं मिलितोऽसि । त्वं वटशाखिवत् चिरं पुत्र-कलत्रराज्यलक्ष्मी-भिर्वर्द्धस्व, चिरं जीव' । इति स्वमातुराशिषं लात्वा तेनाऽन्य-मातरोऽपि नताः । ततः प्रधानादिः सकलोऽपि परिवारः सत्कृतः। अथ प्रस्तावे पित्रा निर्गमनकारणमप्रच्छि । ततोऽलङ्घ्य-वाक् पितेति कृत्वा स निजां कथां कथयामास । शब्दं श्रुत्वा यथाऽधावि, यथा चाऽमुना राज्याद्याप्तं, तथा सर्वमाकर्ण्य रोमाञ्चक-ञ्चुको नृपतिः प्रोवाच – "अहो! कल्पद्रुम-कामगवीचिन्तामणिभ्योऽपि विशेषवान् सकलशर्मदाता जगत्ययं धर्मो जयति, समानपाणिपादानां पुंसां यस्याऽनुभावतः सङ्ख्यातीता अचिन्तिता निरापदः सम्पदः स्युः । यतः –

धर्माज्जन्म कुले कलङ्कविकले जातिः सुधर्मात् परा,
धर्मादायुरखण्डितं गुरुबलं धर्माच्च नीरोगता ।
धर्माद्वित्तमनिन्दितं निरुपमा भोगाः सुकीर्त्तिः सुधीः
धर्मादेव च देहिनां प्रभवतः स्वर्गापवर्गावपि ॥६२॥

कुलं विश्वश्लाघ्यं वपुरपगदं जातिरमला,
सुरूपं सौभाग्यं ललितललना भोग्यकमला ।
चिरायुस्तारुण्यं बलमविकलं स्थानमतुलं,
यदन्यच्च श्रेयो भवति भविनां धर्मत इदम् ॥६३॥

तस्मान्मनुष्यावताराद्धर्मोपार्जनं श्रेयः । यतः –

पङ्कात्पद्मं मृदः स्वर्णं, नवनीतं च तक्रतः ।
रत्नं यथोपलात्सारं, नृत्वाद् धर्मार्जनं तथा ॥६४॥

ततोऽनर्जितधर्माणामस्माकं जर्जरे राज्यपञ्जरे स्थातुं नोचितम् । यतः –

निर्दन्तः करटी[1] हयो गतजवश्चन्द्रं[2] विना शर्वरी[3],
निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तरुः ।
सूपं निर्लवणं सुतो गतगुणश्चारित्रहीनो यति-
र्निर्देवं भवनं न राजति तथा धर्मं विना मानवः ॥६५॥

इति ध्यात्वा तदैव दैवज्ञाद् मुहूर्त्तमवधार्य पित्रा महोत्सव-पुरःसरं *कमलसेनो* राज्ये स्थापितः । अथ *शत्रुञ्जयो* महाराजः कर्मशत्रुजयोद्यतः सर्वसङ्गविवर्जितः *शीलन्धर*गुरोः पार्श्वे प्राव्राजीत्। स महाव्रती महाध्यानी महाशान्तो महामुनिः केवलज्ञानं सम्प्राप्य शिवमहापुरीं ययौ । अथ *कमलसेनोऽपि* राजा सूर्यवत्सुप्रतापवान्, नूतनेन्दुवत् प्रत्यहं वर्द्धमानोरुमण्डलः, साम्राज्यलक्ष्मीं भुञ्जानो जिनशासननिश्चलो वटवृक्षवत् पुत्र-पुत्र्याद्यैः परमविस्तरं प्राप्तः । क्रमाच्च वयःपरिणतौ सत्यां भोग-राज्य-समृद्धिषु विरक्तत्वं प्राप्तः।

1. हस्ती । 2. वेगरहितः । 3. रात्रिः ।

यतः सतामेवं युक्तमेव, वृक्षस्यापि पल्लवानां क्रमाद् विरागता जायते, अतो यः सचेतनोऽपि भूत्वा वैराग्यं न प्राप्नोति, स काष्ठादपि बालिशः । अथ ग्रीष्मोष्मसन्तापतप्तं लोकमवेक्ष्य तमाश्वासयितुं [1]पर्जन्यकालोऽवतीर्णवान्। यस्मिन् कलिकालोपमे वर्षर्त्तौ मलिनैर्घनैरुदयः प्राप्तः, स्त्रीवच्चपलाः सर्वतश्चञ्चला विद्युतश्चेलुः। शुष्कसरोलीनान् मीनान् जीवयितुं, चातकान् प्रीणयितुं, प्रोषितानां[2] वञ्चनाय च घनपटलं सज्जीभूतम् । अथ निरन्तरं स्थूलाम्बुधाराभिः पतन्तीभिर्जगत् समनिम्नोन्नतदेशं एकार्णवं जातम् । ईदृशे घने वृष्टे सर्वोऽपि लोको हृष्टः । अथ *कमलसेन*भूपालो वर्षालीलां नदीपूरं च विलोकयितुं गजारूढः प्रजान्वितो जगाम, तत्र सोऽभितः पश्यति । इतश्च पर्वतनिर्झरैरभितो वर्द्धमाना, द्वे तटे खनन्ती, तीरतरूनुन्मूलयन्ती, निपतत्कूलधूलिभिर्जलं पङ्किलं कुर्वती, हिंस्र सत्त्वान् वहन्ती, भग्नयानौघान् पथिकान् [3]परासुतां प्रापयन्ती, [4]तारकानपि निमज्जनोन्मज्जनानि कारयन्ती, सर्वजीवानामपकारिणी च भयङ्करा सरित् प्रसृता । सकौतुकं विलोकयन्तोऽपि जना यां दृष्ट्वा दूरे पलायिताः । ततः क्षणान्तरे सा तरङ्गिणी न पातयति कूले, न च तरूनुन्मूलयति, स्वस्थनीरा सुखोत्तारा च जाता । तस्यां जनाः सुखं स्नान्ति, सुखं जलं पिबन्ति, लीलया क्रीडन्ति, बाला वृद्धा युवानोऽपि पथिकाः सुखेनोत्तरन्ति च । तस्मिन्नवसरे *कमलसेन*राट् तादृशीं [5]तरङ्गिणीचेष्टां विलोक्य जातवैराग्यो व्यचिन्तयत् – "अहो! [6]धुनेरिव धनिनां स्थितिः,

1. वर्षाकालः । 2. प्रवासिनाम् । 3. मरणम् । 4. तरणक्रियाकुशलान् ।
5. नदीचेष्टाम् । 6. नद्या इव ।

वर्द्धते हीयते च नदीतुल्यो जनस्तावत् । संपत्तिविस्तरपूरो वर्द्धमानः स्वस्य परस्य च पीडकः स्यात्, कलुषीक्रियते चाऽऽत्मा ततो दुष्कर्मधूलिभिः । तथाऽत्रामुत्र नानाऽनर्थपरम्परां प्राप्नोति । तेन सुसंवरः प्रसन्नात्मा स्वमर्यादास्थितो नरः सरिद्वत् सततं स्वस्य परेषां च सुखावहः । ये च राजानोऽनेकान् देशान् वशीकुर्वन्ति, रणे च वैरिगणान् घ्नन्ति, सौधानि बहूनि निर्मापयन्ति; तेषामपि निद्रायै एको मञ्चको, वाहने रथो, वाजी, करी चैको भोग्यो भवति । तथा शय्यागल्लोपधानकं शृङ्गारहारकान्तादि च भोग्यं वस्तु मितमेव भवति । यत्तु लोभाभिभृतेन जन्तुना देश-कोष-गज-वाजि-रथा-ऽङ्गना-धान्य-द्विपद-चतुष्पदादयो मेल्यन्ते, तान् सर्वानन्ये जना भुञ्जते, अस्य तु केवलं महारम्भा एव । व्यवहारा राज्यवत्सर्वे विनश्वराः, परार्थस्तु स्वभावसिद्धान्नमिव संक्षेप एव । एवमसौ सर्वसम्पत्तिविस्तरो मुधाऽभिमानकारणमेव । ततस्ते धन्या जगन्मान्या यैर्विदांवरैरसौ परिग्रहोऽत्याजि" । इति भावयन् नृपः सहसा संवेगमागतः, विषमिश्राशनोपमे च विषयासङ्गे विरक्तो बभूव । ततो निजगेहे गत्वा *गुणसेनाभवं* सुतं *सुषेणं* कुमारोत्तमं राज्यपदे संस्थाप्य *गुणसेना*द्यवरोध[1]-सामन्त-सचिवादिकैरनेकैः सार्द्धं *कमलसेन*भूपालः *श्रीशीलन्धरसूरि*शिष्य*श्रीसंयमसिंह*सद्गुरोः पार्श्वे धर्मदेशनां निशम्य प्रवर्द्धमानपरिणामः सपरिकरश्चारित्रं प्रतिपन्नः। गृहीतद्विविधशिक्षः स *कमलसेन*राजर्षिः षष्ठा-ऽष्टम-दशम-द्वादशतपोभरैः स्वीयं शरीरं शोषयन्, मुनिवृन्दैः स्तूयमानः, सद्गुरुचरणाम्भोजे भ्रमरोपमः, सर्वदा प्रमादरहितो बन्धूनामिव

1. अन्तपुरः

साधूनां नित्यं वैयावृत्त्यं करोति । कृत्ये ज्ञापिते हृदि तुष्यति । स्मरणादिसर्वकृत्येषु सोद्यमो बभूव ।

चरित्वा चिरं संयमं सत्त्वशाली,
कृशीभूतगात्रः सुसंलेखनायाः ।
विमुच्याऽशनं देहगेहं विहाया-ऽगमत्
पञ्चमे ब्रह्मलोके स कल्पे ॥६६॥

उषित इह [1]दशोद्यद्धाभरः सागराणि,
प्रमुदितसुररामाक्रीडनाक्षिप्तचित्तः ।
इयमपि गुणसेना चारुचारित्रयोगात्,
समजनि ननु देवस्तस्य मैत्रीं प्रपन्नः ॥६७॥

नित्यं तप-संयमयोः प्रयत्नं, करोति यो निर्मलशीललीलः ।
श्रीशङ्खराजेव सुबोधलक्ष्मीं, भवे भवेऽसौ लभतेऽत्र भव्यः॥६८॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते
श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे कमलसेननृप-गुणसेनाराज्ञीकथानिरूपको
द्वितीयः सर्गः ।

1. उद्यत्कान्तिसमूहः स देव इह पञ्चमे कल्पे ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि उषित, इति सम्बन्धः ।

तृतीयः सर्गः

मेघनृपः	- मथुरानृपः	मुक्तावली	- मेघनृपपत्नी
	- देवसिंह-जनकः	नरसिंहः	- देवसिंहपुत्रः
देवसिंहः	- मेघनृप-पुत्रः,	जितशत्रुः	- विशाला-नृपः
	- पृथ्वीचन्द्र जीवः	कनकसुन्दरी	- जितशत्रुपुत्री,
कनकमञ्जरी	- जितशत्रुपत्नी		- गुणसागर-जीवः

तदन्तर्गत-सुरगुरु-सूरि-कथित-शुक-युगलस्य दृष्टान्तः पृ. ११६-१४६

प्रथम-भवः :- शुक - शुकी

द्वितीय-भवः

नरशेखरनृपः	- श्रीमन्दरपुर-नृपः	कीर्तिमतीराज्ञी	- नरशेखरनृपपत्नी
	- निधिकुण्डलपिता	रत्नचूडः	- विजयावतीनृपः
निधिकुण्डलः	- नरशेखरपुत्रः	सुवप्रा	- रत्नचूडपत्नी
	- (शुक-जीवः)	पुरन्दरयशा	- रत्नचूडपुत्री, (शुकी-जीवः)
चतुरः	- निधिकुण्डलमित्रः	मतिसागर	- रत्नचूडनृपस्य मन्त्री

तृतीय-भवः :- सौधर्म देवलोके सुरमिथुनः

चतुर्थ-भव :

महासेनः	- विजयाधिपः,	पुण्यकेतुः	- परमभूषणपुरनृपः
	- ललिताङ्गपिता		- उन्मादयती-जनकः
चन्द्राभा	- महासेन-पत्नी	रत्नमाला	- पुण्यकेतु-पत्नी
ललिताङ्गः	- महासेन-पुत्रः (शुक जीवः)	उन्मादयती	- पुण्यकेतुपुत्री (शुकी जीवः)

पञ्चम-भवः :- ईशान देवलोके

षष्ठ-भव :

सुरतेजा	- विश्वपुरीनाथः	रविकिरणः	- सुरसन्दरपुरनृपः
	- देवसेनपिता		- चन्द्रकान्ता-जनकः
पुष्पावती	- सुरतेजः-पत्नी	रविकान्ता	- रविकिरण-पत्नी
देवसेनः	- सुरतेजः-पुत्रः (शुक जीवः)	चन्द्रकान्ता	- रविकिरण-पुत्री, (शुकी जीवः)
शूरसेनः	- देवसेन पुत्रः	प्रियङ्करी	- चन्द्रकान्ता-सखी

सप्तम-भवः :- पञ्चम सुरलोकः

अष्टम-भवः

श्रीवाहनः	- गजपुराधिपः,	बुद्धिसागरः	- गजपुर-मन्त्री
	- प्रियङ्करपिता		- मतिसागर-पिता
लक्ष्मीश्री	- श्रीवाहन-पत्नी	सुदत्ता	- बुद्धिसागर-पत्नी
प्रियङ्करः	- श्रीवाहनपुत्रः (शुक-जीवः)	मतिसागर	- बुद्धिसागर-पुत्रः (शुकी-जीवः)

तृतीयः सर्गः । (पञ्चम-षष्ठौ भवौ)

प्रणम्य परया भक्त्या, पार्श्वनाथं जिनोत्तमम् ।
तृतीयसर्गसम्बन्धः, प्रोच्यते गद्यभाषया ॥१॥

अथाऽस्ति स्वस्तिसम्पन्ने भारतश्रियास्तिलके *शूरसेनाभिधे* देशे सुस्थिरा *मथुरा पुरी* । यस्यां दण्डो देवकुलेषु, बन्धनं केशधम्मिल्लेषु, मारणं शा[r]रिपाशेषु, करपीडनं विवाहेषु, स्नेहहानिः[1] प्रदीपेषु, त्रासोऽशुद्धमणिषु, तिलकणपीडने खलश्रुतिः, प्रतिमन्दिरेषु कोरणिः, परं लोकेषु कदापि नास्ति । तस्यां श्री *मेघराजा* राज्यं करोति । यो रूपेण कामसमानः, दानेन कल्पद्रुः, पराक्रमेण च सिंहतुल्यः । तस्य मुक्तावलिरिव सुवृत्ता[2] [3]गुणसङ्गता विशदा च *मुक्तावली*नाम्नी राज्ञी, परं सा [4]छिद्रान्वेषिणी नास्ति । विद्युत्सदृश्या एतया महीनेता मेघो मेघवत् कुलव्योम द्योतयन् सद्दानवारि वर्षन् भृशं शुशुभे । अन्यदा राज्ञा राजसभां विसृज्य वासवेश्म गतेन सा *मुक्तावली* राज्ञी रुदती अधोमुखी हस्तन्यस्तगल्ला च वीक्षिता । ततो नृपेण सानुनयं दुःखकारणं पृष्टा –'हे सुभ्रु! तव किं दुःखं? केन वा कृतस्ते पराभवः? कस्मिन् वा वस्तुनि वाञ्छा ते? । तवेच्छापूरकोऽस्म्यहम्' । ततः सा गाढदुःखभराक्रान्ता

r शतरंज के मोहरे । **1.** तैलक्षयः । **2.** सुचरित्रा, सुवर्तुला च । **3.** गाम्भीर्यादिगुणयुक्ता, दवरकयुक्ता च । **4.** यथा मौक्तिकमाला दवरकद्वारेण मुक्तानां छिद्रान्वेषिणी-रन्ध्रान्वेषिणी, न तथैषा मुक्तावली राज्ञी परच्छिद्रान्वेषिणी ।

गद्गदस्वरमवदत् -- 'हे देव! जगज्जनप्रसिद्धमिदं किं स्वयं न वेत्सि?'। नृपेणोक्तम् -- 'हे देवि! तवोक्तं न वेद्मि, तेन त्वं प्रकटं वद' । ततो राज्ञ्या प्रोक्तम् -- "हे महाराज! किमिदं सुभाषितं पूर्वं न श्रुतम्? --

[1]को नाम गुणमरट्टो, सोहग्गमडप्फरो य को तेसिं? ।
का या सुहासिया या, पियाण जेसिं सुओ नत्थि ॥२॥

[2]धावंतखलंतपडंतयाइं धूलीए धूसरंगाइं ।
धन्नाण रमंति घरं-गणेसु दो तिन्नि डिंभाइं ॥३॥

ततो ममैकपुत्रेणाऽपि मुक्ताया जीवितेन किम्? । स्वयं वा किं न वेत्सि?" । इत्युक्त्वा सा रुदती सस्नेहं भूभुजोदिता - "हे देवि! दैवायत्तमिदं, न विक्रमस्य गोचरे । यतः -

[3]चाएण बलेण परक्कमेण मंतोसहाइजुत्तीहिं ।
विउसेहि वि विहिविहियं, न तीरए अन्नहा काउं ॥४॥

ततो हे प्रिये! [4]निष्प्रतिकारेणाऽमुना शोकेन किम्?" । देव्या प्रोक्तम् -"हे देव! नैतदेकान्तम् । यतो भवन्मनः सम्यक्कान्तं, तेन कस्यापि भवच्चित्ते वाञ्छा नास्ति । परं महाराज! मणि-मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रादेर्दैवगतस्य प्रभावोऽचिन्त्यः । तदर्चने च समग्राऽपि

1. को नाम गुणगर्वः, सौभाग्याहङ्कारश्च कस्तेषात्? ।
का वा सुभाषिता वा, प्रियाणां येषां सुतो नास्ति ॥
2. धावत्-स्खलत्-पतन्तो धूल्या धूसराङ्गाः।
धन्यानां रमन्ते गृहाङ्गणेषु द्वौ त्रयो डिम्भाः ॥
3. त्यागेन बलेन पराक्रमेण मन्त्रौषधादियुक्तिभिः ।
विद्वद्भिरपि विधिविहितं, न शक्यतेऽन्यथा कर्तुम् ।
4. उपायरहितेन ।

सामग्री त्वदधीना वर्त्तते, तथापि मयि तव कारुण्यं नोत्पद्यते, ततो ममैव पापविलसितम्" । इति श्रुत्वा तस्या निश्चयं मत्वा प्रोक्तं राज्ञा –'हे प्रिये! तवेष्टं करोमि निश्चितं, मा विषादं कुरु' । इत्युक्त्वा चिन्तितं नृपेण –'मणि–मन्त्राराधनेन किम्? । कस्यचिद् देवस्याराधनं करोमि, येन शीघ्रं कार्यं सिध्येत् । इति ध्यात्वा करे कृपाणं कृत्वा कृष्णचतुर्दश्यां [1]पितृवने गत्वाऽब्रवीत् –'भो भो भूत–पिशाचकाः! शृणुत यूयम्, अहं स्वदेहस्थं महामांसं विक्रीणामि, ततो ममैकम् अङ्गजं दत्त्वा यथेच्छं प्रतीच्छत' । ततः केनापि भूतेन व्योम्नि प्रोक्तम् –'हे महानृप! मांसतः पुत्रप्राप्तिः कुतः स्यात्? मस्तकेन तु जातुचित् स्यात्' । नृपोऽप्याह –'तद् ददामि' । इति वामहस्तेन वेणीं गृहीत्वा यावदसिना स्वशिरश्छिनत्ति, तावद् देवेन बाहुना धृत्वोक्तम् –'हे श्रेष्ठ! साहसं मा कुरु, पुत्रस्ते ध्रुवं भविष्यति' । ततो नृपेणोक्तम् –'यद्येवं तर्हि मूल्यं मे शिरो लाहि'। तदा देवेनोक्तम् –'हे नृपोत्तम! साहसाद् अन्यन्मूल्यं नास्ति, तव साहसेन तुष्टोऽस्मि । तत्र स्वयं प्रत्ययं जानीहि–तव देवी अद्यैव निशि सत्केसरिकिशोरकं स्वोत्सङ्गगतं दृष्ट्वा तत्क्षणाद् जागरिष्यति" । इति देवोक्तिं सम्मान्य राजा निजगृहे गतः ।

अथ *कमलसेन*देवस्य जीवो ब्रह्मलोकात् च्युतो निशि *मुक्तावलीराज्ञी*कुक्षिशुक्तौ मौक्तिकाभोऽवतीर्णवान् । साऽथ सिंहस्वप्नं दृष्ट्वा राजानं व्यजिज्ञपत् । राज्ञाऽपि सुरगिरोऽनुसारेण उक्तम् --'हे प्रिये! ते सिंहवद् विक्रमी पुत्रो भविष्यति'। तत्

1. श्मशाने ।

श्रुत्वा हृष्टा राज्ञी गर्भं पुपोष । पूर्णे समये सुमुहूर्ते [1]दुःखदारकं मुदः कारकं [2]दारकं सा प्रसूता। तस्मिन्नवसरे राज्ञा विश्वविस्मापकं वर्द्धापनं कृतम् । यथा –

[3]गलन्मानिनिर्मानसम्मानदानं[4], लसद्गर्वगन्धर्वसर्वस्वगानम् ।
[5]स्फुरद्वारनारीकृताऽपूर्वनृत्यं, सुवर्द्धापनं तत्र चित्रं प्रवृत्तम् ॥५॥

अथ द्वादशेऽहनि पित्राऽस्य देवोक्तसिंहस्वप्नानुसारतो *देवसिंह* इति नाम कृतम् । क्रमेण वयसा प्रवर्द्धमानः सुगृहीतकला-सारश्चारुतारुण्यसङ्गतः पौरपरिवृतः कलाकुशलो गीत-वादित्र-शास्त्रार्थचिन्तनपरो मागधैः स्तूयमानः कुमारो देवकुमार इव विलसति ।

इतश्च *गुणसेना*जीवोऽपि पञ्चमस्वर्गात् च्युत्वा *अवन्ति*जनपदे अर्थेन विशालायां *विशालापुर्यां जितशत्रुमहीपतेः कनकमञ्जर्या* राज्ञ्यां धाम्नाऽद्भुता *कनकसुन्दरी* नाम्ना सुता जाता । सा क्रमेण वर्धमाना सकलाः कला जानती नवयौवनमाप्ताऽपि विषयेषु विरक्ताऽभूत् । ततो विदुषीभिः सखीभिः कामोज्जागरुके कथारसे कथ्यमानेऽपि यः कामोपमोऽपि नरः सोऽपि तस्यै नाम्नाऽपि न रोचते । ततो विवाहविमुखां तां सुमुखीं वीक्ष्य विषादवान् नृपो मन्त्रीशान् तद्विवाहने उपायान् पप्रच्छ । ततो मन्त्रिभिरूचे –"हे महाराज! एतस्याः पूर्वं क्वापि देवसमाने पुंरत्ने प्रेमप्राग्भारः सम्भवति, तेन हेतुना सा नाऽन्यत्र पुंसि रज्यते । अतो राजपुत्राणां रूपकाणि चित्रयित्वा दर्श्यन्ते, तन्मध्ये प्राक्पतिरूपं प्रेक्ष्य नूनमस्या

1. दुःखनाशकम् । **2.** पुत्रम् । **3.** अत्र मानिनो–दानगर्विष्ठाः । **4.** निर्मानंपरिमाणरहितम् । **5.** वारनारी गणिका ।

रागो भविता। यतः –

[1]नामंपि सुयं पडिरूवयंपि दिट्ठं मणिट्ठणिट्ठाणं ।
जम्मंतरियाणि जए, रायविराए पयासेइ ॥६॥

इति प्रधानोक्तिं श्रुत्वा राज्ञा चित्रकरदारका आहूता आज्ञप्ताश्च । ते सर्वराज्येषु गत्वा राजकुमाराणां प्रतिच्छन्दान् लिखित्वा तान् लात्वा अस्या अन्तिके ढुढौकिरे । 'कार्यविघ्नकरैः किमेभिः?' इतीर्ष्यया सा दूरात् तत्याज । अथ *मथुरातः* समागताश्चतुराश्चित्रकृत्सुताः सुरूपं रूपकं किञ्चिद् राज्ञः पूर्वमदर्शयन् । राजा चिरं करे कृत्वा तल्लावण्यामृतं पिबन् अत्यद्भुतरसान्वितः शिरो धुन्वन् एवमब्रवीत् – "अहो रूपस्य सर्वस्वम्! अहो विधेः करकौशल्यम् । दृष्ट्वाऽमुं स्मरोऽङ्गवानपि अनङ्गो जातः । सत्येयं वाणी यद् विश्वे वराद् वरमस्ति । यतः –

वाजि–वारण–लोहानां, काष्ठ–पाषाण–वाससाम् ।
नारी–पुरुष–तोयाना–मन्तरं महदन्तरम् ॥७॥

ततोऽस्मिन्नेकान्तकान्ते वरे चेन्मम नन्दिनी रज्यति, तदा गुणाऽगुणज्ञा सा, अन्यथा तु यावज्जीवं जडा" । इति चिन्तयन् चित्रकरान् नृपोऽपृच्छत् किञ्चिद्विलम्बेनाऽऽगमनकारणम् । 'योऽस्मिन् पट्टके लिखितः स क्व दृष्टः? सुरो विद्याधरोऽथवा?'। ततस्तैः प्रोक्तम् – "न चैष सुरो न च विद्याधरः, किन्तु *मथुराया मेघमहीपस्य देवसिंहाभिधः* सुतः । हे देव! चिरागमनस्य कारणं

1. नामापि श्रुतं प्रतिरूपकमपि दृष्टं मन इष्टाऽनिष्टयोः ।
जन्मान्तरिकौ जगति, राग–विरागौ प्रकाशयति ॥

ह्रिया वक्तुं न शक्नुमः । यतः कदाचित् सभागतो दृष्टः, अन्यदा अश्वान् वाहयंश्च दृष्टः, कदाचिद्वीणां वादयन्, कदाचिद्राधावेधं कुर्वन् दृष्टः । करा-ऽङ्घ्रि-दृष्ट्यादिस्थानानि तस्याश्चर्यकराण्यलं, बहुशो दृष्टान्यपि खलु नोपलक्षयितुं शक्यन्ते । कथमपि कृतम् इयद्दिनैरिदं तद्रूपं, परं तस्य स्वाभाविकरूपस्य लक्षांशोऽपि नास्त्यस्मिन् चित्रपट्टके" । इति चित्रकरान्तिके श्रुत्वा राज्ञा सा पट्टिका पुत्र्या मुदे प्रेषिता । तया तु सा पट्टिका पूर्वं ताताज्ञया कौतुकाच्च मनोविनोदार्थं गृहीता । ततः स्मरसात् तया विस्मयात् सम्यग् अदर्शि । तदा रोमाञ्चिताङ्गी सा हसन्ती निःश्वसती हुङ्कारं कुर्वती भालगलत्स्वेदा सखीं शनैरवदत् – 'हे सखि! कस्येदं रूपकं? कुत्रत्योऽसौ पुमान्?'। सख्याह – 'त्वां निर्मातुं विधिस्तं पुराऽघटयत्'। इति सखीवचनं श्रुत्वा विलक्षा सा ईषद् हसित्वाऽवदत्- 'हे सखि! मादृश्या अस्य प्राप्तिः कथं भवेत्?' । इत्युक्त्वा अन्योक्तिं जगाद –

विन्ध्याचलनिकुञ्जेषु, स्वच्छन्दं याऽचरत् सुखम् ।
आलाने करिणी बद्धा, विधिनाऽद्यैव धीमता ॥८॥

ततः सहास्यया सख्या सोक्ता – 'हे कुमारि! *मथुरापते-र्मेघभूप*स्याऽयं *देवसिंहः* सुतः, ततो हे सखि ! अस्याऽहं युवतिरूपं किञ्चित् स्वयं लिख' । साऽप्युपकरणमानाय्य स्वरूपं लिखित्वा-ऽब्रवीदिति – 'हे सख्यः ! अस्य रूपकस्येदं स्त्रीरूपं घटते न वा?'। ताः प्रोचुः – 'चेद्विधिर्योगं कुर्यात् त्वमिव तद्[1] वरम्' ।

1. चित्रम् ।

इतश्च 'चित्रफलकं देवः[1] स्वयं मार्गयति' इति प्रतिहारी कथयित्वा तद् लात्वा नृपतेः पुरो मुमोच । रूपकयुग्मविलोकनात् सखीमुखाच्च *देवसिंहकुमारे* पुत्र्या रुचिं ज्ञात्वा हृष्टो नृपो लाग्निकेभ्यो विवाहार्हं लग्नं ललौ । *मथुरायां* नृपः [2]करभीस्थितान् प्रधानपुरुषान् प्रैषीत्। तैस्तत्र गत्वा *देवसिंहकुमारस्य कनकसुन्दरी* दत्ता । ततो *मेघनृपतिर्विशालां* प्रति कुमारं गजानीक-हयानीकरथानीक-पदात्यनीकादिसमग्रसामग्र्या युक्तं प्रधान-सामन्त-पुरोधः-समन्वितं च प्रेषयामास । कुमारोऽपि अखण्डप्रयाणकै-*र्विशालायां* द्रुतं गतः । ततः श्वशुरेण सगौरवं महावासे स वासितः। इष्टयोस्तयोर्दान-मानाभ्यां लग्नदिनमागात् ।

मर्दलैर्वाद्यमानैश्च, गीयमानैश्च मङ्गलैः ।
दीयमानैश्च ताम्बुलै-र्नृत्यद्भिः पादमूलकैः ॥९॥

क्षिप्यमाणैश्च सद्गन्धैः, पुष्पगन्धैस्तथाऽर्पितैः ।
तयोः कृतकुलाचारं, [3]जातमुद्वाहमङ्गलम् ॥१०॥

तस्मिन्नवसरे वर-वध्वोः सदृशयोगं पश्यन्तो विधि-भूप-पुरीजना युगपद् मुदा स्वं स्वं कृतार्थममन्यन्त ।

अथ सुखमये विवाहसमये निर्वृत्ते तस्मिन् पुरोद्याने बुद्ध्या सुरगुरूपमः *सुरगुरुसूरि*रागात् । गम्भीरमधुरारावे सर्वसन्तापहारिणि तस्मिन् समागते जगतीजनो मुमुदे । अथ गुरोरागमनं श्रुत्वा सपरिवारो *जितशत्रुराजा*, प्रियान्वितः कुमारः, पुरीलोकश्च हर्षोत्कर्षात् सर्वेऽपि वन्दितुं गताः । ते सपरिवारं सूरिं त्रिः

1. नृपः । **2.** उष्ट्रीस्थितान् । **3.** विवाहमङ्गलम् ।

प्रदक्षिणीकृत्य परमप्रेम्णा प्रणम्य च निजोचिते स्थाने समासीनाः। इतश्च सुरभेरीसमस्वरः सूरिर्धर्मदेशनां प्राह ।

तद्यथा –"भो भव्याः! कषायभित्तिदुर्भेद्यं राग- द्वेषकपाटभृद् निःसारं संसारकारागृहं भूयसा तमसाऽऽवृतम् । अस्मिन् बन्दिगृहे पतितानामङ्गिनां कुटुम्बप्रतिबन्धो गाढं बन्धनम् । अमी इष्टा-ऽनिष्टाः संयोग-वियोगाः तप्तसन्दंशका वर्त्तन्ते, क्रूरा वचनाक्रोशा दंदशूका भ्रमन्ति, विविधा रोगातङ्का यत्र मशक-दंशकाः, शोका-ग्निर्यत्र धूमपानम् । कर्मौघा यत्र दण्डपाशिनो वर्त्तन्ते, ते च ज्यायांसं नाऽनुकम्पन्ते, बालं च न गणयन्ति, निर्धनं नैव मुञ्चन्ति, सधनं च कदर्थयन्ति । चतुर्गतिषु सा काऽपि विडम्बना नास्ति, या एतत्परवशैर्जीवैरनन्तशो न सोढा । ततो भवादृशां सुमेधसाम् अस्मिन् संसारे यद् भाव्यं तद् भविष्यति इत्यालम्ब्य स्थातुं न योग्यम् । सदा धर्मोद्यमः कर्त्तुं योग्यः । अस्य धर्मस्याऽनुभावेन पूर्वोक्ता विपदो नाऽऽप्यन्ते, इहाऽमुत्र च जन्मनि सौख्यानि लभ्यन्ते। प्रशस्योऽयं मोक्षोपायः। मोक्षश्च सर्वज्ञसेवनाद् भवति । सर्वज्ञश्च-

सर्वकर्मविनिर्मुक्तः सर्वज्ञस्त्रिजगद्धितः ।
धर्मिणां जायते नाथः, सर्वदुःखाऽपहारकः ॥११॥

आराध्यैनं त्रिधा धन्या, लभन्ते मोक्षमव्ययम् ।
आज्ञापालनमेवाऽस्या-ऽऽराधनाकरणं ध्रुवम् ॥१२॥

सा आज्ञा द्रव्य-भावस्तवाभ्यां द्विधा गणधरैरुक्ता । तत्र सर्वजीवदयासारो भावस्तवोऽभिज्ञैः प्रोक्तः । स च साधूनां पञ्चम-हाव्रतरात्रिभोजनविरमणलक्षणः पञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपाऽष्टप्रवचन-

मातृकारूपः । क्षान्त्यादिदशविधो मुमुक्षूणां धर्मो मूलधर्मः प्रोच्यते। पिण्डविशुद्ध्याद्यैरुत्तरगुणैः समन्वितः य सम्यगाराधितो मोक्षदो भवति । अतः स जीवितपर्यन्तं न मोच्यः । अस्मिन् स्वीकृते उपसर्ग-परीषहाः सोढव्याः । अस्याऽऽराधकाः प्राणिनो बलवत्तर-वीर्यविशेषाद् एकाद्यष्टभवचारकाद् मुच्यन्ते। ततश्चेद् भो भव्या! भवकाराया मुक्तिमिच्छत तदा सर्वज्ञस्याऽऽज्ञाराधनमादरात् कुरुत। अथ चारित्रमोहस्योदयाद् विषयगौरवाद् यदि यूयं न चैतस्याः सेवायै प्रभविष्णवः, तदा चारित्रधर्मलाभार्थं बोधिशुद्धिदां तीर्थकृदाज्ञां स्वीकृत्य पञ्चाऽणुव्रतानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि, त्रीणि च गुणव्रतानि सम्यक्पालनीयानि । तथा जिनप्रासादाः कारणीयाः। प्रतिमा निष्पादनीयाः । विधिना प्रतिष्ठा विधीयते, पूजा च क्रियते, सुपात्रेषु दानं च दीयते। एवं गृहिधर्मं कुर्वाणाः कुशलाशयाः संसारं प्रतनुं कृत्वा स्वर्गादिसुखानि च भुक्त्वा क्रमेण शिवश्रियं श्रयन्ते । तत्र जिनप्रासादं ये कारयन्ति ते संसाराम्बुधिं तरन्ति। यतः –

सत्कीर्त्तिवल्लीगुरुमूलकन्दं, सद्धर्मकल्पद्रुवनालम्बम् ।
निर्वाणसौधादिमपीठबन्धं, जिनेन्द्रचैत्यं सुकृती करोति॥१३॥

तथा ये जीर्णोद्धारं कुर्वन्ति ते सर्वपापेभ्यो दूरे भवन्ति । यतः –

स्थाने तेन नियोजितं निजधनं प्रोद्भासितं शासनं,
बिम्बे चन्द्रमसः स्वनाम लिखितं द्वारं हतं दुर्गतेः ।
धन्यं जन्म धृतं समग्रसुकृतं स्वीयं कृतार्थीकृतं,
जीर्णं येन समुद्धृतं जिनगृहं निःशेषपापापहम् ॥१४॥

प्रायेण कीर्त्तिप्रिय एव लोकः स्वकीर्त्तनं कारयते नवीनम् ।
विशीर्णचैत्योद्धरणात्तु शुध्यन्, वरेण्यपुण्यस्पृह एव चिन्त्यः ॥१५॥

यैर्भव्यैर्जिनराजप्रतिमाः कारितास्ते रोग-शोक-भयोज्झिताः स्तोकेनैव कालेन परां सिद्धिरमां लभन्ते । यतः-

न यान्ति दास्यं न दरिद्रभावं,
न प्रेष्यतां नैव च हीनभावम् ।
न चाऽपि वैकल्यमिहेन्द्रियाणां,
ये कारयन्तीह जिनस्य बिम्बम् ॥१६॥

अङ्गुष्ठमात्राऽपि जिनेन्द्रमूर्त्तिः,
कारापिताऽनन्तशुभावहेह ।
चिन्तामणिः किं न किलाऽल्पकोऽपि,
सञ्चिन्तितं यच्छति वस्तुजातम् ॥१७॥

अथ ये भव्या अर्हत्प्रतिष्ठां कारयन्ति तेषां त्रिविष्टपे शिष्टा प्रतिष्ठा भवति, दुःख-दौर्भाग्याणि च दूरे नश्यन्ति। यतः-

[1]अवहणइ रोगमारिं, दुब्भिक्खं हणइ कुणइ सुहभावे ।
भावेणं किरमाणा, सुपइट्ठा सयललोयस्य ॥१८॥

[2]जिणबिंबपइट्ठाइसु, सुहकज्जेसु लग्गइ जं च ।
तं चिय दव्वं सहलं, दुग्गइजणणं हवइ सेसं ॥१९॥

1. अपहन्ति रोगमारिं, दुर्भिक्षं हन्ति करोति शुभभावान् ।
भावेन क्रियमाणा, सुप्रतिष्ठा सकललोकस्य ॥

2. जिनबिम्बप्रतिष्ठादिषु, शुभकार्येषु लगति यच्च ।
तत् खलु द्रव्यं सफलं, दुर्गतिजननं भवति शेषम् ॥

[1]एयं नाऊण सया, जिणवरबिंबस्स कुणह सुपइट्ठं ।
पावेह जेण जरमरण-वज्जियं सासयं ठाणं ॥२०॥

अथ ये भव्यजीवाः श्रीवीतरागपूजां कुर्वन्ति, तेऽनन्त-भवजनितं पापं क्षयं नयन्ति । यतः –

नेत्रानन्दकरी भवोदधितरी श्रेयस्तरोर्मञ्जरी,
श्रीमद्धर्ममहानरेन्द्रनगरी व्यापल्लताधूमरी ।卐
हर्षोत्कर्षशुभप्रभावलहरी राग-द्विषां जित्वरी,
पूजा श्रीजिनपुङ्गवस्य भवतु श्रेयस्करी देहिनाम् ॥२१॥

पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा च, तद्द्रव्यपरिरक्षणम् ।
तदुत्सवाश्च तद्यात्रा, भक्तिः पञ्चविधा जिने ॥२२॥

विधिना द्रव्यस्तवः कृतो भावस्तवस्य हेतुर्भवति, सप्ताष्ट-जन्मभिश्च शिवसम्पदं ददाति । पुनः स धर्मः परिणामविशेषाद् अनाभोगेनाऽपि निर्मितः *शुकयुगलस्येव* निश्चयात् कुशलोदयं कुर्यात् । ततो भो भव्याः! स्वस्वसामर्थ्यं सम्भाव्य भवचारकाद् उद्विग्ना एकतराज्ञायाः सेवया मनुजजन्म सार्थकं कुरुध्वम् । यतो यतिधर्म-गृहिधर्माभ्यामतिरिक्तो भवकारागृहोज्झनोपाय-स्तृतीयो नैव विद्यते । भो भव्याः! तत्किं विलम्बयत? पुनः सामग्री धर्मस्य दुर्लभाऽस्ति । यतः-

1. एवं ज्ञात्वा सदा, जिनवरबिम्बस्य कुरुध्वं सुप्रतिष्ठाम् ।
प्राप्नुत येन जरा-मरण-वर्जित शाश्वतं स्थानम् ॥

卐 आपदभ्यो लताभ्यो हिम इव

[1]दुलहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए ॥२३॥

एतद् गुरूक्तमाकर्ण्य संसारचारकोद्विग्नमानसैः 'भावस्तवादेव सर्वकर्मक्षयो भविष्यति' इति जानद्भिर्बहुभिः प्राणिभिर्दीक्षा समादत्ता आचार्यान्तिके । कतिभिरशक्तैर्देशविरतिरङ्गीकृता । अपरैः सम्यक्त्वं गृहीतम् । *देवसिंहकुमारेण* पञ्चाऽणुव्रतानि गृहीत्वा सूरयो विज्ञप्ताः – 'हे स्वामिन्! शुकयुगलस्य हि द्रव्यस्तवः कुशलानुबन्धस्य कारणं कथमभूत्? तन्नो विनोदाय कथ्यताम्'। ततो गुरुस्तस्य बहूनां च लोकानां हिताय प्राह । तथाहि –

॥ शुकयुगलस्य कथानकम् ॥

"अस्मिन् दक्षिणभरतार्धे वैताढ्यपर्वतस्य सन्निधौ सर्वर्त्तुश्रीसमन्वितं *सिद्धिकरं* नाम्ना वनं बभौ । यत् सर्वर्त्तुककुसुमस्निग्धपत्रविविधद्रुमाञ्चितं वीक्ष्य बुधाः प्राहुः – 'भोः! तारकाकुलं किं शारदं नभः?' । किन्नर्यो यत्र गीतं गायन्ति, कोकिलाः कलं कूजन्ति, भ्रमरैर्बन्धुरमधुरालापः परस्परं पापठ्यते। तस्य वनखण्डस्य मध्ये मणिरत्नजटिते स्वर्णपीठे प्रातिहार्याढ्या विद्याधरकृता पद्मरागजा अर्हतः प्रतिमा वर्तते । तत्र विद्यासाधनार्थमागतैः प्रचुरैः खेचरैः सदा वन्द्यते, पूज्यते, स्तूयते, भक्त्या च ध्यायते । तस्मिन् वने चैत्यसमीपे आम्रवृक्षोपरि परस्परगाढस्नेहमेकं कीरयुग्मं वसति ऋजुभावं परिणामसुन्दरं लघुकर्मकं च । विद्याधरकृता–

1. दुर्लभे खलु मानुषे भवे, चिरकालेनाऽपि सर्वप्राणिनाम् ।
गाढाश्च विपाकाः कर्मणः समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥

र्चायाः प्रतिमाया निरीक्षणात् तस्य कीरयुग्मस्य निर्व्यापारं सदाऽमन्दानन्दकन्दो हृदि संवर्द्धते । यतः केषाञ्चिद् भाविभद्राणां भव्यानां भुवि अज्ञातलक्षणेऽपि उत्तमे पदार्थे प्रीतिः स्यात्, तथा केषाञ्चिद् गुरुकर्मणां ज्ञातगुणेऽपि वस्तुन्यप्रीतिः स्यात् । अर्हद्बिम्बविलोकनेन येषाम् अप्रीतिर्जायते तेषां दुःखौघाः समुल्लसन्ति, ततो विज्ञः पुमान् अर्हद्बिम्ब-लिङ्गादौ वैरं वर्जयेत्। मिथ्यात्व-ध्वान्तभेत्तरि सम्यग्दर्शनादित्ये दीप्ते सति देव-गुरु-धर्मादिसत्पदार्थे प्रीतिर्भवेत् । अथाऽन्यदा तेन कीरयुग्मेण एकान्तमवेक्ष्य भक्तिप्रफुल्लितमानसेन श्रीमदर्हद्बिम्बस्य सहकारमञ्जरीभिः कर्णपूरो सशेखरौ निर्मितौ, चरणौ च चर्चितौ, भावना च भाविता । तेन भावोल्लासेन तिर्यग्गतिनामकर्म विनाश्य शातावेदनीयसमन्वितं मनुष्यायुर्बबन्धे ।

अथ विशुद्धिमान् कीरः कियता कालेन कालं कृत्वा जम्बूद्वीपविदेहे रमणीयाख्ये विजये *श्रीमन्दरपुरे नरशेखरस्य* भूपतेः *कीर्त्तिमतीराणीकुक्षौ* पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । तदनु राज्ञी तन्निशि अर्कमण्डलसदृशं कुण्डलं वीक्ष्य भूपालमुवाच । तेनाऽप्युक्तम्- ' हे प्रिये ! ते महानरेन्द्रः पुत्रो भविष्यति'। तच्छ्रुत्वा सा हर्षाद् गर्भं पुपोष । अथ सुदिने राज्ञी पुत्रं प्रासूत राकासन्ध्या अमृतांशुवत्। तन्नालखननावनौ बहुमूल्यो रत्ननिधिर्विनिर्ययौ । ततः पित्रा प्रवरो वर्धापनमहोत्सवः कारितः । अथ राज्ञा प्रशस्ये दिवसे निध्याप्तेः कुण्डलस्वप्नाच्च तस्य निधिकुण्डल इत्याख्या दत्ता । ततः स स्वबन्धुकुमुदोल्लासी सद्दानविशदांशुभिरर्थिवाञ्छाब्धिं पूरयन् वरेन्दुवद् अवर्धिष्ट।

स *निधिकुण्डलकुमारः* प्राप्तयौवनोऽपि रूपेण रमणीयासु रमणीषु मुनीन्द्रवद् मनागपि मनो नैव ददाति । स्वयंवरायता धन्याः कन्या अपि कुशलानुबन्धिकर्मोदयतो वीतरागवद् नैव पश्यति । पुनः स धनुर्धरधुरन्धरोऽपि पापर्द्धौ बुद्धिं न धत्ते, मांसं तु विषवद् मन्यते । मद्यम् अमेध्यवद् जानाति । परापवादिनो लोकान् समालोक्य बहु रुष्यति । रिपोरपि गुणग्रामं श्रुत्वा हृदि हृष्यति । इति स्वगुणैर्जनकादीनाम् आनन्दं जनयन् कुमारः सुहृद्भिः समं क्रीडन् कलाभिर्ववृधे ।

इतश्च सा शुकी मध्यस्था भद्रकाशया मृत्वा तत्रैव विजये *विजयावत्यां* पुर्यां *रत्नचूडस्य* भूपतेः *सुवप्रायां* महादेव्यां सुस्वप्नसूचिता सुता समुत्पन्ना । कालेन प्रसूता । पित्रा *पुरन्दरयशा* इति कृतनामा क्रमेण वर्द्धमानवयाः सर्वावयवसुन्दरा सुवर्णवर्णा कङ्केल्लिपल्लवाऽऽभकर-क्रमा कलाकलापसंपन्ना शशिमूर्त्तिवत् सौम्या सा क्रमेण कामक्रीडावनं यौवनं प्राप्ता, परं शृङ्गाररसकथां कर्णाभ्यां नाऽऽकर्णयति । भोगिलोकस्य शृङ्गारादि नेपथ्यपरिधा-नाद्याडम्बरं च नेत्राभ्यां न वीक्षते । सा विशिष्टा भोगिनीनां स्त्रीणां गोष्ठीषु न तिष्ठति । सखीभिः सह स्मररसानुगं संवादं न करोति । सर्वथा शान्तमानसा, आर्हते च धर्मे सावधाना विवाहस्य वार्त्तामप्यसहमाना क्रमेण यौवनं प्राप्ता । तारुण्ये निर्विकारां पुंसां सङ्गे पराङ्मुखीं च तां सखीमुखाद् निशम्य माता भृशं चिन्तातुरा जाता सती पतिं प्राह - " हे स्वामिन् ! चित्ताऽऽलवाले रसाकुले चिरं रूढा मनोरथशाखिनः कथं फलिष्यन्ति? । शान्तिदा अहो मे पुत्री कदा भविता ? को वाऽस्या रञ्जको राजकुमारः

सदृशैर्गुणैर्युक्तो भविष्यति? । हे नाथ ! सयौवनामिमां कन्यां स्वदृशा पश्यन् स्वस्थः कथं स्वपिषि ? कथं चाऽश्वासि ? कथं वा जल्पसि ?"। इति देव्या उपालब्धो महीपतिस्तद्दुःखेन दुःखितो *मतिसागरादीन्* मन्त्रिण आहूय पृष्टवान्- 'भो धीसखाः ! तारुण्या-ऽरण्यगा कन्या सहचरं नेच्छति, कस्तद्विवाहनोपायः ?'। ततो मन्त्री मतिसागरोऽवदत् - "हे स्वामिन् ! अयमनङ्गरोग आबालवृद्धं समोऽपि निःसत्त्वानां पापिनां च चेतसि व्यक्तं समुच्छलति, परं न महात्मनाम् । यतः-

सिंहो बली द्विरद-शूकरमांसभोजी,
संवत्सरेण रतमेति स चैकवारम् ।
पारापतः खरशिलाकणभोजनोऽपि,
कामी भवत्यनुदिनं बत कोऽत्र हेतुः? ॥२४॥

ततो हे देव ! इयं त्वन्नन्दिनी प्राक्तनसुकृतसङ्गता पुण्यपूर्णं प्राग्भवपतिं विनाऽपरेषु न रज्यति । तेन राजपुत्राणां प्रतिच्छन्दान् आनाय्य प्रदर्शय, यथाऽस्या ज्ञातभावाया विवाहः सुकरो भवेत्"। तदा सर्वैः सभासदैः प्रोक्तम्- '*मतिसागरो* यथार्थं वदति' । ततो राज्ञा बहुषु राजकुलेषु निजाः पुरुषाः प्रेषिताः । तैरपि राजकुमाराणां प्रतिच्छन्दा आनीय प्रदर्शिता नामादिपूर्वकं, परं न चाऽस्यै कोऽपि रुचितो मनागपि । अथाऽन्यदा *निधिकुण्डल*प्रतिरूपे प्रदर्शिते तस्या निश्चला दृष्टिर्निविष्टा, तनू रोमाञ्चिता जाता, कपोलफलके प्रफुल्ले, दीर्घा निःश्वासाश्च विस्तृताः । सा सखीमकथयत् - 'कस्येदं रूपं यद् दृष्ट्वा मे हर्षो जायते ?' । ततः सख्या

सर्ववृत्तान्तो नृपतये कथितः । उक्तं च - ' स प्रतिच्छन्दः कन्यायै रुचितः '। ततः - 'कस्याऽयं नयनानन्दनो नन्दनः ? किं नामाऽयं कुमारः ? कैः कैर्गुणैरयं सारः ? किमाचारश्च ? ' एवं नृपेण पृष्टास्ते नराः प्रोचुः - "हे स्वामिन् ! शृणु, *श्रीमन्दरपुरे-शितुर्नरशेखरराज्ञोऽयं निधिकुण्डलनामा* तनयः सर्वगुणाधारः सदाचारश्च । किन्तु अयमेकदोषवान्, यस्मात् स्वयंवरागताः कन्याः स्वदृशाऽपि न पश्यति" । इति श्रुत्वा *रत्नचूडनृपेण पुरन्दरयशःपुत्र्या* रूपं चित्रपटे लेखयित्वा निपुणनरकरेषु दत्त्वा *निधिकुण्डलकुमारस्य* परीक्षां कर्त्तुं प्रेषितम् । तेऽपि बहुं पन्थानमुल्लङ्घ्य क्रमेण *श्रीमन्दरपुरे* सन्ध्यासमये प्राप्ताः, *नरशेखर*नृपं च मिलिताः । अथ रात्रौ कुलदेव्या *पुरन्दरयशोरूपं निधिकुण्डलकुमाराय* स्वप्ने दर्शितम् । प्राग्भवाऽ-भ्यासतोऽत्यन्तं सा रुचिता । भाषिता चाऽमुना, ततो निरुत्तरा त्रपानम्रा प्रेम्णाऽमुना स्वपाणिनाऽग्राहि । अस्मिन्नवसरे बन्दिवृन्द-वचोमिश्रैः प्रातस्तूर्यैरुत्थितः । स्वप्नदृष्टं किमपि न पश्यति, तदा एभ्यो रुष्टः । गृहान्तः पश्यन् तामप्रेक्ष्य हृतसर्वस्वः किं ? कितवै-र्वञ्चितः किं ? किं वा शूरम्मन्यो जितः ? तद्वत्कुमारश्चिन्ताऽमर्षवान् अभूत् । क्षणं तुष्टः क्षणं रुष्टः सचिन्तः स चित्ते वितर्कवान् किमपि रसान्तरं प्राप्तो यथा रणाङ्गणे नरः । अथ कुमारं नत्वा समागतैर्मित्रैर्गोष्ठी समारब्धा, परं कुमारम् अहसन्तम् आलोक्य *चतुर*नामा सुहृद् वचः प्रोवाच - ' भो भोः! किञ्चित्कुमारस्य नष्टं, पृष्ट्वा तदीक्ष्यते' । ततः कुमारेणोक्तम्-'चतुरोऽसि त्वं, किं न स्वयं लक्षयसि?' । तेनोक्तम् - 'त्वत्प्रसत्तेर्ज्ञास्ये' । ततः शेषैरवादि-

हे कुमार ! सत्यमस्योक्तम्'। कुमारेणोक्तम् - 'घटते कियत्' । पुनस्ते प्रोचुः - 'हे कुमार ! कथ्यतां, किं नष्टम् ? ' । कुमारोऽवक्- "भो वयस्याः! तन्नामाऽपि न वेद्म्यहं, यत्पूर्वं नयनाभ्यां न दृष्टम्। यतोऽन्यन्नास्ति किमपि सुन्दरं, तदिष्टं झटित्यपि मम हस्ततलाद् नष्टम्"। ' किं तदेवंविधम् ?' इति सचिन्तेषु मित्रेषु अस्मिन्नवसरे *रत्नचूड*नृपस्य सेवकाः तत्प्रतिच्छन्ददानाय समागताः । तदा द्वारपालेन समागत्य प्रोक्तम् - 'हे कुमार ! एते किञ्चिदद्भुतं ते दास्यन्ति, एषामवसरं देहि; यतो देवेन प्रेषिता भवदन्तिके'। कुमारेण 'तथा' इत्युक्ते तैः प्रविश्य दर्शिता चित्रपट्टिका । दृष्ट्वा च स्मेरनेत्रेण कुमारेण जल्पितम्- 'सैव एषा प्राणवल्लभा' । ततो मित्रैः प्रोक्तम्- 'हे कुमार ! नारी नेदृशी स्यात्, स्वप्ने देव्यैव दर्शनं दत्तं स्यात्' । अथ कुमारश्चित्रहारकान् पप्रच्छ । तेऽपि प्रोचुः - 'हे विभो ! देवीरूपं हृत्वा विधिना इयं विहिता । *रत्नचूड*नृपस्येयं *पुरन्दरयशा*नाम्नी कन्या इति श्रुतम्' । तद्रूपहृष्टेन कुमारेण दीनारलक्षं दत्त्वा विसृष्टास्ते सिद्धार्थाः स्वपुरे गताः । ततो हसित्वेषत् कुमारेणोक्तम् - 'हे सुहृदः ! इदं मे नष्टमभूत्'। 'किमेतद् ?' इति तैः पृष्टे स सर्वं स्वप्नोदन्तं कथयामास । तेऽपि सर्वे देव्याः प्रयोगं ज्ञात्वा हृदि मुमुदिरे । अथ कन्यारतं पुत्रं निशम्य मुदितो नृपः कन्यावरणार्थं सुमन्त्रिणः प्रैषीत् । तेऽपि तत्र गत्वा सगौरवं तां लब्ध्वा वैवाहिकं लग्नं लात्वा भूपपार्श्वे गत्वा समय-निर्णयं निवेदयामासुः । अथ राज्ञा सुमुहूर्त्ते गज-रथ-हय-भटसमूहैः सार्धं कुमारः प्रहितः । स तूर्यसमूहैर्गगनाङ्गणं दिक्चक्रं च पूरयन् क्रमेण महारण्यं प्राप्तः । तत्र हयान् वाहयन्

हयापहृतः स एकाकी वने भ्रमन् दैवाद् रात्रौ क्वचित् स्थितः । स जाग्रदास्ते तावता कस्या अपि रुदत्याः स्त्रियाः करुणस्वरं श्रुत्वा तद्दुःखेन दुःखितः करुणाकरः शब्दानुसारतस्तत्र गतः, प्रच्छन्नं संस्थितश्च । तत्र च प्रज्वलदग्निकुण्डसमीपे कृतस्नानां रक्तचन्दनलिप्ताङ्गीं रक्तकणवीरमालाधारिणीं सुरूपां मण्डले च कपालिना स्थापितां कन्यामेकां ददर्श । अथ कर्तिकाकरालेन योगिना चिकुरैरिमां गृहीत्वा घुष्टम् - 'हे भगवति ! स्वेष्टकारिके ! त्रिशूलधारिके ! रुण्डमालिके ! निश्चले ! शिष्यवत्सले ! देवि ! बालाबलिं लाहि'। तदनन्तरं कपालिना बालां प्रति प्रोक्तम्- 'हे भद्रे ! त्वं लोकं सुदृष्टं कुरु, स्वं देवं स्मर, गच्छ त्वं शरणं, यतः शस्त्रपाताऽवधि तव जीवितमस्ति' । तयाऽपि धैर्यमवलम्ब्य प्रोक्तम्- 'कमहम् अस्यामवस्थायां स्मरामि ? । यत्र भवादृशा योगिनस्तत्र शरणं गम्यते कुत्र ? वारिणि वह्निः प्रज्वलितः । तथापि सर्वजगज्जन्तुवत्सलो भगवान् वीतरागो मम शरणमस्तु, तथा गुरुणा दत्तो मयाऽपि च मनसा वृतो *नरशेखर*भूपालपुत्रो *निधिकुण्डल*-कुमारो मे शरणमस्तु" । इति श्रुत्वा स्वनामतः शङ्कितेन कुमारेणाऽऽशु कृतकेशग्रहं कपालिनं हक्कयित्वेति भाषितम् - 'रे निकृष्ट! दुष्ट! पापिष्ठ ! इमां कन्यां हन्तुमिच्छन् अधुना त्वं विनष्टोऽसि'। इति कुमारखरगिरं निशम्य क्षुब्धो योगी अवदत् - "हे उत्तम ! त्वं मे विघ्नं मा कुरु । मया पूर्वं सेवां कृत्वा ज्वालिनी देवी आराधिता, द्वात्रिंशल्लक्षणालङ्कृता च दुर्लभा कन्या प्राप्ता । विधौ पूर्णे सिद्धविद्यो भविष्यामि, तव च महोपकारं करिष्ये" । तत् श्रुत्वा क्रुद्धः कुमारोऽवदत् - " रे मूढ ! योगिनां लिङ्गं वहसि,

तथाप्यात्मना डुम्बचण्डालकर्मकृद् न लज्जसे। किं तद् मूढविद्यया कुरुषे ? हे अज्ञ ! चिरं धृतं व्रतं तुच्छकार्यार्थं मा विनाशय। जन्तुघातनं गहन-दुःखकारणं त्वया किं न श्रुतम् ?। तस्मात् त्वमस्मात् पापाद् विरम, अयमेवोपकारोऽस्तु मे" । कुमारेणेति मधुरोक्त्या स कपाली प्रतिबोधितः पश्चात्तापगतः पापाद्विरतः सोऽवदत् - " हे महाभाग ! त्वया कुगतिपाततो वारितोऽहम्। गुरोः प्रायश्चित्तं लात्वा स्वसाधनं विधास्ये। *विजयावत्याः* प्रभोः कन्या मया हृताऽस्ति, सा तस्मै भवता प्रदेया" । कपालीति कथयित्वा स्वस्थानमगमत्। '*पुरन्दरयशा* ह्यसौ स्यान्नवा ?' इति ससन्देहः कुमारस्तामाश्वास्य प्राह - 'हे भद्रे ! त्वया यन्नामोक्तं सोऽयं *निधिकुण्डलः*' । सा दध्यौ- ' एतद्गिरं निशम्य मम महानन्दसन्दोहः संजायते, मदनाङ्कुरश्च जायते। ततोऽयं मे पतिरेव, नाऽपरस्मिन् पुंसि मे मनो रमते' । इति निश्चित्य सा प्राह - "पुर्यामहं गत्वा सर्वं वक्ष्यामि । परं प्राणदायकं नायकं त्वामहं पृच्छामि, दैववद्भिर्भवद्भिः शून्यारण्यं किमलङ्कृतम् ?। [1]कच्चित् कुशलं भवच्छरीरे ?" । कुमारस्तामकथयत् - "हे सुभ्रु ! त्वन्मुखेन्दोर्दर्शनाद् मे कुशलोदधिर्ववृधे। त्वत्प्राणरक्षणाय त्वत्पुण्यैः प्रेरितोऽहमत्र समागतः। हे तारनेत्रे ! प्राक्तनैस्तावकैस्तपोभिस्त्वरितं तुरङ्गेणाऽहं हृतं इह समागतः" । इत्यन्योन्यं कथोल्लाससुधारस-निमग्नयोस्तयोः स्नेहात् [2]क्षणदा क्षणदाऽजनि । अथ प्रातः पदानुसारतोऽश्ववाराणां घटाः[3] समागताः । [4]रामासहितं कुमारं

1. कच्चिद् इत्यव्ययं प्रश्ने मङ्गलेऽभिलापे हर्षे च। 2. रात्रिः। 3. समूहाः।
4. स्त्रीसहितम्।

वीक्ष्य सर्वेऽपि ते भृशं मुमुदिरे । सैन्ये सर्वेऽपि समागताः । क्रमेण ते *विजयावतीं* पुरीं प्राप्ताः । *रत्नचूडनृपो*ऽपि द्विगुणानन्दाद् महताऽऽडम्बरेण विवाहं व्यधात् । तत्र कतिचिद् दिनानि स्थित्वा, लात्वा लब्धं महार्हकं, *रत्नचूड*मनुज्ञाप्य च स क्रमेण सभार्यो निजे पुरे जगाम । पित्रा कृतप्रवेशमहोत्सवो निजं धाम जगाम । सर्वस्वजनसन्तोषी दोगुन्दुकदेववद् अनेकलक्षपूर्वाणि सुखाब्धौ लिलाय[1] । अथ *नरशेखरराड्* दारुणे रणाङ्गणे प्रत्यरिणा गाढं हतः पञ्चतां प्राप्तः । तदाकर्ण्य सकर्णोऽसौ हृदि दुःखदाहार्दितो भोगे राज्ये च विरक्तो हृदि विचारयामास - "रे जीव ! लक्ष्मीर्लोला, चलं जीवितं, भोगा भङ्गुराः, संयोगाश्च वियोगान्ताः, अतः प्राणिनां किं सुखम् ? । रे आत्मन् ! केन सुखेन त्वं पीवरत्वं मन्यसे ? यतो जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा दिने दिने घ्नन्ति । तथा माता-पित्रादिषु स्नेहो हि सकलः किलाऽलीकः, न ज्ञायते कुतश्चित् ते हि समागताः ? कुत्रचिच्च यास्यन्ति ? । यस्मिन् संसारे माता मृत्वा प्रिया जायते, प्रिया च माता, पिता पुत्रः, सुतः पिता, अरिर्भ्राता भवेद्, भ्राता शत्रुः, तस्मिन् संसारे कौ स्नेहा-ऽस्नेहौ?। सकलः स्नेहः स्वप्नेन्द्रजालाभ्यां सदृशोऽस्ति, यतो जनस्य परमवल्लभोऽपि व्यक्तं मृत्युना ह्रियते" । इत्येवं तातमृत्यूत्थशोक-सन्तप्तचेतसस्तस्य कियान् कालो गतः ।

अस्मिन्नवसरे सकलजगज्जीवाऽभयदानप्रदानप्रवीणो भगवान् *श्रीमदनन्तवीर्य*स्तीर्थपतिस्तत्र समवसृतः । देवैः समवसरणं च कृतम् । तद्यथा-योजनप्रमाणविस्तारं, देवकृतकचवरापहारं,

1. लीनो बभूव ।

गन्धोदकसिक्तभूभागं, व्यन्तरसुरनिबद्धपञ्चवर्णरत्नभूभागं, जलस्थलजजानुप्रमाणोत्तमपञ्चवर्णकुसुमसौरभ्यभासुरं, भुवनपतिज्योतिष्क-वैमानिककृतरौप्यसौवर्ण-रत्नमयप्राकारत्रयविस्तारं, विशाल[1]शालभञ्जिकायुक्तं, चतुर्द्वारं, यथास्थानस्थितगणधरदेव-देवीप्रभृतिद्वादशपर्षद्विस्तारम्, उच्चैस्तरतोरणपताकाकिङ्किणीभिर्मनोहरं, धूपघटिकानिर्गच्छदतुच्छकृष्णागुरुकुन्दुरुकतुरुष्कधूपोद्गारं च । तस्य तृतीयवप्रमध्ये [2]कङ्केल्लितरोरधोभागे व्यन्तरसुररचितमणिपीठोपरिस्थितसिंहासनोपविष्टो भगवान् संसारसागरसमुत्तारिणीं, महामोहान्धकारदिनकरानुकारिणीं, क्रोधदावानलोपशमनीं, *मुक्तिमार्गप्रकाशिनीं, कलिमलप्रक्षालिनीं, मिथ्यात्वोच्छेदिनीं,* त्रिभुवनपालिनीं, पापविशोधनीं, मन्मथप्रतिमन्थिनीम्, अमृतरसास्वादिनीं, हृदयाह्लादिनीम्, आक्षेपकारिणीं, सर्वजन-चित्तचमत्कारकारिणीं, जगत्त्रयोपकारिणीम्, आगमोद्गारिणीं, योजनविस्तारिणीं च वाणीं प्रकाशयन् देवा-ऽसुरनरनिकरं तिर्यक्सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियगणांश्च प्रतिबोधयन्नास्ते । तस्मिन्नवसरे वनपालकेन विज्ञप्तो महीपतिः- 'हे महाराज ! त्वत्पुण्यप्राग्भारप्रेरितो भगवान् अनन्तवीर्यस्तीर्थपतिरत्र समवसृतः' । तत् श्रुत्वा हर्षितो नृपतिस्तस्मै पारितोषिकदानं दत्त्वा शोकं च परिहृत्य अन्तःपुर-समन्वितः सामन्त-मन्त्रि-सेनापतिपरिवृतश्चतुरङ्गचमूचक्रकलितो जिनवन्दनाय निर्गतः । समवसरणं च दृष्ट्वा राजचिह्नानि विमुच्य त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य जिनेन्द्रं ननाम । यथास्थानं चोपविष्टः । ततो भगवता तस्योपकाराय देशना दत्ता ।

1. पुत्तलिका । 2. अशोकवृक्षस्य ।

यथा -

मानुष्या-ऽऽर्यक्षेत्र-देशाश्चिरायु-र्नीरोगत्वं वर्यबुद्ध्यादिसंपत् ।
संसारेऽस्मिन् मानवानां सुखाय, सामग्रीयं धर्ममार्गे समग्रा॥२५॥

दुर्लभमति मानुष्यं, चतुरधिकाशीतियोनिलक्षेषु ।
भ्राम्यति यदेष जीवः, प्रकटं कुलकोटिगहनेषु ॥२६॥

सुखित्वे कामललितै-र्दुःखित्वे दैन्यरोदनैः ।
नयन्ति जन्म मोहान्धा, न पुनर्धर्मकर्मभिः ॥२७॥

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चाऽपि दुःखं मलमलिनवपुः स्त्रीपयः पानमिश्रम् ।
तारुण्ये चाऽपि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥२८॥

इति भगवद्वाणीं श्रुत्वा, जिनं नत्वा, गृहे गत्वा, पुत्रं राज्ये संस्थाप्य, सप्तक्षेत्र्यां घनं धनमुप्त्वा, सभार्यो नरपतिर्महता संवेगेन श्रीमद*नन्तवीर्य*स्वामिजिनसमीपे कर्मद्रुमोन्मूलनदक्षां दीक्षां जगृहे। यथाविधि च चारु चारित्रं प्रपाल्य सौधर्मदेवलोके तौ सुरमिथुनत्वेन जातौ ।

पञ्चपल्योपमायुः प्रपाल्य पूर्वं पुण्यवान् देवजीवश्च्युत्वा *महाकच्छे* विजये *विजया*भिधे नगरे *महासेन*स्य भूपतेः सुतोद्भवे सोत्कण्ठाया*श्चन्द्राभाया* महादेव्याः कुक्षौ विविधैरुपयाचितैः पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । पूर्णे समये प्रभाऽद्भुतं सुतं प्रासूत । राज्ञाऽपि महता प्रबन्धेन जन्मोत्सवं कृता *ललिताङ्ग* इति नाम दत्तम् । क्रमेण

प्रवर्द्धमानो द्वासप्ततिकलाकुशलो यौवनं प्राप्तः । अस्मिन्नवसरे *पुरन्दरयशो*जीवोऽपि प्रथमकल्पात् च्युत्वा तस्मिन्नेव विजये *परमभूषणे* पुरे *पुण्यकेतु*नरेन्द्रस्य *रत्नमाला*महादेव्याः कुक्षौ पुत्रीतयाऽभवत् । पित्रा *उन्मादयन्ती* इति कृतनामा क्रमेण यौवनं प्राप्ता, परं विषयपराङ्मुखा जाता । सा सखीभिर्बहुधा शिक्षिताऽपि न मन्यते । ततस्तस्या जनन्या प्रोक्तम् – 'वत्से ! वरं विना कनी न शोभते' । तदा पुत्र्या प्रोक्तम् –

कलाचतुष्टयस्यान्तर्योऽधिकः कलयैकया ।
मन्मनो रञ्जयेत्सोऽत्र, हीनः शेषः पुमानिति ॥२९॥

तद्यथा–ज्योतिष्कला १, नभोगामिविमानविनिर्मितिकला २, राधावेधकला ३, विषघ्नगारुडमन्त्रकला ४ चेति"। तां पुत्र्याः प्रौढप्रतिज्ञां श्रुत्वा तुष्टेन भूभुजा वरपरीक्षणार्थं स्वयंवरणमण्डपः प्रारब्धः । आहूता राजपुत्राः, ते च कथिते दिवसे समेताः । राज्ञा बहुमानेन मानिता योग्यस्थानेषु च स्थापिताः । मणिरत्नकृतस्तम्भः स्फुटस्फाटिकपुत्रिक, उच्चैस्तोरणसत्केतुलम्बिमौक्तिकचूलिको, मञ्चातिमञ्चश्रेणिकलितः, स्थाने स्थाने दत्तदानः, कृतप्रेक्षणक्षणो, मध्ये च राधायुतस्तम्भः शिल्पिभिर्मण्डपः कृतः । तत्र राधावेधं प्रकुर्वाणा राजकुमारका जनकाऽन्तिकस्थराजसुतादृष्टौ सद्यो हास्यास्पदं गताः । तस्मिन्नवसरे राजपुत्रीहृदा सार्द्धं राधा-वेधविधायिना *ललिताङ्गेन* लीलया जयपताकिका प्राप्ता । आकृष्ट-चण्डकोदण्डं *ललिताङ्गं* विलोक्य राजपुत्री भृशं सन्तुष्टा दुःस्थ-वधूर्निधिमिव । अस्मिन्नवसरे स्मराग्निना दीप्तेन केनचित् खेचरेण

सर्वदृग्मोहतः सा गगनाध्वनाऽकस्माद् हृता। क्षणान्तरे ताम् अवीक्ष्य सपरिवारेण राज्ञा हाहारवः कृतः, तदा सर्वेऽपि राजकुमारा मिलिताः । तदा दुःखार्दितो राजाऽवादीत्- "भोः कुमारकाः ! श्रूयताम् । केनचिद् दुष्टेन हर्षपीयूषे विषवद् विषादः कृतः, ततः सम्प्रति यस्तां समानयति तस्मै कन्यामहं ददामि । अतः स्वशक्तितः सर्वैः कुमारैरुपायः क्रियताम्" । तत् श्रुत्वा *ललिताङ्गेनो*क्तम्- 'भो भोः ! कोऽप्यस्ति, यस्तं दुष्टं तस्करं मम दर्शयति ?' । ततः परः कुमारोऽवक् - "ज्योतिष्कलग्नेन जानेऽहं, स राजपुत्रीहर्ता विद्याधरोऽतीव दूरं गतः । तत्स्थानमप्यहं वेद्मि, कथयत चेत्तर्हि दर्शयामि । किन्तु मां तत्र कोऽपि नयेत्" । ततः केनचित् कुमारेण विद्यया सद्यो व्योमगं विमानं व्यधायि । तत्क्षणात् तत्र *ललिताङ्गाद्याः* कुमाराः क्रोधोद्धुराः समुपविष्टाः । नैमित्तिकगिरा सर्वैश्चलद्भिस्तद्विमानगैर्वैताढ्यसन्निधौ खगहस्तगृहीता सा दृष्टा । धन्विना *ललिताङ्गेन* दृष्टः स विद्याभृद् इति आक्रुष्टः - 'रे खग[1]! रहः परामिषं गृह्णन् सार्थकं नाम कुरुषे । यत्त्वं विद्याधरीभूय छलात् परदारान् हरसि, तत् सिंहनाम धृत्वाऽपि साम्प्रतं कुर्कुरायसे'। इत्युक्तः सोऽधमः करात् कन्यां त्यक्त्वा शरान् वर्षन् *ललिताङ्ग*सम्मुखं समागमत् । *ललिताङ्गेनाऽ*पि [2]निशितशरेण मूर्धनि हतः क्षणाद् मृतः । अथ सर्वैः कुमारैः पश्यद्भिः सा *उन्मादयन्ती* मृतेव दृष्टा । नष्टचेष्टा च 'दुष्टाहिना दष्टा इति निश्चित्य सर्वेऽपि विषादमापन्नाः । तदा दयार्द्रेण केनचित् कुमारेण सिद्धगारुडविद्यया सा जीविता । तुष्टैस्तैः पितृपार्श्वे तां नीत्वा निजनिजवार्त्ता कथिता,

1. खगो विद्याधरः पक्षी च । 2. तीक्ष्णबाणेन ।

परं कृतोपकारास्ते सर्वे [1]तदर्थिनः सञ्जाता विवदन्ते। तदा चिन्तितं जनकोटिसहितेन कन्याजनकेन यथा-

खगो ललिताङ्गहतः १, कालज्ञेन च दर्शितः २ ।
विमानकृता द्वौ नीतौ ३, मृता तुर्येण जीविता ४ ॥३०॥

" चत्वारोऽपि सदृग्रूपा महासामन्तनन्दना बलिनोऽलङ्घनीयाश्च दृढं कन्याबद्धाग्रहाः, ततः कथं त्रीन् अपमान्य कस्यचिदेकस्य इमां ददामि ? । अथवा कोऽस्या उचितोऽनुचितो वा भविता ? न वेद्म्यहम् । कन्यायाः प्रतिज्ञाऽपि चतुर्भिरपि पूरिता" । एवं मन्त्रि-सामन्तसंयुतो नृपश्चिन्ताम्बुधेः पारमपश्यन् दुःखवान् स्थितः । तं व्यतिकरं श्रुत्वा राजपुत्री व्यचिन्तयत् - "*ललिताङ्गे* हि मन्मनः, तथापि मद्दुर्दैववशात् कुमाराणां परस्परं विवादोऽभूत् । तातोऽपि बहुकलहं विलोक्य दुःखितो जातः । मम रूपं ह्यनर्थकारि जातं, तद् धिगस्तु मे जीवितम् । ममापत्पतिताया जीवितान्मरणं वरम् । आत्मघातो निषिद्धोऽपि क्वचिद्विशुद्धोऽनुमतः"। इति तया ध्यात्वा पितौ विज्ञप्तौ - 'मा विषीदतं युवां, मम दारूणि दीयन्तां, यथा सर्वं सुस्थं भवेत्; अन्यथा बहुसंहारो भविता, इष्टसिद्धिस्तु सन्दिग्धा, जनेष्वपवादोऽपि दुस्त्यजः' । इत्थं पुत्र्याः कथितं निशम्य राजा *सुबुद्धि*मन्त्रिणं प्राह - 'भो मन्त्रिन् ! विपद्वार्द्धौ निमग्नं मां किमुपेक्षसे ? । यो विषमं कार्यं समं करोति स धीसखो[2] धीसुखं[3] श्रयेत् । समे कार्ये तस्य किं बुद्धियोजनेन प्रयोजनम्?'। तत् श्रुत्वा मन्त्रिणोक्तम्- 'कन्या स्वार्थं कुरुताम् । परिणतौ[4] [5]वरं यतिष्येऽहं यथा

1. कन्यार्थिनः । 2. मन्त्री । 3. बुद्धिसुखम् । 4. परिणामे । 5. शोभनम् ।

कन्याया वरस्य च सुखं भवेत्, आवयोरपि च कल्याणं भविष्यति'। ततो नृपाज्ञया सुरभिदारुभिश्चितां निर्माप्य मन्त्रिणा चत्वारोऽपि कुमारा आहूताः, भणिताश्चेति - "भो भोः ! समगुणा यूयं मान्याः, अस्माकं गौरवोचिताः, ततः त्रीन् अपमान्यैषा कथमेकस्य वितीर्येत[1]?। ततः स्तोके वस्तुनि युष्माभिः खेदो न कार्यः । ज्वलने प्रविशन्तीयं बालाऽनुमन्यताम् । गाढानुरागी च यो मानी स कन्यामनुगच्छतु, यतः स्नेहफलं नान्यत् । उक्तं च -

काऽसायाज्ञा यत्र कार्ये विचार्यं,
तत्किं दानं यत्र वेलाविलम्बः ? ।
का सा प्रीतिर्यत्र काऽप्यप्रतीति-
स्तत्किं सौख्यं यत्र कोऽप्यन्तरायः ? ॥३१॥

[2]दाडिमफलं व पिम्मं, सयलसायं होइ इक्कपक्खम्मि ।
जाव न बीओ रज्जइ, ता किं महुरत्तणं कुणइ? ॥३२॥

इति श्रुत्वा सर्वैश्चिन्तितम् - 'अहो ! बुद्धिफलं धीसखस्य'। 'भग्नो वादः, सम्मानिता वयम्; अतोऽस्या युक्तमिदं कर्त्तुम्' इति वदत्सु राजपुत्रेषु सा सशृङ्गारा समागता । याचकेभ्यश्च घनं धनं दत्त्वा चितान्तः प्रविष्टा । ततोऽभितो हुताशनो ज्वालितः । इतः 'कथमनाथेयं मम प्रिया चैकाकिनी वह्निना ज्वाल्यते ? किं वैनां विना मम जीवितेन ?' इति ध्यायन् सामन्त-मन्त्रिमित्रैर्वार्य-माणोऽपि *ललिताङ्गः* शीघ्रं चितां प्रविवेश । सर्वे सविस्मयाः स्थिताः । यतः -

1. दीयेत । 2. दाडिमफलमिव प्रेम, सकलस्वादं भवति एकपक्षे ।
यावद् न द्वितीयो रज्यते, तत् किं मधुरत्वं करोति ? ।

[1]छुहियाण भोयणमिव, राओ रमणीसु होइ कामीणं ।
नेहो पुण विरलाणं, जो मरणंते न नियडेइ ॥३३॥

[2]तण्हागुणगया बप्पी-हया वि बहुसो पियं पिबिंति ।
साहावियपिम्मं पुण, नज्जइ कज्जेहिं विहुरेसु ॥३४॥

अथ चिताप्रविष्टं कुमारं वीक्ष्य *उन्मादयन्ती* कथयामास- 'हे आर्यपुत्र ! मम निर्भाग्यायाः कृते किमिदं कृतम्?'। इति स्नेहोल्लासां तां विज्ञाय यावत् किमपि वक्ति, तावद् झटिति मन्त्रीशनियुक्तैः पुरुषैः सुरङ्गामुखमुद्घाटितं, तेन तौ मन्त्रिवेश्म गतौ । ज्वलज्ज्वालाकरालं तं चिताग्निं द्रष्टुमक्षमाः सविस्मया विविधालापं कुर्वाणाः सर्वेऽपि राजकुमारा यथाऽऽयातास्तथा गताः । ततो मन्त्रिणा भणितम् - "अहो ! *ललिताङ्गस्य* साहसम्, अहो ! पत्नीस्नेहः, अहो ! निश्चयकारिता । भोः कुमाराः ! भवद्भि र्जीवितप्रियैः राजकुमारी त्यक्ता । चेद् देवतादिसान्निध्यात् तौ जातुचिद् जीवतस्तदा अन्यभवात् प्राप्तां तां कुमारीं स्वीकर्त्तुं *ललिताङ्गो* योग्यः, न यूयम्" । तेऽप्याहुः - ' चेदेवं तदा नाऽस्माभिः किमपि कथनीयम्' । एवं तेषु प्रपन्नेषु सत्यमुक्तं मन्त्रीशेन, स्वमन्दिराच्च तौ समानीतौ । चित्रभूतौ तौ दृष्ट्वा सर्वेऽपि चमत्कृताः। राज्ञाऽप्यानन्दपूर्णेन विवाहयोस्तयोर्महोत्सवौ युगपन्निर्मितौ ।

अथ *उन्मादयन्त्या* सार्द्धं *ललिताङ्गकुमारः* स्वं पुरं गतः।

1. क्षुधितानां भोजने इव, रागो रमणीषु भवति कामिनाम् ।
स्नेहः पुनर्विरलानां, यो मरणान्ते न निपतति ॥
2. तृष्णागुणगताश्चातका अपि बहुशः प्रियं पिबन्ति ।
स्वाभाविकप्रेम पुनः, ज्ञायते कार्यैर्विधुरेषु ॥

पित्रा महताऽऽडम्बरेण नगरे प्रवेशितः । स पितरौ ननाम, स्वावासे च गतः । *उन्मादयन्त्या* सह पञ्चविधान् कामभोगानुपभुञ्जानो दोगुन्दुकदेववद् बहुकालं गमयामास। अथ पित्रा सुमुहूर्त्ते राज्ये संस्थापितः सुहृदानन्ददो *ललिताङ्गनृपः* प्रजां प्रजामिव पालयामास।

अथाऽन्यदा स्वच्छजलौघैर्विकसत्कमलैर्विराजिते शरत्काले *उन्मादयन्त्या* सह विविधाः क्रीडाः कुर्वन् गवाक्षे स्थितः। यतः-

परिमलमिलिताली मालतीपुष्पमाला,
सुरभिजलविमिश्रं चन्दनालेपनं च ।
तुहिनकिरणरश्मिश्चञ्चला चाऽपि दोला,
शरदि सुखविभूत्यै कामलोला मृगाक्षी ॥३५॥

अस्मिन्नवसरे *ललिताङ्ग* आकाशे विश्रसास्वभावेन अभ्रौघकृतं प्रौढं पञ्चवर्णं प्रासादं शिल्पिना कल्पितमिव उत्प्रैक्षत। तं च क्षणाद् वातहतं दृष्ट्वा खेदमापन्नो नृपः प्रणयिनीं प्रोवाच - "हे प्रिये ! प्रासादप्रेक्षणे विधिना विघ्नो विहितः । हे सुलोचने ! शरद्घनानां त्वं चापलं विलोकय, यत् सुदृष्टोऽपि प्रासादः क्षणाद् विनष्टः । यथा चैते घनास्तथैवैते धना-ऽऽयु-र्जीवितादयो घटन्ते विघटन्ते च कुतश्चिद् ज्ञायते न हि । हे मृगाक्षि ! एष्वपि धनं बन्धनमेव । अर्जने तथा रक्षणेऽर्थोऽनर्थमूलम्। यतः-

अर्थानामर्जने दुःखं-मर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थोऽनर्थभाजनम् ॥३६॥

हे तन्वङ्गि ! आयुर्वायुरिवाऽत्यन्तमनित्यं, चतुरङ्गं गज-रथा-ऽश्व-पदातिकलितं महद्बलं दधतं राजानमपि क्षणेन हरति

मृत्युः । यतः -

चला विभूतिः क्षणभङ्गि यौवनं,
कृतान्तदन्तान्तरवर्त्ति जीवितम् ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने, अहो !
नृणां विस्मयकारि चेष्टितम् ॥३७॥

हे मृगशावनेत्रे ! तारुण्यमपि भयङ्करं सदा शून्यारण्योपमं मन्मथप्रवर्धकं रोगमूलं च । यतः -

आत्मसुखार्थं क्रियते भोगः, पश्चादेति शरीरे रोगः ।
रोगे जाते मरणं शरणं, तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥३८॥

ब्रह्म-पुरन्दर-सप्तसमुद्रा, अष्टकुलाचल-दिनकर-रुद्राः ।
नष्टा यत्र विचित्रापायः, स्थास्यति तत्र कथं मम कायः? ॥३९॥

तथा हे सुलोचने ! कायोऽपि बह्वपायः स्वप्नराज्यप्रायः सप्तधातुमयो मलावकरोऽशुचिसमुद्भवः, तस्मिन् काये का सारता?। यतः -

यत् प्रातः संस्कृतं धान्यं, मध्याह्ने तद् विनश्यति ।
तदीयरसनिष्पन्ने, काये का नाम सारता ? ॥४०॥

अभ्यक्तोऽपि विलिप्तोऽपि, धौतोऽपि घटकोटिभिः ।
न याति शुचितां कायः, शुण्डाघट[1] इवाऽशुचिः ॥४१॥

अमेध्यपूर्णे[2] कृमिजालसङ्कुले, स्वभावदुर्गन्धिनि पूतिपूरिते[3]।
कलेवरे मूत्र-पुरीषभाजने, रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः ॥४२॥

1. मदिराघटः । 2. अपवित्रपुर्णे । 3. दुर्गन्धभृते ।

हे भामिनि ! भोगाः शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शव्यापिनः परमार्थेन रोगा एव । यतः -

[1]सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दुग्गइं ॥४३॥

एतानि तानि नवयौवनगर्वितानि,
मिष्टान्न-पान-शयना-ऽऽसनलालितानि ।
सन्ध्याभ्ररागसदृशानि विनश्वराणि,
भूमौ लुठन्ति क्वथितानि कलेवराणि ॥४४॥

[2]जं च कामसुहं लोए, जं च दिव्वं महासुहं ।
वीयरायसुहस्स तं, णंतभागंपि नऽग्घइ ॥४५॥

ये प्रभातेऽर्था दृश्यन्ते ते मध्याह्ने न दृष्टाः, ये मध्याह्ने दृष्टास्ते नो रात्रौ, निशि वीक्षिता न कल्ये । यत्र जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा रिपवः इष्टाऽनिष्टगमागमौ च धावन्ति, तत्र संसारे हे प्रिये ! किं सुखम् ? । इत्यसारे संसारे मृगतृष्णोपमे मुग्धो मनोमृगः साम्यसुधारससरो मुक्त्वा मुधा धावति । तत्र संसारे च दुःखागारं गृहवासं मूढो बहु मन्यते । यतः -

गेहं जर्जरमाखुभिः[3] कृतबिलं चेलं च यूकाकुलं,
शय्या मत्कुणव्याकुला वपुषि रुग् रुक्षान्नसम्भोजनम् ।

1. शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः ।
कामान् प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥
2. यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महासुखम् ।
वीतरागसुखस्य तद्, अनन्तभागमपि नाऽर्घति ॥ 3. मूषकैः ।

वृत्तिर्भारयहादिका [1]परुषयागज्ञा कुरूपा वधू-र्यस्येत्थं
ननु सोऽपि नोज्झति गृहासङ्गं हहा ! मूढधीः ॥४६॥"

एवं वैराग्यवान् नृपो यावद् भावनां भावयति, तावद् विमानाकुलमम्बरं वीक्ष्य विविधतूर्यघोषं च भुवि श्रुत्वा भृशं कौतुकवान् व्यलोकयत् । तावद् वनपालेन विज्ञप्तः - "हे विभो ! विभवैर्वर्धस्व । हे देव ! त्वत्पुरोद्यानेऽर्हन् सर्वज्ञः सर्वदर्शकः समवसृतः । देवैर्यन्मणितोरण-केतुयुग् युगपद्रजत-कनक-रत्ननिर्मितं समवसरणं रचितं तद् गिरा वक्तुमपि न शक्यते" । एतदाकर्ण्य रोमाञ्चकञ्चुकाऽञ्चितो नृपतिस्तस्मै दीनारलक्षं दत्त्वा सान्तःपुर-परिजनः सुसामग्र्या वन्दितुं गतः । दृष्ट्वा च समवसरणं राजचिह्नानि त्यक्त्वा जिनसमीपे गत्वा विधिना विनम्य उचितस्थाने निषण्णो जिनोपदिष्टं तत्त्ववचोऽमृतं पपौ । भगवन्मुखाच्च संसारस्याऽसारतां श्रुत्वा दुर्वारं मोहराजं विजित्य जिनं नमस्कृत्य गृहे गत्वा पुत्रं राज्ये संस्थाप्य जिनराजसमीपे प्रियया सह दीक्षां जग्राह । चिरकालं निरतिचारं चारित्रं समाराध्य प्रान्ते संलेखनां कृत्वा समाधिना च कालं कृत्वा ईशाने देवलोके पञ्चपल्यायुषौ देव-देव्यौ अजायेताम् ।

तत्र चिरकालं देवभोगान् भुक्त्वा ततो देवः पूर्वं च्युत्वा इहैव जम्बूद्वीपे *सुकच्छे* विजये *विश्वपुर्यां* नगर्यां *सुरतेजो*महीपतेः *पुष्पावत्या* दयितायाः कुक्षौ पुत्रत्वेन समुत्पन्नः, क्रमेण च जन्म प्राप्तः । माता-पितृभ्यां *देवसेन* इति नाम कृतम् । क्रमेण वर्द्धमानः शस्त्र-शास्त्रकलाकुशलो जातः । तरुणीमनःकार्मणं यौवनं प्राप्तः,

1. कर्कशवचना ।

परं स्त्रीषु विमुखो जातः, गुणगणग्रहणे च सम्मुखो जातः ।

अथोन्मादयन्तीजीवो देवीभवाच्च्युत्वा तस्मिन्नेव *सुकच्छे* विजये *वैताढ्य*पर्वते दक्षिणश्रेणौ *सुरसुन्दरपुरे* विद्याधर-शिरोमणे *रविकिरण*राज्ञो *रविकान्तायां* प्रियायां पुत्रीत्वेनाऽभवत् । क्रमाद् जाता । पित्रा *चन्द्रकान्ता* इति कृतनामा चतुःषष्टि-स्त्रीकलाकुशला, परं पुंसु पराङ्मुखा बभूव । ततः सखीभिः सुरकुमाराभाः खेचरा वरा विविधा वर्ण्यन्ते, परं सा तन्नामाऽपि न सहते । ततः पित्रोर्मनोवनं चिन्तावह्निर्ददाह । अथाऽन्यदा *चन्द्रकान्ता* सखीभिः सह शैलाग्रे रन्तुं गता, तत्र *देवसेन*कुमारस्य सतानमानं मधुरस्वरं स्फुटाक्षरं गीतं किन्नरयुग्मेण गीयमानं निशम्य *चन्द्रकान्ता* कर्णकच्चोलकाभ्यां सुधामिव पायं पायं तन्नाम्नि भृशं मुमुदे, यतः प्राग्भवप्रीतिर्दुस्त्यजा। उक्तं च -

[1]नामंपि भवंतरवल्लहस्स निसुयं सुहावेइ ।
जीवंति विसुपसन्ना, निसुणंता गारुडं मंतं ॥४७॥

ततो ज्ञातभावा प्रियङ्करी सखी किन्नरयुग्मं प्रत्यपृच्छत्- 'युवाभ्यां योऽयं गुणैर्वर्ण्यते स *देवसेनः* कः ?' । ततस्तावूचतुः- "गुणशालिनां सुराणां नृणां वा गुणा एकाग्रगुणरागिभिर्विज्ञैर्वर्ण्यन्ते। यतः -

असतोऽपि गुणान् ब्रूयात्, परेषामुत्तमः पुमान् ।
मध्यमस्तु सतोऽप्येव, सतोऽपि हि न चाऽधमः ॥४८॥

1. नामाऽपि भवान्तरवल्लभस्य निश्रुतं सुखयति ।
जीवन्ति विषोपसन्ना, निशृण्वन्तो गारुडं मन्त्रम् ॥

अवनौ स्वेच्छं गच्छद्भ्यामावाभ्यां *विश्वपुरी*बाह्योद्याने *देवसेनकुमारः* साक्षात् स्वचक्षुषा वीक्षितः । यो दानैर्धनार्थिनां मुदं दत्ते, सन्मानैर्मानशालिनां हर्षं दत्ते, तुष्टदृष्टिसुधारसैश्च सुहृदां मुदं दत्ते । यस्य रूपं दृष्ट्वा अङ्गजोऽप्यनङ्गत्वं प्राप्तः । यस्य सौम्यत्वमलब्ध्वा चन्द्रः किल कलङ्कितां प्राप्तः । यत्प्रतापं रविः सहस्रसङ्ख्यैः करैरिच्छति । यद्बुद्धिनिर्जिता गुरु-शुक्र-बुधा दूरे गताः । दृष्टस्वरूपस्य सद्गुणशालिनस्तस्य गीतं वीतमप्यावयोः कण्ठे गुणैर्बलादानीयते" । इति किन्नरमिथुनोक्तं सर्वं निशम्य सखी कथयामास - 'हे स्वामिनि ! बहुकालोऽत्राभवत्, माताऽधृतिं करिष्यति, ततः स्वस्थाने गम्यते' । इत्युक्त्वा सा गृहे नीता, परं तस्मिन् लग्नहृदयाऽभूत् । सखीभिस्तस्या मातुः पुरः सर्वं कथितम्। ततो बान्धवाः स्वसारमबोधयन् - ' खेचराः स्वेच्छं सर्वत्र रमन्ते, भ्रमन्ति तिष्ठन्ति च । देववद् विद्यासिद्धसर्वमनोरथा अमी विद्याधरा धन्या ये विद्यया यथेप्सितरूपाणि कुर्वन्ति, अर्थिभ्यो वाञ्छितं ददते, अस्खलितप्रतापाश्च भवन्ति । भूमिगोचराः पुनर्धात्रा नरवेषेण कीटका घटिताः । ते दीनाः परिभवस्थानं व्यर्थमनोरथाश्च । ये हि कर्मभूमिषु विचरतोऽर्हतो नैव वन्दन्ते, मोहनाशिनीं तेषां धर्मदेशनां नाऽऽकर्णयन्ति, तेषां भूचराणां बलं रूपं विज्ञानं च को बुधः प्रत्येति ? येषां हस्तात् खेचरैः पङ्गुवदपह्रियते" । इत्येवं जल्पतां स्वजनानां पुर*श्चन्द्रकान्ता* कथयामास - "स्वस्तुतिः परनिन्दा च राग-द्वेषाद् विधीयेते, मध्यस्थः पुनर्भूचर- विद्याधरयोर्नृभवस्य समानत्वाद् जन्म-जरा-मृत्यु-रोगादिकान् भावान् द्वयोः पक्ष-योस्तुल्यतया प्रेक्षते । नभसि तु विहङ्गमा अपि व्रजन्ति, रूपविपर्ययं

नटा अपि कुर्वन्ति, ततः प्राज्ञानामियता को मदः ?। एके विद्याबलेन रिपून् जयन्ति, परे बाहुभ्यां द्विषतो जयन्ति, मध्यस्थाः ! विचारयत, तेषु के शंसनीयाः के च विगोपनीयाः ? । मनुष्येषु चेद् विद्याधरजातिर्महोत्तमा स्यात् ततोऽत्राऽर्हच्चक्रभृद्-बल-केशवाः कथं न स्युः ? । चेद् भूमिगोचरैश्चक्रि-केशवैः सवीर्याः खेचरा वशीक्रियन्ते, ततो विद्यया ते कथं माद्यन्ति ?"। इति तया सुयुक्तिभिर्निरुत्तरीकृता भ्रातृवर्गाः । ततस्तातेन अस्मिन् प्राग्भव-स्नेहसङ्गता कलिता । अथ पित्रा कन्याप्रतिबिम्बं प्रेषितम्। तत् प्रतिरूपकं निरीक्ष्य *देवसेन*कुमारो गाढरागेण गृहीतः । इतश्च *रविकिरणो* विद्याधरराट् विद्यया चण्डालीभूय गान्धर्वपात्रेण सह तत्राऽगात् । सभायां तेन मधुरस्वरं गायता कन्याव्यग्रं कुमारेन्द्रं विनाऽखिलो जनोऽरञ्जि । गायं गायं खिन्नोऽसौ । ततः कुमारेणोक्तम् - 'भो गान्धर्व ! त्वत्पुत्र्याः कीदृशी कला ?' । तेनोक्तम् - 'तवाऽनया किं कार्यम् ? मम गीतं विचारय' । ततः कुमारेणोक्तम् - 'पुनर्गीयताम्' । तदा सभ्यैरुक्तम् -'हे विभो ! गाढगानेन भृशमस्य कालोऽभूत्, साम्प्रतं क्लेशेन किम् ?' । तच्छ्रुत्वा कुमारेण गीतगानं रुद्धम् । तदनन्तरं कुमारस्य चेष्टां विलोक्य खेचरश्चित्तेऽचिन्तयत् - 'यथा निजजातीयान् विद्याधर-कुमारान् अपमान्य कुमारीयं कुमारे गाढरागिणी, तथा चण्डाली-रूपायां मम सुतायां जनापवादमुल्लङ्घ्य कुमारस्य प्रेमपूर्णता प्रेक्ष्यते, ततोऽनयोर्विवाहोऽर्हः' । इति निश्चित्य खेचरः 'तवाऽगुणज्ञस्य सेवा मुधैव' इति ब्रुवन् गतः । ततो विवाहार्हां समग्रसामग्रीं कृत्वा प्रौढविमानांश्च कृत्वा लक्षशो विमानारूढैर्विद्याधरैर्विविधैर्वर्यतूर्य-

महारवैश्च व्योम सहसा सम्भृतं वीक्ष्य राजा विस्मितो यावत् किमपि चिन्तयति, तावता केनचित् खेचरेण समागत्य नतिपूर्वकं विज्ञप्तः – 'हे देव ! वसुधाधीश! वैवाहिकवरोत्सवैर्वर्द्धस्व, विद्याधरेन्द्रो *रविकिरणो* नातिदूरे समागतः त्वत्पुत्राय सुतां दातुम्'। तत् श्रुत्वा *सुरतेजा* नृपो हर्षभरप्रफुल्लिताङ्गो महताऽऽडम्बरेण सम्मुखं ययौ। महता स्नेहेन किलोभौ मिलितौ, आवासाश्च दत्ताः, विहिता च विविधा प्रतिपत्तिः । स्नेहसमृद्धयोस्तयोरपत्यसम्बन्धो घटितः । सन्मुहूर्त्ते तयोर्विख्यातं विवाहमङ्गलं जातम् । चारुचन्दनसद्गन्धस्रग्-भूषण-सुवाससां दानेन द्वयोः पक्षयोः सकलो लोको भृशं रञ्जितः। सदृग्युग्मरूपसम्पन्निरीक्षणाद् अतृप्तोऽपि कन्यावियोगभीतोऽपि नृपपूजया तुष्टोऽपि सुतामालापनापूर्वं भूपतिमनुज्ञाप्य स खगेश्वरो विश्वपुर्याः स्वस्थानेऽगमत्। *वैताढ्याद*सौ दिव्यानि भोगाङ्गानि दुहितुः प्रेषयति प्रतिदिनम् । अथ *सुरतेजा* नृपः सद्गुरुधर्मदेशनां निशम्य, संसाराऽसारतां च विज्ञाय, *देवसेन*कुमारं राज्ये नियोज्य विशुद्धपरिणामेन चारित्रमङ्गीचकार। *देवसेन*नृपोऽपि *चन्द्रकान्तया*-ऽग्रमहिष्या समं न्यायमार्गेण प्रजाः पालयामास । क्रमात् *चन्द्रकान्तायां* सुन्दरः पुत्रोऽजनि, *शूरसेने*तिकृतनाम्ना सूनुना *चन्द्रकान्ता* महिषी सूर्योदये प्राची दिगिव दिद्युते । अथाऽन्यदा व्याक्षिप्तचेतसा *रविकिरणेन* राज्ञा सुदिव्यानि भोगाङ्गानि एतयोर्न प्रेषितानि । ततः प्रस्तावे चेटीभिश्च*न्द्रकान्तायै* वास्तव्योद्वर्त्तनादीनि उपनिन्यिरे । तानि दृष्ट्वा सा दीनास्याऽभूत्। चिन्तयामास च – 'पित्राऽद्य मे किञ्चिदपि न प्रेषितम् । कथमहं विस्मृता ? किं कोपतः किं वा स्नेहलोपतः ?' । इति ध्यायन्ती सा वह्निदग्धा

मालतीकलिकेव, अथवा हिमप्लुष्टा पद्मिनीव विच्छायवदना दक्षाभिः सखीभिरित्यबोधि - "हे स्वामिनि ! *अन्यदत्तं सुखं नित्यं न भवति, यथा याचितमण्डनम्* । ततस्तल्लाभा-ऽलाभयोः तोष-रोषौ न कार्यौ । अपमानास्पदं भावयित्वा जनैः पराशा न विधीयते, इति हेतोः सन्तः सन्तोषपरा भवन्ति । यतः-

यस्मिन्महार्घमल्पार्थं, निर्मलं समलं भवेत् ।
सरसं मलविष्टा स्यात्, तत्राऽङ्गे किं वरावरम् ? ॥४९॥

ततः सुधीर्द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसारेण स्वदेहसाधनार्थं भोगोपभोगकौ कुर्यात् । यतः -

यदि यत्रैव तत्रैव, यथैव च तथैव च ।
[1]रतिं रे जीव ! बध्नासि, नाऽसि दुःखस्य भाजनम् ॥५०॥

अथ 'सखीभिर्यदुक्तं तद् युक्तियुक्तम्' इति विचिन्त्य पुण्यानुबन्धिपुण्योपचयाच्च संवेगानुगता राज्ञी सखीजनमब्रवीत्- "हे सख्यः ! अन्याशा पराभवनिबन्धनं सत्यम् । ये एते शब्दादि-कामभोगाः प्रार्थ्यन्ते ते पञ्चेन्द्रियपराधीनत्वाद् नियमाद् आत्मनः परोद्भवाः, तथापि जीवाः सुखस्मयं मुधा कुर्वन्ति । ये च मनोज्ञ-गायनादिषु शब्दादयो गुणास्तान् भुक्त्वाऽपि जीवा न कदापि तृप्यन्ति, ततो भोगिनां भोगेषु किमभिमानम् ? । ततो हे सख्यः! मोहविलासैरुद्वर्त्तनादिभिरलं,सद्यः स्वाधीनसौख्यदां प्रव्रज्यां प्रतिपद्येऽहम् " । तद्वचनं श्रुत्वा विवक्षाभिर्वयस्याभिः पादयोः पतित्वाऽभाणि - 'हे देवि ! क्षितौ देवे [2]प्रभवति तव किञ्चित्पराधीनं

1. सन्तोषम् । 2. त्वत्स्वामिनि देवसेने भूपतौ शासति सति ।

नास्ति, ततः कायस्थितिं कुरु, नेदृशं हसितुं युक्तम्' । तदा राज्ञी प्रोवाच - "पूर्णं [1]छन्दकैर्मया ज्ञातं भवसुखं मुखमधुरं विपाककटुकम् । ये धर्मं परित्यज्य विषयान् अभिलषन्ति, ते सुधारसं त्यक्त्वा विषं भुञ्जते । यतः -

यत्नेन पापानि समाचरन्ति, धर्मं प्रसङ्गादपि नाऽऽचरन्ति।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोके, क्षीरं परित्यज्य विषं पिबन्ति ॥५१॥

हे सख्यः ! मुनिव्रातैरनुभूतात् परमानन्ददायकात् शमाऽमृताद् भवादृशीभिरज्ञाभिरियत्कालं वञ्चिताऽस्मि । किं प्रेम? को वा विरहः ? के विषयाः ? । सर्वमिदं स्वप्नराज्योपमं संसारवृद्धिकारणं दुर्गतिस्थानमेव । यतः -

[2]सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥५२॥

हे सख्यः ! ताभिः श्रमणीभिर्जीवितं सुलब्धं, यासां तपस्तप्ते देहे दाहभयाद् मदनेन मनागपि पदं न हि कृतम्"। एवं वैराग्यपरा देवी सञ्जाता । अस्मिन्नवसरे प्रतिहार्येति प्रोक्तम् - " हे देवि ! स्वामिनाऽऽदिष्टं यत्, संसारपारावारनिमज्जज्जन्तुजातनिस्तारकं, जन्म-जरा-रोग-शोक-भयवारकम्, इन्द्रोपेन्द्राद्यजेयमोहमल्लविनाशकम्, अस्तोककेवलालोकलोकितलोकालोकं, चतुस्त्रिंशदतिशयोपशोभितं, सुरा-ऽसुर-नरनिकरसेवितपादपद्मं *श्रीविजयनामा*नमर्हन्तं वन्दितुमुत्सुको देवो याति; ततस्त्वं त्वरां कुरु" ।

1. पराधीनभावैः । 2. शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः ।
कामान् प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ।

इति प्रतिहारीवचनं श्रुत्वा आनन्दमेदुरा प्रफुल्लरोमकूपा तस्यै प्रीतिदानं दत्त्वा कृताङ्गसारशृङ्गारा भूभुजा समं चलिता । जगज्जन्तुशरणे दिव्ये समवसरणे गता राजादयो विधिना जिनं नत्वा योग्यस्थाने स्थिता धर्मं श्रोतुमिच्छन्ति ।

तदा प्रभुणाऽपि पापनाशिनी देशना प्रारब्धा - "भो भव्याः! भीमे भवारण्ये भ्रमतामखिलाङ्गिनां घनं दुःखं सुखं चाऽल्पम् । तद्यथा-नरकगतौ पापकारका नारकाः शीतोष्ण-शस्त्रसम्पात-शाल्मलि-वालुकादिभिरनन्तशो दुःखानि प्राप्ताः । यतः -

[1]नेरइया दसविह वेयण, सी-उसिण-पिवास-कंडूहिं ।
परवसह जरं दाहं, भय-सोगं वाहिं चेव वेयंति ॥५३॥

तथा तिर्यग्गतावपि शीतोष्ण-क्षुधा-तृषा-बन्धन-भारवहादिकानि दुःखलक्षाणि, तानि च तिर्यक्षु स्वचक्षुषा साक्षाद् लक्ष्यन्ते । देवा अपि अभियोग-विषादेर्ष्या-क्रोध-लोभादिकै-र्दुःस्थिताः, च्युतिकाले पुनर्विशेषेण । मनुष्याः पुनर्जन्म-मृत्यु-जरा-दौःस्थ्य-रोग-शोक-वियोग-विषादजैर्दुःखैर्दुःखिताः, कुस्वामि-पिशुनोत्थानैर्दुःखौघैर्नराः पुनराकुलाः। अतो भो भव्याः! जन्म-जरा-मृत्युरहितं निराबाधमविनाशम् अपुनर्भवं निर्वृतिस्थानं साधयितव्यम् । ततो भो भव्याः ! दुर्वासनां त्यक्त्वा निर्वाणपददायके जगज्जन्तुजीवातौ श्रीजिनधर्मे उद्यमं कुरुत" । इति श्रीतीर्थनाथ-देशनां श्रुत्वा, संसाराऽसारतां मत्वा, विषयेभ्यो विरक्तो भूत्वा, भवभ्रमणभीतात्मा *देवसेननृपो* भगवन्तं प्रणम्य, गृहे गत्वा,

1. नैरयिका दशविधा वेदनाः, शीतोष्ण-पिपासा-कण्डूः ।
परवशतां ज्वरं दाहं, भय-शोकं व्याधिं चैव वेदयन्ति ॥

*शूरसेन*कुमाराय राज्यं दत्त्वा, जिनायतनेष्वष्टाह्निकमहोत्सवं कृत्वा, सप्तक्षेत्र्यां घनं धनम् उप्त्वा, दीनाऽनाथेभ्यो दानं ददत्, परिग्रहं त्यक्त्वा, पूर्वं प्रबुद्धया देव्या सार्द्धं महता महेन तीर्थङ्करसमीपे गत्वा चारु चारित्रं स्वीचकार ।

गतविषयविकारश्चारुचारित्रचारः,
[1]शमशरजितमारः शुद्धसिद्धान्तसारः ।
तप इह [2]विकलङ्कं चैष कृत्वाऽपशङ्कं,
मुनिरगमदशोकं पञ्चमं देवलोकम् ॥५४॥

तत्र ब्रह्मदेवलोके *देवसेन*राजर्षिः सुरेन्द्रोऽभूत् । राज्ञी-जीवोऽपि सच्चारित्रं प्रपाल्य तस्मिन्नेव देवलोके देवो बभूव। तत्र द्वयोर्मैत्री जाता । दशसागरायुषौ तौ परमभोगान् भुक्त्वा ततश्च्युतौ। सुरेन्द्रजीवोऽस्मिन्नैव भरतक्षेत्रे मध्यखण्डे कुरुदेशे *गजपुरे श्रीवाहनमहीपतेर्लक्ष्मीश्रीराज्ञी*कुक्षिखानौ रत्नवत् चतुर्दशस्वप्नसूचितो नन्दनो बभूव । राज्ञीजीवदेवोऽपि *बुद्धिसागरमन्त्रिणः सुदत्ताभार्यायां* पुत्रत्वेनोत्पेदे । राज्ञा पुत्रस्य *प्रियङ्कर* इति नाम कृतं, मन्त्रिणा च पुत्रस्य *मतिसागर* इति कृतं नाम । अन्यदा तौ दारकौ मिथो दृक्पथमायातौ प्राग्भवस्नेहतो मुदितौ परस्परं पश्यन्तौ नैव वियोग-मिच्छतः, वियोजितौ च रुदितः । ततः संयोजितौ धात्रीभिर्धार्यमाणौ क्रमेण वर्द्धमानौ कलाकलापसम्पन्नं तारुण्यं प्रापतुः । अथ राज्ञा यौवनं प्राप्तं *प्रियङ्करकुमारं* राजद्राजकुलोद्भवा रत्यनुकारा घनाः

1. शमरूपेण शरेण जितो मारः-कामदेवो येन, सः ।
2. कलङ्करहितम्-शुद्धम् ।

कन्याः परिणायिताः । मन्त्रिणाऽपि मन्त्रिवंशस्था अनेकाः कन्या मतिसागराय विवाहिताः। अथाऽन्यदा *श्रीवाहनो* महीपतिः *श्रीश्रुतसागर*गुर्वन्ते धर्मदेशनां निशम्य संसाराब्धेरसारतां, कषायाणां दुर्वारतां, स्त्रीणां शस्त्रीसमानतां, विषयाणां च विरसावसानतां ज्ञात्वा *प्रियङ्करकुमारं* राज्ये संस्थाप्य संसारसागरनिस्तारणीं दीक्षां जग्राह । *बुद्धिसागर*सचिवोऽपि *मतिसागरं* मन्त्रिपदे न्यस्य गुरुसमीपे चारु चारित्रं स्वीचक्रे । अथाऽन्यदा *प्रियङ्करनृपस्य* शस्त्रागारे दिव्यं चक्ररत्नं समुत्पन्नं, ततोऽनेन षट्खण्डं क्षोणिमण्डलं साधितम् । द्वात्रिंशत्सहस्रैः सामन्तैः सदा सेवितः चतुःषष्टिसहस्राऽन्तः पुरकासारसारसः स *प्रियङ्कर*श्चक्रवर्त्ती बहूनि पूर्वलक्षाणि स्वभुजार्जितान् मनोहरान् भोगान् बुभुजे । साम्राज्यभ्राजिनस्तस्य बहुषु मन्त्रिषु सत्स्वपि *मतिसागर*मन्त्रिणः समः कोऽपि प्रियो नाऽभूत् । यतः -

मातङ्गा नैव तुङ्गास्तुरग-रथवरा नैव सामन्तयोधा,
भाण्डागारं न रत्नान्यथ नव निधयो नैव दारा उदाराः ।
गीतं नृत्यं तथा नो ध्वनदुरु मुरजं नैव राज्यं न राष्ट्रो,
हृष्टो रुष्टोऽपि तुष्टिं सचिव इह यथा तस्य दृष्टो विधत्ते ॥५५॥

मन्त्रीश्वरोऽपि चक्रवर्त्तिनं देववद् गुरुवत् स्निग्धबन्धुवत् चित्तवत् सर्वस्ववत् सदा स्वस्य जीववच्च मन्यते । इति मिथो गाढस्नेहविस्मितौ तावुभौ अन्यदा हेतुं जिज्ञासितुं महाचिन्तान्वितौ जातौ । तस्मिन्नवसरे *श्रीसुप्रभना*माऽर्हन् समागतः । स च यशसेव शुभ्रेण छत्रत्रयेण शोभितः, केवलेनेव भामण्डलेन विश्वतमो

विध्वंसयन्, धर्मचक्ररुद्धाम्बरः, सिंहासन-चामरभूषितः, सुरदुन्दुभिनिर्घोषैर्घृष्टविष्टपवैभवो, हैमपद्मोपरिन्यस्तपादो, मुनिजनावृतो, दिव्ये समवसरणे भव्यान् बोधयितुमुपाविशत् । ततो वर्द्धापकनराद् जिनागमनं श्रुत्वा तावुभौ नितान्तमुदितौ वर्द्धापनिकां दत्त्वा सान्तःपुरपरिजनौ चतुरङ्गसेनासमन्वितौ महताऽऽडम्बरेण जिन-वन्दनार्थं निर्गतौ । जिनप्रातिहार्याणि दृष्ट्वा मुदितौ राजचिह्नानि त्यक्त्वा समवसरणे गत्वा त्रिः प्रदक्षिणां दत्त्वा जिनं नत्वा कृताञ्जली समासीनौ । ततस्त्रैलोक्यबन्धुना करुणारससिन्धुना त्रिजगत्स्वामिना योजनगामिन्या सर्वभाषा-समानया सुधारसकिरा गिरा देशना दातुमारेभे - "भो भव्यजनाः! जन्म-मृत्यु-जरानीरे दुःखावर्त्ते भवार्णवे पुण्यपोतमारोढुमत्र यत्नः कर्त्तुं युक्तः । अस्मिन्नसार-संसारसमुद्रे विधिधीवरनिर्मितमिदं दारुणदुःखदं मृत्युकालमहा-जालम् अप्रस्तावे पतति । अस्मिन् भवाम्बुधौ विषयामिषलुब्धः समग्रोऽपि प्राणिमीनगणः पतितः रटन्नपि कर्मकुठारेण छिद्यते । युक्तं च तद् यज्जलजन्तूनां स्थितिरत्रैव शाश्वती, परं गुणवन्तोऽपि धीवरा यदत्र निमज्जन्ति तदद्भुतम् । सम्पदं प्राप्तुमत्रैव यतमानाः प्राणिनो मनोरथपोते भग्ने प्रत्युत दुःखिता भवन्ति । केचित्कला-वहास्तस्य तरणे प्रवीणा अपि कुग्राहैर्निबिडं ग्रस्ताः पाताले ब्रुडन्ति। कियन्तः पुनरमुं संसारसमुद्रं उत्तीर्णप्राया अपि तीरं प्राप्ता अपि प्रमादकर्दमे मग्ना भग्नाङ्गा अधो निपतन्ति । ततो भो भव्याः ! प्रबोधत प्रबोधत, भोगैर्भयङ्करे संसारसमुद्रे मा मुह्यत मा मुह्यत । अप्रमत्ततया पुण्यपोतेन ईदृशं संसारसागरं विलङ्घ्य अनन्त-सुखनिवासं मुक्तिपत्तनं लभध्वम्"।

इति भगवद्देशनां श्रुत्वा संवेगरङ्गमग्नाभ्यां ताभ्यामेवमभाणि- "हे प्रभो ! सत्यं, धर्मनावं विना भवाब्धिर्दुस्तरः। हे प्रभो ! पुत्र-कलत्रादिस्नेहबन्धेन कीलिता जडजना जात्यन्धवत् साक्षात् प्रियाऽप्रिये न वीक्षन्ते, परं हे भगवन् ! आवाभ्यां तु पूज्यपादप्रसादेन शुद्धस्वरूपं ज्ञातं, तथापि मिथः स्नेहनिबन्धनं ज्ञातुमिच्छावः" । तदा त्रैलोक्यनाथेन तयोः पूर्वभवोदन्तः कथितः । ततो भगवाने-वमादिशत् - "युवाभ्यां समं पुण्यमर्जितं, सममेव च फलं भुक्तम्। युवयोः पूजाबीजोद्भवः पुण्यतरुरधुना स्फार्तिं गतः, स सिद्धि-साम्राज्यलाभतोऽवश्यं फलिता" । एवं विभोर्वचनं श्रुत्वा तयोर्जाति-स्मरणज्ञानं समुत्पन्नं, तेन तौ चक्रि-धीसखौ चारित्रधर्मसेवना-ऽभिमुखौ जातौ ।

प्राज्यं राज्यं झटिति कुरजःपुञ्जयद् वर्जयित्वा,
बन्धुस्नेहं निगडसदृशं तन्तुवत् त्रोटयित्वा ।
त्यक्त्वा स्त्रैणं तृणमिव रुदल्लोचनं दीनवक्त्रं,
श्रामण्यं प्राक्सुकृतकलितौ च सम्यक्प्रपन्नौ ॥५६॥

सत्तपस्तेजसोज्ज्वाल्य कर्मेन्धनं,
तौ च मुक्त्वा भवश्रेणिदुर्बन्धनम् ।
प्राप्नवन्तौ परां शाश्वतीं निर्वृतिं,
रात्रिरुद्धौ द्विरेफौ[1] यथाऽब्जच्युतौ ॥५७॥

इत्यज्ञानकृतोऽपि द्रव्यस्तव आर्जवमार्दवाद् विशेषेण [2]तयोः सुखहेतुरभूत्, तर्हि ज्ञानयोगेन बहुमानपुरस्सरतया श्रद्धासुधार-

1. भ्रमरौ । 2. शुक-शुक्योः, पूर्वमागतः सम्बन्धो द्रष्टव्यः पत्रे ११६ तमे ।

साऽऽधानेन विहितश्चेत् तदा कल्याणकारणं त्वेष जायते एव"।

अत्र प्रस्तुते इति गुरुकथितां कथां समाकर्ण्य दुःस्थो लब्धमहानिधिरिव, साधितमहाविद्यो विद्याधर इव, विकटसङ्गरे लब्धमहाजयः सुभट इव, जलदालोकी केकीव, इष्टवीक्षकश्च वियोगीव *देवसिंहकुमारः* सभार्योऽपि गुरुसमीपे धर्मं प्राप्य मुदं सम्प्राप्तः । ततो मुनिचरणाऽरविन्दं नत्वा स्वस्थाने गत्वा कति वासरान् तत्र स्थित्वा सदैव साधुसेवातोऽनुष्ठानकुशलोऽजनि ।

अन्यदाऽसौ *देवसिंहकुमारो* माता-पितरौ स्मृत्वा वाद्यैर्व्योम बधिरयन् सैन्यैर्दिशो धूसरयंश्च स्वपुरीं प्रति चलितः । सुतावियोग-दावाग्निनिर्दग्धमनसा महीभुजा पौरैरनुचरैश्चाऽनुगम्यमानः, राजाद्यैः सकलैर्लोकैर्दान-मान-सुवाग-दृग्भिः सन्तोषितो, निवर्तितैरपि लोकैर्वारं वारं विलोकितः, प्रियामनुनेतुं पुराऽऽरामादि दर्शयन्, पल्लीषु पल्लीशैः पूजितः, मानिनृपैरपि मानितो, गिरि-सरिद्-वापी-सरः-सुदीर्घिकासु क्रीडन्, ग्राम-पर्वत-नगरोद्यानादिषु च चैत्यानि पूजयन्, सर्वतो दुःखिताङ्गिभ्यो दयया दानं ददानः क्रमेण *मथुरां* नगरीं प्राप्तः । पित्रा महताऽऽडम्बरेण वर्द्धापनं कृतम् । समस्तसुहृदानन्दी *देवसिंह*कुमारस्तत्र प्रियया सार्द्धं प्राग्जन्म-सुकृताऽर्जितान् भोगान् देववद् अभुङ्क्त । अथ *मेघरथो* राजा *देवसिंह*सूनवे राज्यं दत्त्वा मुक्तिमानिनीसङ्गलिप्सुर्मुनिसन्निधौ चारित्रमङ्गीचकार, मोक्षनगरं च जगाम । *देवसिंह*नृपो रणं विनाऽपि प्रतापेन वशीकृतदुर्दान्तभूपतिर्न्यायवान् प्रजाप्रियो राजराजोऽभूत्।

सोऽन्यदा प्रभाते द्वेधा प्रबुद्धो हृद्यचिन्तयत् - "जगतीतले

ते राजानो धन्या ये तृणवद् राज्यं त्यक्त्वा प्रव्रजिताः । अहं तु जानन्नपि विरतेरुद्यमं न करोमि, तदसौ महामोहस्य विलासो विलसति । पिशाचीव भोगपिपासा मां भृशं ग्रसते, ततोऽद्यापि धत्तूरितवद् मन्मन इतस्ततो भ्रमति । कामकिरातो मम विवेकरत्नं मुष्णाति । इन्द्रियलुण्टाका ममैतां भावनाश्रियं लुण्टन्ति । सपाट-वैर्जिनोक्तिपटहोद्घोषैर्जाग्रदपि महामोहप्रमीलया निश्चेतनक्रिय-येवाऽहं तिष्ठामि। अथाऽयं दुष्टश्चारित्रमोहपारिपन्थिको लुब्धो न जानामि, मन्दधिया मया कथं विजेतव्यः ? । अथवा तज्जयोपायं पुरा सूरिवरैः प्रोक्तं द्रव्यस्तवमहं कुर्वे, यस्माद् भावस्तवः सम्पद्यते"। इति ध्यात्वा अथ शस्ते मुहूर्ते विशुद्धा पृथ्वी विलोकिता, नियोजिताः सूत्रधाराः केचित् चैत्यविधापने, केचिच्च जिनबिम्बनिर्मापणे, स्वयं च ब्रह्मचर्यपालनपरोऽभूत्। सोद्यमैः सूत्रधारैश्च प्रासादस्त्वरितं कृतः । अथ प्रासादवर्णनम् -

नीलरत्नशिलाबद्धं, मणिखण्डैश्च मण्डितम् ।
प्राङ्गणं यत्पुरो भाति, व्योमाङ्गणमिवागतम् ॥५८॥

स्फाटिके मण्डपे यस्य, रत्नजाः शालभञ्जिकाः ।
रेजुः किं गगनस्थाना-दायान्त्यः खेचराङ्गनाः ॥५९॥

[1]सच्छातकुम्भकुम्भाढ्यं, यस्योच्चं शिखरं बभौ ।
कूटं हिमगिरेः किं नु, विश्रामार्थमिहागतम् ॥६०॥

गच्छतो[2] व्योममार्गेण, [3]नाकिनो वारयन्निव ।

1. शातकुम्भं-स्वर्णम् । 2. विमानशङ्कयाऽऽगच्छन्नाकिनो वारयन्निव, इति पाठान्तरम् । 3. नाकिनो-देवाः ।

सितध्वजपटाटोपो, रेजे यस्योर्ध्वमुल्लसन् ॥६१॥

तुङ्गताचङ्गताऽऽकृष्ट-देयानामनिमेषिणाम् ।
प्रासादो रचिताह्लादो, [1]गतदोषो विनिर्ममे ॥६२॥

तस्मिन् जिनप्रासादे प्रशस्ते दिवसे सन्मुहूर्त्ते सच्चामर-च्छत्र-सिंहासनविभूषितं, [2]शरद्रजनीकरास्यं, क्षीरसागरकल्लोल-लोललोचनं, श्रीवत्सविभूषितवक्षःस्थलं, सुन्दराङ्गं, मणिमयम् अर्हद्बिम्बं गीतार्थगुरुसमीपे प्रतिष्ठाप्य प्रासादे स्थापयामास ।

अथ सभार्यो महीपतिः मन्दिरे जिनेन्द्रप्रतिमां प्रत्यहं त्रिसन्ध्यमपूजयत्, शारीरं मानसं च पापं निरवासयत् । तत्र पात्राणि ननृतुः । नरा निपुणगत्या वाद्यान्यवादयन् । किन्नर-किन्नर्यो जिनगुणगीतानि सुस्वरं जगुः । यस्मिन् रथयात्रा विरच्यन्ते, उत्सवाः क्रियन्ते, उद्यापनानि ढौक्यन्ते, परैरपि जनैर्विलोक्यन्ते, महापूजा विधीयन्ते, सुयोगिनो लीयन्ते, महादानानि दीयन्ते, शिवसम्पदश्च व्रियन्ते । अपरेषु च प्रासादेषु उत्सवप्रवर्त्तनेन तेन नृपेण स्वराज्यं सम्यक्त्वकलितं कृतम् । तद्देशे निःशेषो जनस्तदनुसरणतो जिने साधौ जिनालये च भक्तः प्रभाव-नोद्युक्तोऽजनि । एवं श्राद्धधर्मं चरन् वार्ध्यक्ये नृपोऽचिन्तयत्- "गृहिधर्मतरोः फलं श्रामण्यं मेऽधुना कर्त्तुं युक्तं, परं सुतोऽद्यापि मे बालः, तेन त्यक्तुं न शक्यते । अथवाऽस्यैव राज्यं दत्त्वा अहं निर्व्यापारो भवामि । यावदसौ वृद्धिं प्राप्नोति तावत्सामर्थ्यवेद्यहं

1. 'गतसादो' इति पाठान्तरम्। 2. शरच्चन्द्रवन्मुखम् ।

पश्चात्कृतपरिणतिः प्रव्रजिष्यामि गुर्वन्ते" । इति ध्यात्वा *देवसिंह*-महीपतिः सर्वजनसम्मत्या *नरसिंह*कुमारकं राज्येऽभिषिच्य सङ्क्षिप्ताऽणुव्रतः क्रियारतोऽभूत् । विविधवरतपोभिश्च शोषिताऽशेष-कायश्चारित्राभावेऽपि भावतो भावितचारित्रभावो निष्कलङ्कमनशनं कृत्वा समाधियोगेन कालं कृत्वा महाशुक्रकल्पे सप्तदशसागरायुर्देवो बभूव । अथ *कनकसुन्दरी* राज्ञ्यपि विशुद्धं श्राद्धधर्मं सेवित्वा तपोभरैः क्षितदेहा मृत्वा तत्रैव सप्तमदेवलोके देवो जातः सप्तदश-सागरायुः ।

एकत्र तत्र प्रवरे विमाने, तौ द्वौ च देवौ परमर्द्धियुक्तौ ।
जातौ मरुत्कोटिनतौ तदायुः, सप्ताधिका वै दश सागराश्च ॥६३॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे
गद्यबन्धे देवसिंहमहाराज-
कनकसुन्दरीराज्ञीश्रमणोपासकव्रताराधने
सप्तमस्वर्गगमनवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

चतुर्थः सर्गः

श्रीविमलकीर्तिः	– अयोध्यानृपः, देवरथपिता	रवितेजा	– सुप्रतिष्ठनृपः, रत्नावलीपिता
प्रियमती राज्ञी	– श्रीविमलकीर्ति–पत्नी	वसन्तसेना	– रवितेजः–पत्नी
देवरथकुमारः	– श्रीविमलकीर्ति–पुत्रः	रत्नावली	– रवितेजः–पुत्री (गुणसागर–जीवः)
	– (पृथ्वीचन्द्र–जीवः)	श्रीध्वजः	– कुण्डलपुराधिप, विद्याधरराट्
धवलः	– देवरथपुत्रः	चन्द्रगतिः	– श्रीध्वजसुतः
		सुमेधः	– श्रीध्वज–स्वसृपुत्रः

मूलकथान्तर्गतः धर्मवसुसूरिणा श्रीविमलकीर्तिनृपाय कथितः
श्रीरत्नशिखस्य दृष्टान्तः पृ. १६३–१६२

प्रथम–भवः :– सङ्गतः – पामरः

द्वितीय–भवः –

पद्मानन:	– नन्दिपुरनृपः,	पूर्णभद्रः	– रत्नशिख–मन्त्री
	– रत्नशिख–पिता	सूरणः	– सुरसङ्गीतपुराधिपः विद्याधरः
कुमुदिनी	– पद्मानन–पत्नी	स्वयम्प्रभा	– सूरण पत्नी
रत्नशिखः	– पद्मानन–पुत्रः, (सङ्गतजीवः)	महाप्रभा	– सूरण पत्नी
कौशल्या	– रत्नशिख–पत्नी	शशिवेग–सुरवेगौ	– सूरण–पुत्रौ
चन्द्रप्रभा	– शशिवेग–पुत्री	सुवेगः	– सुरवेग–मातुलः
वसुतेजा	– सुग्रीवपुराधिपः		

रत्नशिख–कथान्तर्गतम् कथकेन रत्नशिखनृपाय कथितं
विराङ्गद–सुमित्रयोः कथानकम् पृ. १६५–१८३

सुराङ्गदः	– विजयपुरनृपः	गङ्गादित्यः	– भद्रकापुरश्रेष्ठी
वीराङ्गदः	– सुराङ्गदपुत्रः	वसुन्धरा	– गङ्गादित्य–पत्नी
सुमित्रः	– प्रधानपुत्रः, वीराङ्गदमित्रः	जयविजये	– गङ्गादित्य–पुत्र्यौ
रतिसेना	– वेश्यापुत्री	शर्मकः	– परिव्राजकः

चतुर्थः सर्गः ।

सप्तम-अष्टमौ भवौ

जितेन्द्रियं जितक्रोधं, मान-माया-भयोज्झितम् ।
शान्तिनाथजिनं नत्वा, चतुर्थः सर्ग उच्यते ॥१॥

अथ शुक्राभिधे स्वर्गे परमोत्कृष्टं सुखं भुक्त्वा सम्पूर्णायुः प्रपाल्य पूर्वं नृपजीवसुरश्च्युत्वा यत्र स्थाने समुत्पन्नस्तथा भो भव्याः ! श्रूयताम् । तथाहि-अस्मिन् जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे सत्सौख्य-शाखिनां [1]कच्छे *सुकच्छे* विजये सुरपुरीसमा *अयोध्या* पुरी राजते। यत्र नाट्यक्षणे मञ्जुगुञ्जन्मुरजगर्जितात् सदा प्रासादेषु सुखिनः शिखिनो नृत्यन्ति, पुनर्यत्र वाजिखरखुरोत्क्षुण्णक्षितिजा धूली हस्तिमदसिक्ते चतुष्पथे जातुचिद् नोड्डीयते। सुखप्रशस्यायां तस्यां पुर्यां शुभ्रस्वकीर्त्तिकर्पूरवाससा वासितविष्टपः[2] *श्रीविमल-कीर्त्ती* राजाऽऽसीत् । बलिबन्धकरं[3] सुदर्शनधरं[4] च परं यं नृपं समीक्ष्य लक्ष्मीः साक्षाद् विष्णुवत् कक्षीचकार । तस्य राज्ञोऽन्तः-पुरप्रधाना *प्रियमतीनाम्नी* पट्टराज्ञी । रोहणोर्वीवत्[5] तत्कुक्षौ *देवसिंह*सुरश्च्युतः सन्माणिक्यमिवोत्पेदे । अथ सा दिव्यरथं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रबुद्धा नृपं पप्रच्छ । तेनोक्तम् - 'पुत्रोद्भवो भविता'।

1. सुलभजलो नद्यादेरुपान्तदेशः कच्छ उच्यते । 2. विष्टमं-जगत् । 3. नृपपक्षे-बलिष्ठानामपि प्रतिपक्षाणां बन्धनकरं, विष्णुपक्षे-बलिनाम्नो महीपतेर्बन्धनकरम् । 4. नृपपक्षे-शोभनसम्यक्त्वधरं रमणीयदर्शनं वा, विष्णुपक्षे-सुदर्शनचक्रधरम् । 5. रोहणाचलपृथ्वीवत् ।

तच्छ्रुत्वा सा हृष्टा गर्भपुष्टिरताऽजनि । अथ सा समये सूनुमसूत। राज्ञा सुहृदादीनां मनोऽतिगमनोरथान् सम्पूर्य गीत-नृत्य-दान-मानैर्वर्द्धापनं कृतम् । गर्भरात्रौ मात्रा स्वप्ने सदनमागतो दिव्यरथो ददृशे, तदनुसारेण द्वादशाहे राज्ञा महोत्सवैः "*देवरथ*" इति नाम विनिर्मितम् । स *देवरथ*कुमारः पूर्णकलो नित्यं द्वितीयाचन्द्रवद् वृद्धिं प्राप्तवान्। पुरे स्वच्छन्दं विचरन् अमानस्रवद्दानः पौरभ्रमरभूषितो वनवारणवद् रेजे । स सौम्यः सरलः शान्तः सन्तोषी सज्जनप्रियो विषयेभ्यो विरक्तो विनोदविकथोज्झितः परोपकारप्रवणो माता-पित्रादीनां प्रमोदकृत् तारुण्येऽपि तत्त्वदृष्ट्या समयं गमयति ।

इतश्च तस्मिन्नेव सुकच्छे विजये भूमिभामिनीमुखोपमं दर्शनाढ्यं [1]सदशनं *सुप्रतिष्ठाभिधं* नगरमासीत् । तत्र कुलीनो विपुलस्कन्धः सच्छायः सफलोदयो राजादनिसमो *रवितेजा* राजाऽभूत् । तस्य नृपस्य पद्माक्षी कोकिलालापा रक्ताशोक-करक्रमा वसन्तश्रीरिव मनोहरा *वसन्तसेना*नाम्नी पट्टराज्ञ्यभूत् । तस्याः कुक्षौ *देवसिंह*भार्यायाः *कनकसुन्दर्या* जीवो देवः शुक्रस्वर्गात् च्युत्वा कर्मपारवश्यात् पुत्रीत्वेनोत्पेदे । तदा सा राज्ञी स्वप्ने गुणयुतां रत्नावलीं दृष्ट्वा हर्षेण गर्भं पोषितवती, पूर्णे च समये शुभवेलायां पुत्रीं प्रासूत । तदा स्वप्नानुसारतो राज्ञा महोत्सवपूर्वकं *रत्नावली* इति नाम्नोक्ता । क्रमेण वर्द्धमाना सा चतुःषष्टिकला-कुशला विज्ञानगुणशालिनी यौवनं प्राप्ता । यथा -

वक्त्रं पूर्णशशी सुधाऽधरलता दन्ता मणिश्रेणयः,
कान्तिः श्रीर्गमनं गजः परिमलस्ते पारिजातादयः

1. नगरपक्षे-शोभनाऽशनम्, मुखपक्षे-सुन्दरदन्तम् ।

वाणी कामदुधा कटाक्षविशिखास्ते कालकूटं विषं,
तत्किं चन्द्रमुखि ! त्वदर्थममरैरामन्थि दुग्धोदधिः ? ॥२॥

ततो माता-पितृभ्यां विवाहयोग्यां पुत्रीं विभाव्य कन्यावरण-हेतवे राज्ञा मण्डपः कारितः । मन्त्रिणो गिरा दूतै राजकुमारा आकारिताः । *विमलकीर्त्तिराज्ञो* नन्दनस्य वृत्तान्तं श्रुत्वा तमाह्वातुं शिक्षाव्रताऽमात्यपुत्रो *विबुध*नामा प्रैषि। सोऽपि तत्र गत्वा नृपं नत्वा साञ्जलिः प्राह- "हे प्रभो ! *रवितेजा* नृपतिर्विज्ञपयति, यथैष *देवरथाभिधो* वः सुतः -

अव्याहतगतिः सारः, सच्चक्रसहितः सदा ।
गुणवान् सुमनःशाली, सत्यं देवरथोपमः ॥३॥

तत्र चलामप्यमलां सद्वर्णां सुगुणाञ्चितामेतां कन्यापताकिकां त्वदादेशाद् योजयामि । हे राजन् ! अयमुचितो योगो ननु कस्मै न रोचते ? । तेनाऽधुना स्वयंवरमण्डपे कुमारोऽयं सर्वथाऽनिच्छन्नपि प्रहीयताम् । तथाकृते नो भावि सुखम्" । इति *विबुधो*क्तिं निशम्य *विमलकीर्त्ति*राट् तद्वचनं प्रतिपद्य तस्योचितं सर्वं कृतवान् । पुत्रमाकार्य नृपेणोक्तम्- "हे वत्स ! *रवितेजो*नृपेण भूयसां राजपुत्राणां पुण्या-ऽपुण्ये निर्णेतुं स्वयंवरमण्डपो निर्मितः। चेद् अन्यो वृणोति कन्यां तदा नोऽपमानं स्यात्, ततो हे वत्स ! तत्र पुरे गन्तुमधुनोद्यमं कुरु, पश्चाद् दैवं प्रमाणम्" । इति पितुर्वचनमाकर्ण्य कुमारोऽपि दाक्षिण्यात् तदादेशं प्रपन्नवान् । अथ प्रशस्तेऽह्नि स रङ्गत्तुङ्गतुरङ्गमैः, मदोत्कटनटत्करटिकोटिभिः, चक्रचीत्कारसम्भ्रान्तलोकालोकितैः सद्रथैः, विविधायुधसम्बन्ध-

व्यग्रवल्गत्पदातिकोटिभिः, ताड्यमानप्रयाणाऽर्हनिःस्वानादिमहारवैः, अभ्रप्रायमहाच्छायविविधातपवारणैश्च शोभमानेन सैन्येन सह प्रस्थितः। किञ्चिदाराम-ग्रामा-ऽऽकर-पुरादिकं विलङ्घ्य गच्छता *देवरथ*कुमारेण काननान्ते छिन्नपक्षपक्षिवद् गगनोत्प्लवनोत्सुकः पुनः पुनः पतन् दीनवदनो रूपवान् यौवनस्थश्च कश्चिद् विद्याधरः पथि दृष्टः। तदा दयालुना कुमारेणेति पृष्टः - 'भो महाभाग ! कुतस्त्वं किं निमित्तं चेह क्लिश्यसे ?'। ततस्तेनोक्तम् -

"यूयं पथि स्थिता गमनोत्सुकाः तथापि काञ्चिद् ममोक्तिं शृणुत। अत्रैव विजये वैताढ्ये नगवरे *कुण्डलपुरनगरे* श्रीध्वजो विद्याधरराट्, तस्य *चन्द्रगति*नामाऽहं सुतोऽस्मि। स्ववंशक्रमागत-विद्याभिर्यदृच्छया गच्छता मया सखीभिः कृतचेलाञ्चलाऽनिला उर्वीप्रसुप्ता मिलितेक्षणा एका बाला सुरीव निरीक्षिता। मामुद्दिश्य तस्याः सख्यः ऊचिरे - 'हे उत्तम ! द्रुतमेहि एहि, इमां *गन्धर्व*-राजसुतां कन्यामाशीविषाऽर्दितां द्रुतं जीवितदानेन सज्जीकुरु'। इति तासां वाक्यं निशम्य दयार्द्रेण मया नीरमानाय्य मुद्रिकारत्नं प्रक्षाल्य तस्या देहः सिक्तः, तस्याश्च वामहस्ताद् मुद्रिका कृष्टा। मणेरचिन्त्यसामर्थ्यात् सुप्तेव सा समुत्थिता। सहसा मां वीक्ष्य सह्रीकया तया वाससा स्वाङ्गं संवृत्य निःश्वस्य च बाष्पार्द्रास्याः सख्यः सविस्मयं पृष्टाः - 'हे सख्यः ! यूयं कथमश्रुमुख्यो हसथ?। कोऽयं मदनावतारः कुमारः ? ईदृशी च वः का चेष्टा ?'। ततस्ताभिरूचे - 'त्वं कृष्णसर्पेण दष्टा काष्ठीभूता जाता, अमुना परोपकृतिपरेण सत्पुरुषेण जीविता, अतो वयं प्रथमं रुदिताः

पश्चाच्च हसिताः' । इति सख्युक्तं निशम्य सरागदृष्ट्या च मां विलोक्य साऽवक् - 'मम मुद्रिका क्व गता ?' । सखीभिरुक्तम्- 'ताम् अमुना लात्वा त्वं प्रत्यायिताऽसि'। इति सख्युक्तं समाकर्ण्य कृतज्ञत्वात् प्रत्युपकारवाञ्छया ह्रिया स्मररसेन च सा काञ्चिदव-स्थामन्वभूत् । अस्मिन्नवसरे वेत्रितो वृत्तान्तं श्रुत्वा *गन्धर्व*भूपति-स्तत्रागत्य भृत्यतो मां *श्रीध्वजाङ्गजं* मत्वा प्रोवाच - "हे वदान्य! पुत्र्याः प्राणदानेन त्वं मे मान्यः, पुत्रीप्रदानेनाऽपि ते प्रत्युपकर्त्तुं नैव शक्यते । तथापि मुद्रिकाकर्षणेन स्वयं कृतपूर्वमपि अस्माकं मनःसमाधिमाधातुमस्याः करग्रहं कुरु"। ततो मयोक्तम्- 'यदादिशत् पूज्यास्तत् कार्यम्' । इति मयोक्ते तेन महताऽऽडम्बरेण विवाहः कृतः । अथ तया कान्तया सह भोगानुपभुक्तवतो मम बहुकालो गतः । अद्य दक्षिणसमुद्रतटोद्याने क्रीडां विधाय निवृत्तस्य सभार्यस्य मे पितृस्वसुः सुतः *सुमेध* आख्यः खगो मिलितः । दर्शनमात्रेण च सोऽतुच्छोच्छलद्रोषानलो मां प्रोवाच - 'रे दुष्टचेष्ट ! पापिष्ठ ! मदर्थं मार्गितामिमां लात्वा मम दृष्टौ अवतिष्ठसि, तत्फलमधुना ते दर्शये' इत्युक्त्वा स्पर्द्धया मया सार्द्धं योद्धमुपस्थितः । मयाऽपि सामर्षेण प्रतिपन्थिनं प्रहर्त्तुमारब्धं, परं दैवाद् विद्यापदं चैकं व्यग्रत्वाद्विस्मृतं मया, तेन स्खलित्वाऽहमधः पतितः । स मे पङ्गोरिव प्रियां गृहीत्वा काकवन्नष्टः। इति स्ववार्त्ता मया तव कथिता" ।

अथ तद्दुःखदुःखितेन कृपावता कुमारेण तत्रोपकारकरण-व्याकुलेनेति चिन्तितं, यतः -

तुङ्गात्मनां तुङ्गतमाः समर्था, मनोरथान् पूरयितुं न नीचाः।

धाराधरा एव महीधराणां, निदाघदाहौघविघातदक्षाः ॥४॥

ततः स्वशक्तितोऽत्रोपकुर्वे" । इति विचिन्त्य *देवरथ*कुमारेण विद्याधराय प्रोक्तम् - 'भवादृशां वयं के उपकारं कर्त्तुं समर्थाः ? तथापि यदि ते विद्यायाः कल्पो भवेत् तदा ममाऽग्रे पठ' । ततो विद्याधरेण चिन्तितम् - 'नूनमस्माद् महापुरुषात् सिद्धिर्भविता' । इति ध्यात्वा भणिता विद्या । पदानुसारिलब्धितोऽसौ अग्रतः पदं जगौ, आचख्यौ च - 'किमेतत् स्यात् ?' । तेनोक्तम् - 'इदमेव हि' । ततः कुमारप्रतापप्राप्तविद्यो हर्षाश्रुक्लिन्ननेत्रो विद्याधरोऽवक्- "सत्यम्, आर्याणां सन्निधिर्नतु सन्निधिः । हे मित्र ! त्वद्दर्शनेऽहं सतृष्णः परं कालक्षेपोऽधुना न क्षमते । ततो भो मित्र! पाठसिद्धां वैक्रियविद्यां मे गृहाण, तन्मिषात् कुमारेण स्मर्यमाणः कृतार्थः स्याम्" । एतन्मधुरालापसन्तुष्टः कुमारो विद्यामग्रहीत् । ततश्*चन्द्रगति*खगो मुदितः *सुमेधः*पृष्ठावचालीत् । तस्यापदोऽपहारेण हृष्टः कुमारोऽग्रे व्रजन् आगताऽनेक-भूपौघे *सुप्रतिष्ठ*पुरे गतः । बहुमानेन *रवितेजो*नृपेण सुन्दरमन्दिरे वासितः । अथ भूपगिरा सूत्रधारैस्तत्र विविधाश्चर्याडम्बरः, ऊर्ध्वीकृतमणिस्तम्भः, सन्मञ्च-श्रेणिशोभितः, तोरणालम्बिपद्मालीलसन्मौक्तिकचूलिकः, न्यस्तप्र-बद्धचीनांशुकवितानकः, आश्चर्यालोकनव्यग्रोन्मुखलोकवितानकः, नृत्यद्यन्त्रपाञ्चालीभिर्मनोहरः, वदद्भिश्च यन्त्रपक्षिभिर्नानाजनिताश्चर्यः स्वयंवरमण्डपो निर्मितः । अथ प्रभातसमये नृपाज्ञया तलारक्षै-रुद्घोषितं, यथा - 'सपरिवारै राजकुमारैर्मण्डपे एतव्यम्' । तत् श्रुत्वा कृतशृङ्गाराः साराम्बर-परिवृताः स्वस्वपरिवारसंयुता विविधाः कुमारास्तत्राऽऽगताः । तस्मिन्नवसरे *देवरथ*कुमारो हृदि दध्यौ -

'भूषणं दूषणं मतम्, यतः स्वपुण्या-ऽपुण्यविज्ञानहेतुर्धन्या कन्यैव दृश्यते । राजकन्या तु एकमेव नृपाङ्गजं वरिता सुवेषानप्यन्यान् नैषा वरिता । ततोऽस्मिन् स्वयंवरे कौ हर्ष-विषादौ ? । पुण्यविज्ञानमेकस्य कस्यचित् प्रकटिष्यति, पराभवस्तु सर्वेषां समानः । तस्मात्स्वपुण्यनिर्णयार्थं किञ्चित्कौतुकं करोम्यहम्" । इति ध्यात्वा कारितस्वरूपे स्वमित्रे निजाभिधां धारयित्वा *विद्याधर*दत्तविद्यया स्वयं किञ्चित् कुरूपीभूय वीणां करे कृत्वा पुरोऽचलत् । यन्त्रमण्डपे प्रविशन्तः केऽपि कुमारा वेत्रिभिर्निरुद्धा रुष्टा निवृत्ताश्च हास्यलालसैर्हस्यन्ते। तत्र यन्त्रप्रयुक्तवानरैर्हृत-शिरोवस्त्रान् अन्ये कुतूहलिनो 'अयम् अयम्' इति परस्परं दर्शयन्ति। *रत्नावली*समरूपां कस्मिंश्चित् स्तम्भेऽधिष्ठितां शालभञ्जिकां निरीक्ष्य 'रत्नावली इयम्' इति भ्रान्त्या परस्परं केचन दर्शयन्ति। अपरे स्फटिकोर्वीतले नीलोल्लोचच्छायाधरे ससेवालहृदभ्रमाद् ऊर्ध्वं परिधानं कुर्वन्ति । एवं विचित्रचित्राढ्याः कन्यकोत्सुकाः कुमाराः प्रतिहारोदितेषु मञ्चेषु यथोचितं समासीनाः । अथ कुमारोऽपि स्वस्थानन्यस्तमित्रस्य पुरो वीणां प्रवादयन् विक्षेपरहितः सुखं स्थितः । अस्मिन्नवसरे राजकुमारिका किल कोकिलमनोज्ञ-गीतगानोद्यतसखीवृन्दकलिता अप्सरोवृता रम्भेव रथारूढा स्वयं-वरणमण्डपे समागता । तदा *रत्नावली*विकचदृष्टिपङ्कजे कुमाराणां विलोललोचनाऽलयः समकालमेव पतिताः । ते सर्वेऽपि स्वस्मिन् हृदि चिन्तयन्ति स्म -

भारत्या नैव रत्याः किमपि नहि ददे नैव गौर्या न लक्ष्म्याः,

प्रच्छन्ना स्थापिता या त्रिजगति विधिनाऽगण्यलावण्यलक्ष्मीः ।
साऽस्या एव प्रदत्ता विनय-नयगुणावर्जितेन प्रकामं,
नार्यां कस्यां यदेतत्सदृशमिह भवे नाऽङ्गचङ्गत्वमस्ति ॥५॥

एवं ध्यायतः कुमारान् कटाक्षैर्विध्यन्तीव सा बाला करगृहीतवरमाला मध्येमण्डपं समागता । अत्राऽन्तरे तद्दास्या क्रमाद् राज्ञां नाम-गोत्रादिनि विवर्णिते सा दृष्टि-पृष्ठिप्रदानेन हर्ष-खेदौ क्रमेण ददौ । बहुदृष्टेऽपि दवाग्निना दग्धे वने निदाघाऽर्दिता कोकिलेव तद्दृष्टिः कुत्रचिदपि न विश्राम्यति । वरप्राप्तौ सा सन्दिग्धा [1]यावत्कुमारमीक्षते तावत्प्राग्भवस्नेहतः तन्मनस्तत्रैव लीनम् । तेनाऽपि प्रेमपूर्णेन स्वदृष्टिस्तां प्रति प्रैषि । तद्दृष्टितुष्टया तया हि कुमारकण्ठे वरमाला क्षिप्ता ।

इतश्च 'सुवृतम्'इति मनोहरः शब्दोऽजनि । तूर्याणि घनैर्घोषैर्भुवनोदरमपूपुरन् । तं कुमारं वीक्ष्य *रवितेजा* राजा 'पुत्र्या वीणाधरो वृत' इति ज्ञात्वा मनाक् खिन्नो हृदि व्यचिन्तयत् । यथा -

रूपं कुलं कला वीर्यं, प्रमाणं संपदो न च ।
सोऽन्यः कोऽपि गुणो यस्मात्, प्रेमोत्पत्तिर्विजृम्भते ॥६॥

शिष्टा चैषा सामान्ये पुरुषे कथं रमेत ? । राज्यलक्ष्मीः कदाचिदपि तुच्छपुण्यकं नैव वाञ्छति, ततोऽनेन नियमाद् भाग्यभाजा भवितव्यम् । एतस्यै यो वरो रुचितः स एव नो[2] गौरवार्हः" । तस्मिन्नवसरे गन्धर्ववृतं समाकर्ण्य शेषा ईर्ष्यालवो

1. देवरथम् । 2. अस्माकम् ।

नृपाः स्वं स्वं सैन्यं सन्नह्य कुमारस्य मित्रं *रवितेजसं* च ऊचुः - "चेदज्ञानतयाऽनया बालया पात्रा-ऽपात्रत्वं न ज्ञातं तद् युवाभ्यां कथं प्रमाणीकृतम् ? । किं कूपात् कण्टकाद् वह्नितश्च दृष्टिहीना अनुकम्प्या न स्युः?। करक्षेपपरा बाला बिलादितः किं न रक्ष्याः?। ततः कदाग्रहपरा कन्या सम्बोध्य कस्मैचिद् नृपसूनवे देया, यथा राजानो रणाद् निवर्त्तन्ते । यदि ईदृशाय पामराय ते [1]कन्यादित्सा तर्हि नृपाणामामन्त्रणं किमर्थं कृतम् ? । एषामुपलखण्डेन नासानिकर्त्तनं वरं, न पुनर्निमन्त्र्य मेलितानां चेदृक् पराभवः । ततो हे नृप ! विचार्यैव समयोचितं तथा कर्त्तव्यं यथाऽस्माकं मानहानि-पराभवौ न स्याताम्" । इति राज्ञां वचनानि निशम्य सौजसा *रवितेजसा* नृपेणोक्तम् - "भो भोः ! स्वीयमत्यनुसारेण कन्यया स वृतः, तत्र युष्माकम् अपमान-पराभवौ कौ ? । यथा-

स्थापितः पञ्चभिर्दिव्यै-श्चेद् राज्ये प्राकृतः पुमान् ।
कन्यया चेद् वृतः कश्चिद्, रोषोऽन्येषां तदाऽत्र कः ? ॥७॥

तथापि यदि वः कोपज्वरोऽजीर्णभवो बली भवेत् तदा चिकित्सकैरस्माभिर्युद्धरूपं बहुलङ्घनं कार्यते" । कुमारमित्रेणाऽप्युक्तम्- "भो भोः ! वृथाऽभिमानेन मा स्वं कलङ्कयत । यतो नाऽयं प्राकृतः पुमान्, किन्त्वयं सर्वोत्तमगुणो मुक्ताफलवद् वृत्तधारी, हारवत् सुगुणालयः, विद्याभृदिव सद्विद्यः, [2]कलावानिव सत्कलः, तापेन तपनाभः[3], गाम्भीर्येण समुद्रः, मानेन [4]सुपर्वपर्वतः, दानेन सुरतरूपमः, अतोऽस्मत्स्वामिनो मान्यः । वृतेऽस्मिन् नो महोत्सवः,

1. कन्यां दातुमिच्छा । 2. चन्द्र इव । 3. सूर्यसदृशः । 4. मेरुगिरिः ।

अत्र वोऽक्षमा कर्त्तुं न युक्ता, यतः *स्त्रियः पुण्याप्याः स्युः* । अमुना सह युष्माकं विरोधोऽत्यन्तदुस्सहो भविता, कृतघर्षणे व्रणे क्षारक्षेपो भविष्यति" । एवं कुमारमित्रवचनं कर्णकटुतमं समाकर्ण्य ते नृपा बलान्विताः सन्नद्धाः । रवितेजा अपि सन्नद्धो जातः । तावद्*देवरथ*कुमारेणोक्तम् - 'भोः सुभटा ! निभालयत यूयं यावद् रणस्य कौतुकं पूरयामि' । इति ब्रुवन् रथस्थोऽसौ योद्धुं लग्नः । अरिभिः सह बाणान् मुञ्चन् चण्डकोदण्डान् खण्डयति, ध्वज-च्छत्राणि पातयति, वैरिणां तनुत्राण-शिरस्त्राणानि त्रोटयति, काञ्चित् शत्रून् मुण्डितशिरःकूर्चान् कुरुते । सेनायां युध्यमानेन तेन हस्त्य-श्व-नराः सर्वेऽपि बाणेन लाञ्छिताः । ततो भग्नायां शत्रुसेनायां 'कथमेकेन निर्जिता ?' इति सलज्जा यदाऽरयो रणारम्भं न मुञ्चन्ति, तदा कुमारेण विद्याविकुर्वितैर्नागपाशैर्युगपद् निबद्धा भूशय्यायां तेऽखिलाः सुप्ताः । तादृक् चरित्रमालोक्य साश्चर्यं *रवितेजसा* 'कोऽयं महापराक्रमी पुमान् ?' इति विचिन्त्य कुमाराऽभिमुखं वीक्षितम् । ततस्तेन कुमारमित्रेणोक्तम् - 'हे नृप! अस्माकं नेता विद्विषां हन्ता *विमलकीर्त्ति*राज्ञश्च *देवरथ-कुमारोऽयं* केनाऽपि हेतुना मां स्वपदे निवेश्य रूपपरावर्त्तेन वर्त्तते' । इति ज्ञात्वा हृष्टो नृपः कुमारं प्रत्याह - 'भो *देवरथ* ! शौर्यात्मधामतस्त्वया स्वकुलव्योम द्योतितं, पुनरस्माकं तमस्त्वया दूरे क्षिप्तम्' ।

वादितान्यथ वाद्यानि, बन्दिवृन्दानि पेठिरे ।
राजाङ्गजाः कुमारेण, सत्यरूपेण मोचिताः ॥८॥

ज्ञातोदन्ताः प्रशंसन्तो-ऽनया सुवृतमित्यहो ! ।
प्रक्षाम्य कुमरं नत्वा, हृष्टास्ते स्वपुरं गताः ॥९॥

अथ सा *रत्नावली* किमपि रसाद्वैतमनुभवन्ती क्रमागतेन विधिना कुमारेण परिणीता। इमां प्राप्य कुमारः, कुमारं च प्राप्य *रवितेजा* नृपः सुधाधिकं कमप्यमन्दानन्दसन्दोहं दधतुः । लोकै-रप्युक्तम् -

प्रवरोऽयं वरश्चेयं, कन्याधन्याऽप्युभौ शुभौ ।
सौभाग्यकल्पवृक्षाख्यं, सममाभ्यां कृतं तपः ॥१०॥

सर्वाङ्गसुन्दराद्वं वा, तपस्तेपे सुदुस्तपम् ।
तेनैतौ दम्पती तुल्या-वित्यभूज्जनगीस्तदा ॥११॥

अथ *देवरथ*कुमारः कतिचिद्दिनानि श्वशुरकुले स्थित्वा मुहुर्मुहुः पितृपुरीं पश्यन्त्या प्रियया सार्द्धं स्वपुरेऽचलत्। अथ पितरि सम्भाष्य वलिते सति बाष्पपूर्णमुखीं *रत्नावलीं* कुमार-स्तैर्वनविनोदैरतीव व्यनोदयत्, यथा "हे प्रिये! पश्य, सस्नेहोऽयं हरिणो अपत्यं गृहीत्वा वेगाद् यान्तं व्याघ्रं रोषात् स्वशृङ्गाभ्यां निहन्ति । हे दयिते ! सुप्ताऽध्वगविस्मृततरुशाखा-वलम्बिमुरजं वादयन्तः कपयः पुलिन्दानां भयं कुर्वन्ति" । इत्यादिवनचित्राणि दयितां प्रदर्शयन्, वने वने भ्रमन्, सरसि सरसि क्रीडन्, ग्रामे ग्रामे मान्यमानः, पुरे पुरे कौतुकानि प्रेक्षमाणः, दीना-ऽनाथान् समुद्धरंश्च क्रमेण स्वपुरीं प्राप्तः । तदागमेन रम्याऽपि पुरी रम्यतरा जाता। समग्रे नगरे महानुत्सवो जातः । अनुरूपवधूसङ्गतं कुमारं

पादयोर्नतं दृष्ट्वा पित्रोश्चन्दनोदकसिक्तवच्चित्तं शीतलमभूत् । अथ पित्रा स्फटिकोज्ज्वलेऽभ्रंलिहे प्रासादेऽर्पिते सारशृङ्गारः कुमारः सुखमर्जयितुं प्रवृत्तः । कुमारमित्रमुखात् सुतोदन्तं श्रुत्वा राजा स्मेरविस्मयनिर्भरोऽनेकलक्षपूर्वाणि ललनाभिः सह सुखमग्नो बभूव।

अन्यदा तत्र कृतसद्बोधः क्रोधयोधनिवारको *धर्मवसुनामा* धर्माचार्यः समागतः । राजा तदागमनं श्रुत्वा शिखण्डीव घनागमं हर्षप्रकर्षमिषाद् नृत्यन्निव बभौ । अथ गजारूढो नरेन्द्रः सर्व-परिवारयुक् तेन कुमारेण युतो गुरुं वन्दितुमगात् । पञ्चाभिगम-कारिणा राज्ञा राजचिह्नानि विसृज्य गुरोः स्तुतिश्चक्रे। यथा -

शियाऽध्वस्यन्दन ! श्रेयो-[1]हरिचन्दननन्दन ! ।
नमस्ते यन्दनप्रह्व[2]-सन्नन्दन ! मुनीश्वर ! ॥१२॥

इति स्तुत्वा नत्वा च सपौरे नृपे संस्थिते अमुना मुनिनाऽ-पायसन्तापनाशिनी धर्मदेशना दातुमारब्धा । तद्यथा-

"भो भो भव्याः ! भवद्भिः संसारः श्मशानाभो भाव्यताम् । यस्मिन् संसारे नष्टसज्ज्ञानचेतनाः प्राणिनो मृतकायन्ते । दौःस्थ्य-दौर्भाग्यदुःखानि चिताप्रज्वलनसमानानि । पुनर्यत्र चित्तचिन्ताकुलत्वं धूमधूसरतासमानं वर्त्तते। केचनाऽपराधिनः कषायशूलायां यत्र भिद्यन्ते । केचित्पुनर्दुराशारज्जुपाशबद्धाः कुमतद्रुमे लम्ब्यन्ते । कतिचिद् जीवा वैषयिकसुखविषं पाय्यन्ते, चतुरशीतिलक्ष-योनिवंशजाल्यां च क्षिप्यन्ते । यस्मिन् संसारे पाखण्डिनः पलादाः

1. कल्पवृक्षः 2. विनम्रः - भक्तः

सञ्चरन्ति, सकलाः स्त्रियः शाकिनीसमाना वर्त्तन्ते । सर्वे रागा यत्र शृगालायन्ते । यत्र राजकथा-स्त्रीकथा-भक्तकथा-देशकथा महाबिभीषकाः । एतैरुपद्रवैर्नैवोपद्रुतोऽस्मिन् संसारे कोऽपि साहसी सिद्धिनिबन्धनं चारित्रमहाविद्यां साधयति । दैवयोगेन ज्ञानचेतनावान् पुमान् संसारश्मशाने सिद्धिं प्राप्तः पूर्वोदिताः कदर्थना न लभते, स च शिवपुर्यां सुखं व्रजेत्। सा चेतना प्राणिनां ज्ञानाद् भवेत् । ज्ञानं आप्तवचनेन जायते, आप्तश्च राग-द्वेषा-ऽज्ञानादिरहितः सत्त्वहितः, स हि तीर्थङ्कर एव । परमार्थतो राग-द्वेषा-ऽज्ञानानां तेनैव क्षयः कृतः ।

तत्सङ्गोपाय एवाऽयं, तद्वाणीस्थिरभक्तता ।
दृष्टोऽप्यदृष्ट एवाऽयं, सत्त्वैर्भक्तिविवर्जितैः ॥१३॥

ततो भो भव्याः ! पञ्चपरमेष्ठिनां स्मरणे एतेषां संस्तवे च अवश्यं यतनीयं, यथाऽर्हद्दर्शनात् परमनिर्मला श्रेयोमाला स्यात्। अत्रार्थे राजन् ! दृष्टान्तं शृणु" । ततो नृपेणोक्तम् - 'महानयं मय्यनुग्रहः' । इति राज्ञोक्ते मुनिः प्राह -

॥ श्री रत्नशिखस्य दृष्टान्तः ॥

" अत्र जम्बुद्वीपे भरतक्षेत्रे सद्ग्रामनामनि ग्रामे भद्रकत्वादिगुणसमन्वितः *सङ्गतो* नाम पामरोऽभवत् । अन्यदा तत्राऽऽगतानां साधूनां निशाऽतिक्रमहेतवे तेन *सङ्गते*नोपाश्रयो दत्तः, सेवनाऽपि कृता । ततो मुनिना अस्य सुधारसमधुरा धर्माक्षेपिणी पापसन्तापनाशिनी धर्मदेशना दत्ता । यथा -

मातङ्गा शैलतुङ्गा मदजलकलिता वायुवेगास्तुरङ्गाः,
सामन्ताश्वाऽङनमन्तो वरसचिवगणोऽन्तःपुरं तारहारम् ।
देशैर्ग्रामैः पुरैर्वा युतमवनितलं स्वर्ण-रत्नादिकोषा,
गीतं नृत्यं च भोगा धवलगृहममी धर्मलभ्याः पदार्थाः ॥१४॥

इति धर्मफलं ज्ञात्वा धर्मं कुरु यथा ते परत्र सुखं स्यात्''। इत्युक्त्वा विरते सश्रद्धः *सङ्गतो*ऽवदत् - 'हे भगवन् ! मयि एकान्तवत्सला यूयं दृश्यध्वे, परम् अनार्यवासतोऽधर्मा अविज्ञोऽहं कुतस्तत्कृती स्याम् ? । ततो हे भगवन् ! गेहिसुखप्रदं ममोचितं धर्मं देहि' । तदा मुनिराह - ''त्वया पञ्चपरमेष्ठिनां स्मरणं कार्यं, त्रिसन्ध्यं त्रीन् पञ्चऽष्टौ वा वारान् स्मरणीयम् । भोजनावसरे शयनकाले च पवित्रीभूय स्मरणीयोऽयं महामन्त्रो, बहुभावो न मोच्यः''। इति कथयित्वा मुनयो गताः । सङ्गतोऽपि तद्दिनादारभ्य मुनीनां वचनं कुर्वन् चिरकालं जीवितः । प्रान्ते विशुद्धध्यानान्मृत्वा पुण्यप्रभावतः *सन्दर्भदेश*भूभामिनीभालस्थलतिलकायमाने *नन्दिपुरे पद्माननस्य* राज्ञः *कुमुदिनी*देव्या गर्भे निरुपमः सुतो जातः । रत्नराशिस्वप्नदर्शनात् पित्रा रत्नशिख इति कृतनामा वयोभिः कलाभिश्च वर्द्धमानः क्रमेण यौवनं प्राप्तः । सुकृताकृष्टलक्ष्मीवत् कुमारगुणरञ्जितां स्वयंवरमुपागतां कोशलाधिपतेः पुत्रीं *कौशल्या*-नाम्नीं महताऽऽ-डम्बरेण परिणिनाय ।

अन्यदा *कुमुदिन्या* देव्या राज्ञः शीर्षात् सित एकः केशः निष्काश्य स नृपाय दर्शितः। राजा पद्माननस्तं दृष्ट्वा सद्यः सञ्जातवैराग्यो *रत्नशिख*सूनवे राज्यं दत्त्वा भार्यान्वितो वैराग्याद् वनवासं गतः ।

तदनन्तरं *रत्नशिखः* कौमुदीन्दुरिवाऽखण्डमण्डलाऽलङ्कृतो मन्त्रिसामन्ततारालिवृतो महानृपो जातः । वार्त्ताविनोदवान् कथकभट्टानां वृत्तिं दत्ते । पुंसां चरित्रैरेव तुष्यति । अस्मिन्नवसरे केनचित् कथकेन *वीराङ्गदसुमित्रयोः* कथा कथयितुं प्रारब्धा । तद्यथा -

॥विराङ्गदसुमित्रयोः कथानकम् ॥

"अब्धिवत् सलक्ष्मीके *विजयपुरनाम्नि* नगरे *सुराङ्गद*-नरेन्द्रस्य गुणी *वीराङ्गदः* सुतोऽस्ति । तस्य याचकानां मनोवाञ्छित-पूरणे चिन्तामणिः शरणागतानां लोहपञ्जरो, न्यायवतां धुरीणः, दुःखिनां दीनानां च वात्सल्यजनकः सुमित्रनामा प्रधानपुत्रः परममित्रमस्ति । तेन सार्द्धमन्यदोद्याने क्रीडां कुर्वता कुमारेण प्रोक्तम् - 'हे मित्र ! पुण्यं परीक्षितुमावां दूरदेशान्तरे व्रजावः, अनेककौतुकाकीर्णां महीं विलोकयावः । तेन सुजनदुर्जनानामपि विशेषो ज्ञायते । यत :-

[1]अत्थो जसो अ कित्ती, विज्जा विन्नाणयं पुरिसकारो ।
पाएणं पाविज्जइ, पुरिसेण य अन्नदेसम्मि ॥१५॥

तथा -

देशाटनं पण्डितमित्रता च, पण्याङ्गना राजसभाप्रवेशः ।
अनेकशास्त्रार्थविलोकनं च, चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च ॥१६॥

ततः *सुमित्रेणोक्तम्* - " हे मित्र ! युक्तं भवता प्रोक्तं, यत एकैकवस्तुविलासिनां कुतश्चातुरी स्यात् ? । उक्तं च -

1. अर्थो यशश्च कीर्तिः विद्या विज्ञानकं पुरुषकारः ।
प्रायेण प्राप्यते, पुरुषेण च अन्यदेशे ।

देशमेके सभामेकां, स्त्रीमेकां शास्त्रमेककम् ।
एकवस्तुविलासिनां, कुतस्तेषां तु चातुरी ? ॥१७॥

गन्तव्यं नगरशतं, विज्ञानशतानि शिक्षितव्यानि ।
भूपतिशतं च सेव्यं, स्थानान्तरितानि भाग्यानि ॥१८॥

तथा -

प्रौढा श्रीः चतुरैः समं [1]परिचितिर्विद्याऽनवद्या नया,
नानाभाषण-वेष-लिप्यधिगतिः कुन्दावदातं यशः ।
धीरत्वं मनसः प्रतीतिरपि च स्वीयैर्गुणौघैः सतां,
मानात् को न गुणोदयः प्रसरति क्ष्मामण्डलालोकनात् ॥१९॥

ततः कुमारेणोक्तम् - 'सत्यं मित्र ! त्वया प्रोक्तं, परं पितरौ दुर्मोच्यौ । प्रच्छन्नं गते तेषां महत्यधीरता स्यात्, कथिते च गन्तुं न शक्यते' । इत्युपायं ध्यायन्तौ तौ यावत् कानने क्रीडतः, तावत् 'शरणं शरणम्' इति ब्रुवन् कोऽपि वध्यमण्डनभृत् पुमान् कुमारस्य पादयोर्लग्नः । तदन्वितैर्दण्डपाशिकैर्विज्ञप्तो राजसूः - "हे राजपुत्र ! दुष्टोऽयं चौरः *सुदत्त*श्रेष्ठिनो गृहे क्षात्रतो निर्गच्छन् गृहीतः । ततो राजादेशेन बद्ध्वा वध्यभूमिकायां चानीतः शूलिकारोपणार्थम् । नंष्ट्वा त्वत्पार्श्वमायातः, ततोऽनुजानीहि यथा वयं देवादेशं द्रुतं कुर्मः" । कुमारेण चिन्तितम् - 'शरणस्थस्याऽर्पणं न युक्तं, चौररक्षणमप्ययोग्यम् । तथापि शरणागतस्य त्यागो नाऽस्मादृशां शरणदानां घटेत' । इति विचार्य शरणत्राणोत्सुकेन कुमारेण प्रोक्तम् - "नाऽयं ग्रहीतुं शक्यते, मोच्य एवाऽयमिति

1. परिचयः ।

पितुः प्रोच्यताम् । यतः -

[1]को किर कुलाभिमाणो, माहप्प पोरुसं च किं तस्स? ।
सरणागओ जस्स मओ व्व नो भमइ सच्छंदं ॥२०॥

ततो ज्ञातनिश्चयैस्तैर्द्राग् गत्वा नृपाय निवेदितम् । राज्ञाऽपि रोषात् कुमाराय निर्विषयाऽऽदेशो निर्दिष्टः । कुमारस्तु तुष्टो राज्ञ उक्तिं निशम्य मित्रेण समन्वितो निर्गतः । मार्गे पुण्योदय-सूचकानि प्रशस्यानि शकुनानि मिलितानि । यतः -

कन्या गौः शङ्ख-भेरी-दधि-फल-कुसुमं पावको दीप्यमानो,
नागेन्द्रोऽश्वश्च वृद्धो नृपतिरभिमुखः पूर्णकुम्भो ध्वजो वा ।
उत्क्षिप्ता चैव भूमिर्जलचरयुगलं सिद्धमन्नं तथा च,
वेश्या स्त्री सार्द्रमांसं हितमपि गदितं मङ्गलं प्रस्थितानाम् ॥२१॥

श्रमणस्तुरगो राजा, मयूरः कुञ्जरो वृषः ।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा, सर्वसिद्धिप्रदायकाः ॥२२॥

इति शुभशकुनप्रेरितोत्साहः क्रमेण बहुं पन्थानमुल्लङ्घ्य महाटवीं प्राप्तः । खेदातुरश्छायाकुलवटतरोरधः सुप्तः कुमारः, *सुमित्रस्तु* खेदाऽपनोदाय तत्पादमर्दनं चक्रे । अस्मिन्नवसरे वटनिवासी *भासुरप्रभनामा* यक्षस्तयो रूपं दृष्ट्वा तुष्टः । स च तद् वृत्तमवधेर्ज्ञात्वा प्रत्यक्षीभूय *सुमित्रं* प्रत्याह - 'हे वत्स ! युवां प्रौढावतिथी, ततो वां किमातिथ्यं विधीयते ?'। *सुमित्रेणो*क्तम् - "हे देव ! दुरापात्तव दर्शनात् सर्वं प्राप्तम् । यतः -

1. कः किल कुलाभिमानो, माहात्म्यं पौरुषं च किं तस्य ? ।
शरणागतो यस्य मृग इव, नो भ्रमति स्वच्छन्दम् ॥

[1]तप्पंति तवमणेगे, जवंति मंते तहा सुविज्जाओ ।
वियरंति दंसणं पुण, देवा धन्नाण विरलाणं ॥२३॥

यक्षोऽवक् - "सत्सु याचनां विना सर्वे गुणाः सन्ति । सन्तो दुःस्थितोद्धारं कुर्वन्ति, नाऽर्थयन्ति च किञ्चन । तथापि देवदर्शनममोघम् । यतः -

अमोघा वासरे विद्युद्, अमोघं निशि गर्जितम् ।
अमोघा चोत्तमा वाणी, अमोघं देवदर्शनम् ॥२४॥

ततो लाहि मणिद्वयम् । एषोऽर्चितो नीलमणिस्त्र्युपवासस्याऽन्ते राज्यदो भवति । द्वितीयो रक्तमणिः ॐ ह्रीँ इति मन्त्रेण जप्तो मनोवाञ्छितं पूरयति । आद्यो राजसुतस्यैव योग्यः, द्वितीयस्तवोचितः" । तच्छ्रुत्वा विस्मितेन सुमित्रेण पाणिपुटे मणी कृत्वा यक्षाय च प्रणामं कृत्वा चिन्तितम् - "सत्यमित्यहो !

[2]पहरइ य पुरत्थं, होइ सहायं वणे वसंतेण ।
अइसुत्तस्स वि जग्गइ, नरस्स पुव्वज्जियं पुण्णं ॥२५॥

ततोऽयं कुमारो धन्यो यस्य देवा अप्युपकारिणः" । अस्मिन्नवसरे यक्षस्तिरोहितः । कुमारो जजागार । तौ पुनरग्रतः प्रस्थितौ । फलाशनात् कुमारः *सुमित्रेण* दिनत्रयं यावद् निवारितः। उपवासत्रयेण *महाशालपुर*स्योपवनं प्राप्तौ । तत्र सुमित्रेण कुमारस्य नीलमणिं दत्त्वा प्रोक्तम् - 'हे मित्र ! इदं मणिरत्नं पूजय, येन त्वं

1. तप्यन्ते तपोऽनेके, जपन्ति मन्त्रान् तथा सुविद्याः ।
वितरन्ति दर्शनं पुनः, देवा धन्यानां विरलानाम् ॥

2. प्रधरति च पुरस्थं, भवति सहायं वने वसतः ।
अतिसुप्तस्याऽपि जागर्ति, नरस्य पूर्वार्जितं पुण्यम् ॥

महाराजो भविष्यसि' । तन्निशम्य विस्मितः कुमारः प्राह - 'हे मित्र ! त्वयेदं कुतः प्राप्तम् ?' । तेनोक्तम् - 'त्वत्पुण्यतः, शेषं राज्याप्तौ कथयिष्यामि' । तन्निशम्य कुमारोऽपि नीलमणेः पूजां कृत्वा 'कथमधुना राज्यलाभो भविता ?' इति सविस्मयः सहकार-तरोस्तले निषण्णः । अथ *सुमित्रेण* वल्लीमण्डपे गत्वा पुष्पाद्यैरभ्यर्च्य शरीरस्थितिसामग्रीं स चिन्तामणिरर्थितः । तत्क्षणाद् मणिप्रभावेण दिव्यैरङ्गमर्दकैस्तैलेनाऽभ्यङ्ग्य तौ मर्दितौ, मृदुपाणिभिर्दिव्यस्त्रीभिः सुगन्धिद्रव्येणोद्वर्त्तितौ, मणिरत्नबहुच्छाये सोल्लोचे स्नानमण्डपे स्वर्णासने निवेश्य उरुभृङ्गारक्षरदम्बुभिर्गीतनृत्य-वराऽऽतोद्यविधिपूर्वं च मज्जितौ, दिव्यशृङ्गार-वासः-पुष्प-विलेपनैश्च मण्डितौ, स्वर्णपात्रेषु खाद्य-पेयादि भोजनं भोजितौ, आचामितौ, तदनन्तरं महामूल्यं ताम्बूलं तौ चास्वादितौ । सर्वसामग्र्या उपभोगानन्तरं तत्सर्वं कर्मान्ते इन्द्रजालवद् अदृश्यतां गतम् । ततः कुमारेणोक्तम् - 'भोः *सुमित्र* ! नीलमणेरियं ऋद्धिः ?' । *सुमित्रेणोक्तम्* - 'न खल्वेवं वाच्यं, समये तद् महाऽद्भुतं कथयितास्मि' । ततस्तौ सुखवार्त्तापरौ स्थितौ ।

अथासन्ने नगरेऽकस्मान्नृपो निष्पुत्रको मृतः । प्रधानैर्देव्या-वासितानि पञ्च दिव्यानि क्रमेण तत्र गतानि । तदा गर्जता गजेन कुमारः कलशजलेनाऽभिषिच्य निजस्कन्धे आरोपितः, चामर-च्छत्रैरभितः शोभितः, सानन्दैर्विविधैर्बन्दिवृन्दैः कृतजयारवश्च पुरप्रवेशार्थं सचिवादिभिर्नत्वा विज्ञप्तः । अथ *सुमित्रो* दध्यौ - 'मम सखा प्राज्यं राज्यं प्राप, ततोऽहं मित्रसुखं पश्यन् स्वेच्छं प्रच्छन्नोऽत्र रमे' । इति विचिन्त्य ततो नष्टः, प्रविष्टश्च पुरान्तरे ।

अथ तददर्शनव्यग्रो नृपो मन्त्रिणा विज्ञप्तः- 'हे देव ! कथ्यतां, किं शोकग्रस्तः ? किं विचारयसि ? किमपेक्ष्यम् ? किमानयामः ?'। राज्ञोक्तम्- 'मम सुहृदत्र स्थितोऽधुना नो दृश्यते, ततस्तं द्रुतमानयत'। ततः सर्वसुभटैः सर्वतो विलोकितोऽपि यदा न दृष्टस्तदा मन्त्र्यादिभिराग्रहाद् राजा सोत्सवं पुरे प्रावेशि । पूर्वप्रार्थितपृथ्वीशपुत्रीरष्टौ विवाहितः। सुरसुन्दरीसदृशीभिस्ताभिः समं सुखं विलसन् अखण्डशासनं राज्यम् उत्तमराजवदयं पालयति, परं मित्रं हृदयात् क्षणमपि न विस्मरति ।

अथ *सुमित्रो* नगरे भ्रमन् नरवैरिण्या *रतिसेनाभिधा*नया वेश्यया दृष्टः, सस्नेहं च विलोकितः । पुत्र्या विज्ञानचेष्टया वृद्धासमीपे सगौरवमाहूतोऽसौ । 'सदाकृतित्वाद् द्रव्यवानयं भविष्यति' इति विज्ञाय तयाऽभ्यर्चितः ।

रतिसेनाकटाक्षेषु, विद्धहृन्मन्मथाश्रितः ।
सुखमास्वादयन् स्वैरं, सुमित्रो ध्यातवानिदम् ॥२६॥

"गणिका द्रव्यगणे रज्यन्ति, परं गुणिनां गुणे न । मक्षिका यथा दुर्गन्धिविष्ठायां तिष्ठन्ति, न तु चन्दने । धनार्थं याः चण्डालमपि वाञ्छन्ति, कुष्ठिसार्थं रमयन्ति । यतः -

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च,
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ? ॥२७॥

वेश्याऽसौ मदनज्वाला, रूपेन्धनसमेधिता ।

कामिभिर्यत्र हूयन्ते, यौवनानि धनानि च ॥२८॥

इति जानन्नपि स्नेहसुधासारविलोकनैर्वशीकृतोऽनया सुमित्रः 'अत्रैव कञ्चित् समयं गमयामि' इति ध्यात्वा *रतिसेना*-गणिकागृहे स्थितः । भृशं तुष्टा च कुट्टिनी, परं धने संदिग्धा भूषणादि किञ्चिदभ्यर्थयति । ततः सुमित्रेण 'नैषाऽल्पेन द्रव्येण तुष्यति' इति विचिन्त्य सुरमणी रहोऽर्थितः । तद्बलाद् बहुलं भूषाद्यं तस्यै शीघ्रं समर्पितम् । एवं भूयो भूयोऽपि मार्गितं ददानेऽस्मिन् 'चिन्तामणिं विना नेयं दानलीला सम्भवति' इति कुट्टिनी हृदये वारं वारं चिन्तयति, परं कमप्युपायं न प्राप्नोति । अन्यदा सुमित्रः स्नानं कर्तुं प्रावर्त्तत, तस्मिन्नवसरे छलं प्राप्य कुट्टिन्या वीक्षमाणया परिधानाम्बरप्रान्ते ग्रन्थिं दृष्ट्वा महामणिर्गृहीतः । अथाऽस्या अर्थितं दातुं वीक्षमाणेन *सुमित्रेण* तमप्राप्य तद्वर्गोऽप्रच्छि, तदा कपटघटनापटीयसी वृद्धा विललाप । उवाच च - 'त्वद्दानेन सृतं, किन्तु माऽपवादं ददस्व मे' । तदा *सुमित्रेण* ज्ञातम् - "नूनमनयैव तस्करितं मे रत्नं, नाऽत्र संशयः । एतया वञ्चितश्चाऽत्र कथमहं तिष्ठामि ? तन्नाऽत्र स्थातुं योग्यं मे । अधुनेमां किञ्चिदप्यकथयित्वा नृपाग्रे तत् कथनीयम्" । इति विचिन्त्य नृपाग्रे कथयितुं चलितः, किन्तु ईदृशे कथने सलज्जः स देशान्तरं गतः । मार्गे गच्छन् दध्याविति - "धिगज्ञानं लोभिन्याः पण्यस्त्रियाः, यन्मार्गिते द्रव्ये मया दत्तेऽपि वित्ततृष्णा ह्यवर्द्धत । तया पापया विश्वासद्रोहकारिण्या न केवलमहमेव वञ्चितः, किन्तु अज्ञाततत्त्वया स्वात्माऽपि तया छलितः । यस्मादज्ञातविधिमन्त्रो मणिः सन्नपि तस्याः स्तोकमपि वाञ्छितं नूनं स्वाभाविकाऽश्मवद् न दास्यति।

कोऽस्ति प्रकारो येनाऽहं तस्या विप्रियं कृत्वा स्वमाहात्म्यं दर्शयित्वा तं महामणिं लास्यामि ? । यतः-

उपकारिण्युपकारं, वैरनिर्यातनं रिपोः ।
कर्त्तुं नैव समर्था ये, तेषां धिक् पुरुषार्थताम् ॥२९॥

एवं विकल्पकल्लोलाकुलचित्तो भ्रमन्नसौ क्रमेण सुप्रासादं बहूद्यानं शून्यमेकं महानगरं प्राप्तः, विस्मितश्च मध्ये प्रविष्टः । नगरं समग्रं विलोकयन् क्रमेण राजमन्दिरे समेतः । सर्वं निर्मानुषं पश्यन् चटितः सप्तम्यां भुवि । तत्र कुङ्कुमलिप्ताऽङ्गं कर्पूरभृतमस्तकं पुष्पस्रग्भूषितग्रीवं शृङ्खलासंयतक्रमं प्रैक्षत करभीयुग्मम् । 'किमत्र चटितः ? कथं कुतश्चेदं ज्ञेयम् ? इमे च के ?' इति सम्भ्रमात् पुनरितस्तत ईक्षते, तदा गवाक्षे कूपिकायुग्मं श्वेत-कृष्णाऽञ्जनान्वितं ददर्श । तत्रैव शलाकादर्शनाच्च ज्ञातं यथा 'योगाञ्जनमेतत्' । तथा तयोरक्षीणि सितपक्ष्माणि वीक्ष्य चिन्तितमनेन- "हुं ज्ञातम्, इमे नार्यौ केनचित् शुभ्राञ्जनेन करभीकृते, चेत् कृष्णाञ्जनात् कदाचिदेते मूलरूपे स्यातां तदा भव्यम् । यद् भाव्यं तद् भविष्यति, नाऽस्माकं काचिद् हानिर्भविष्यति" । इति विभाव्य, *सुमित्रेण* तल्लात्वा तन्नेत्राण्यञ्जितानि। तत्क्षणात्ते मानव्यौ जाते । *सुमित्रेण* ते कौशलं पृष्टे ताभ्यामपि सस्नेहमुक्तम् - 'तव सङ्गमेन तदासीत्'। ततः *सुमित्रेणोक्तम्*- 'युवयोः किं वृत्तं चित्ताश्चर्यजनकम् ?' । इति पृष्टे ते ऊचतुः -

"शृणु सुभग ! कथाम् । गङ्गासरिदुत्तरदिक्स्थिते *भद्रकाख्ये* पुरे *गङ्गादित्यः* श्रेष्ठी । तस्य *वसुधारा*नाम्नी प्रिया । तयोः

पुत्राष्टकस्योर्ध्वं यमले पुत्रिके जाते । ते *जया-विजया*ऽभिधे, यौवनश्रिया मण्डिते, ते आवाम् । अथ गङ्गातटोद्याने क्रियावान्, शौचतत्परः, प्रस्तावाख्यानभाषी, वैद्यक-निमित्तविद्, बाह्यतो विज्ञातमाध्यस्थ्यः, अन्तश्च क्रूरपरिणामी *शर्मका*भिध एकः परिव्राट् परिवसति । स पारणार्थं पित्राऽन्यदा सगौरवं गेहे समाहूतः । बहुमानेनाऽऽसनस्थापितस्य तस्य सत्पक्वान्न-शाक-दाल्यादि परिवेषितम् । तातेन तस्मिंश्च भोज्यमाने आवाभ्यां वीजितोऽनिलः। परं स नौ रूपे विलोकयन् मन्मथार्थी व्यचिन्तयत् - 'को जपः ? किं तपः ? किं ध्यानं ? का क्रिया ? का इन्द्रियधारणा च ? । रम्भासमानाभ्यामेताभ्यां चेदहं भोगान् न भुञ्जे, तत् किं जीवितेन?'। पुनरपि चिन्तितं तेन, यथा- "संसारे सारङ्गलोचना एव सारः । यतः -

प्रियादर्शनमेवाऽस्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ।
प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणाऽपि चक्षुषा ॥३०॥

क्षीरसागरकल्लोल-लोललोचनयाऽनया ।
असारोऽपि च संसारः, सारवानिव लक्ष्यते ॥३१॥

पुनरपि तेन चिन्तितम् - 'सुरीभिर्ब्रह्मा क्षोभितः, गौरी-गङ्गाभ्यां महादेवः, गोपाङ्गनाभिर्गोविन्दः, तदा मे को व्रतमदः ?' । इत्यनल्पकुसङ्कल्पनाकल्पितप्रियागमः सरसं भोजनं त्यक्त्वा किञ्चिद् हृदि ध्यायन् स्थितः । ततः सम्भ्रान्तेन श्रेष्ठिनोक्तम् - 'हे मुने ! भुङ्क्ष्व, किं तत्त्वचिन्तयाऽधुना ? शीतान्नं सुखकृन्न भवति' । एवं पुनः पुनः प्रेरितः स आह - 'ईदृग्दुःखदग्धस्य

भोजनेन किं सुखम् ?' । इति कथयित्वा तेन दुर्धिया कतिपय-ग्रासग्रहणं कृतम् । भोजनानन्तरं श्रेष्ठिना पृष्टः - 'हे तापस ! तव किं दुःखम् ?' । ततस्तेनोक्तम् - 'त्यक्तसर्वसङ्गस्य मे भवादृशां सङ्गो दुःखं, यस्मादेकान्तभक्तानां भवादृशां सज्जनानां दुःखं द्रष्टुं नाऽहं समर्थः । पुरो नैव ब्रुवेऽधुना'। स इति कथयित्वा स्वस्थाने गतः । श्रेष्ठ्यपि साशङ्कस्तस्य पृष्ठे गत्वा एकान्ते समुपविष्टः, तं च नत्वा पृष्टवान् । स प्राह - "अभूद् अयं न्याय इतो व्याघ्र इतस्तटी । अवाच्यं तपस्विनां, तथापि एकान्तवत्सला यूयम् । अतो भोः श्रेष्ठिन् ! त्वं तत्त्वं शृणु। मया भुञ्जानेन तत्र त्वत्पुत्र्यौ कुलक्षणश्रेणी कुलक्षयप्रदे निरीक्षिते, ततो भाविनं ते कुलक्षयं वीक्ष्य सद्यो मे हृदि खेदः समुत्पन्नः, तेन सरसमपि भोज्यं मे नीरसमभूत् । त्वद्वाक्यात्तु किमपि भुक्तम्"। तन्निशम्य श्रेष्ठ्याह- 'कथं तच्छान्तिः?' । स ऊचे - 'यदि सुयुक्तं क्रियते तदा तव क्षेमं भवति, किन्तु तत्कृतिः पुनर्दुष्करा' । श्रेष्ठी प्राह - 'कुलरक्षार्थं दुष्करमपि करिष्यामि' । सोऽवक् - "निर्लक्षणं वस्तु त्यक्तमेव हि स्वस्तिकृत्, इति न्यायात् प्रिये पुत्र्यौ स्नाते चन्दना-ऽगरुलिप्ते सद्भूषणाऽलङ्कृते शान्तिकं कर्म च कृत्वा मञ्जूषास्थे रहो नीत्वा गङ्गायां वाहय; ततस्ते वंशवृद्ध्या सुखं भवेत्" । मूढमनाः श्रेष्ठी सर्वं तदुक्तं स्वीकृत्य गृहमागतः । अथाऽन्यदा श्रेष्ठी नवीनायां मदनेन च पिहिताशेषरन्ध्रायां मञ्जूषायाम् आवां निक्षिप्य, अनुक्त्वा अम्बायै, जनाग्रे च 'विवाहार्हा कन्या गङ्गां विलोकयेद् इत्येषा अस्माकं कुले रीतिः' इति ब्रुवन्, परिव्राजक-सहितो मञ्जूषां रहो नीत्वा गङ्गाकूले शान्तिकर्म कृत्वा

प्रातस्तातोऽपि सन् अवाहयत्। ततः सविषादो गृहे गत्वा शोककृत्यं पिताऽकरोत् । परिव्राजकोऽपि स्वमठं गत्वा हर्षतः स्वशिष्यान् कथयामास - " भो भोः शिष्या! निभालयतो गङ्गादेव्या मम मन्त्रसिद्ध्यर्थं पूजोपकरणान्विता मञ्जूषाऽऽनीताऽद्य, ततो यूयं गत्वाऽधस्तीर्थे द्रुतं तां गृहीत्वा समानयत, परं सा नोद्घाटनीया, मन्त्रविघ्नोऽन्यथा भवेत्"। ततस्तेऽपि सविस्मया द्विगव्यूतिमिते तीर्थे गताः, गङ्गां च वीक्षितुं प्रवृत्ताः, परं न कुत्राऽपि दृष्टा ।

अत्रान्तरेऽस्य पुरस्य स्वामिना *सुभूतेन* महीभुजा नद्यां नौकटकेनाऽत्र रममाणेन वहमाना मञ्जूषा वीक्षिता, गृहीता, उद्घाटिता च । स दृष्ट्वाऽस्मद्रूपमद्भुतं कामार्त्तोऽजनि । मन्त्रिणं स प्रोवाच - "भो भो ! आश्चर्यमीक्ष्यताम्।

किं नारी किमु किन्नरी किमु परी विद्याधरी वाऽथवा ?,
किं नागानुचरी किमम्बरचरी किं वाऽमरी किं नरी ? ।
किं गौरी हरिसुन्दरी किमथवा किं चेह वागीश्वरी ?,
तारुण्यद्रुममञ्जरी स्मरपुरी साक्षात् किमेषा भुवि ?॥३२॥

पातालकन्ये किं विद्या-धर्यौ स्वर्गाङ्गने च किम् ।
किं वा नृपसुते एते, भो भो ब्रूतं युवां च के ? ॥३३॥

इति सस्नेहं नृपेणोक्तेऽपि दुःखत आवाभ्यां न किमप्युक्तम्। अस्मिन्नवसरे नृपाभिप्रायविज्ञेन मन्त्रिणा प्रोक्तम्- 'हे प्रभो ! एवं शृङ्गारिते कन्यके कारणं विना कस्त्यजेत् ? तस्मात् केनापि स्वार्थसिद्ध्यर्थं गङ्गायाम् इमे ढौकिते । ततः मञ्जूषायामन्ये स्त्रियौ संस्थाप्य इमे ग्रहीतव्ये' । तदाऽन्येनोक्तम् - 'गङ्गायां

कुतोऽन्ये कन्ये प्राप्येते ? ततो वनगे वानर्यौ क्षिपेम' । राज्ञा प्रोक्तम् - 'सुन्दरोऽयं विचारः' । इत्युक्त्वा आवां लात्वा उत्कटे मर्कट्यौ तस्यां निक्षिप्य पेटा वाहिता, सहर्षमिह चागतः । अथ परिव्राजकशिष्यैः 'नाऽन्यथावादी गुरुरस्माकम्' इति कृतनिश्चयै-श्चिरेण दूरतस्तरन्ती मञ्जूषा दृष्टा, कर्षिता, लात्वा चाऽस्य पापिनो दत्ता । अथ सूर्ये पश्चिमाम्बुधौ गते गुरुणा ते शिष्या उदिताः- 'भोः शिष्या ! युष्माभिरद्य मठिकाद्वारे तालकं दत्त्वा दूरे स्थेयम् । अन्यस्य पूत्कारं श्रुत्वा मठिकासमीपे युष्माभिर्नागन्तव्यं, मन्त्रसिद्धौ विघ्नो न विधेयः' । तैस्तथा प्रतिपन्ने सति द्वारं दत्त्वा स मध्ये स्थितः । अथ पेटासमीपे गत्वा उवाच - 'हे भद्रे ! तुष्टया गङ्गया देवस्वरूपोऽहं वरो युवयोर्दत्तः, याचनाभङ्गो मे न कार्यः, किङ्करोऽस्मि' । इति भणन् यावन्मञ्जूषामुद्घाट्य सोऽन्तः करौ अक्षिपत् -

तावत् स्वभावलोलाभ्यां, क्रुद्धाभ्यां बहुरोधतः ।
क्षुधाप्रक्षीणकुक्षिभ्यां, मर्कटीभ्यां कदर्थितः ॥३४॥

दन्ताग्रैश्छिन्नकर्णौष्ठ, -नासा-भाल-कपोलकः ।
विदीर्णहस्त-पादादि-सर्वाङ्गो नखरैः खरैः ॥३५॥

ततः पूत्कारं कुर्वन्नेषोऽवक् - 'भो भोः शिष्या ! धावत धावत, वानर्यौ मां भक्षयतः' । इति विलपन् भुवि पतितः। शिष्यास्तु तदाकर्ण्य गुरूक्तां गिरं हृदि स्मरन्तो 'मन्त्रस्य विघ्नो मा भूयाद्' इति समीपं नाऽऽगताः । अथ स परिव्राट् चतुर्भिः प्रहरैस्ताभ्यां

विदारिताऽखिलाङ्गः 'पाप्यसौ' इति कृत्वा सर्वैः प्राणैरपि मुक्तः। सोऽज्ञानतपसा मृत्वा राक्षसोऽभूत्। विभङ्गज्ञानतो 'मे प्रिये हृते, मारितोऽहं वानरीभेदतोऽमुना' इत्यवेत्य रुष्टेन तेन *सुभूमराड्* हतः, उद्वासितं चेदं नगरम्। प्राक्प्रेम्णा आवां तु तेन रक्षिते, चूर्णे च तेन कृते। यदाऽऽगच्छति तदा कृष्णाञ्जनेन स्त्रीरूपे करोति, यदा पुनर्गच्छति तदा श्वेताऽञ्जनेन करभ्यौ करोति। एषोऽस्माकं वृत्तान्तः कथितः। भावस्तु कथ्यते - हे सज्जन ! शृणु, शून्यागारनिवासतो निर्विण्णे आवां यमोपमाद् [1]यातुधानात् त्वं मोचय"।

तदाकर्ण्य सकारुण्यः प्रार्थनाभङ्गभीरुकः सुमित्रोऽवक्- 'स राक्षसः कियद्दिनैरेतिः ? कुत्र चाऽसौ गच्छति?'। ततस्ताभ्यां प्रतिपादितं, यथा - "स राक्षसे द्वीपे गत्वा द्वि-त्रैर्दिनैस्त्वरितं समागच्छति, पक्षं मासं वा तिष्ठति, परमद्य रात्रौ नियमेनैष्यति। ततस्त्वं हे सुभग ! भूमिगृहे प्रच्छन्नस्तिष्ठ, प्रभाते स गमिष्यति राक्षसद्वीपे, ततो यथोचितं करिष्यामहे"। *सुमित्रो*ऽपि 'एवम्' इत्युक्त्वा, ते श्वेताञ्जनेन करभीकृत्य भूमिगृहे चोत्तीर्य लीनोऽभूत्। अथ सन्ध्यासमये राक्षसः समागतः। ते च स्वभावस्थे निर्माय उक्तवान् - 'छी छी !, कुत्रापि मानुषो गन्धः'। इति वदन् ताभ्यां प्रोचे- 'क्वाऽऽस्ते मनुष्यः ?, आवामेव मानुष्यौ' इति ताभ्यां प्रत्यायितः। स रात्रौ स्थित्वा व्रजंस्ताभ्यां कथितः - 'आवाभ्यामिह भीयते, ततो द्रुतमागन्तव्यम्' इत्युक्तः स करभीकृत्य निर्गतः।

1. राक्षसात्।

*सुमित्रो*ऽपि ऊर्ध्वं चटित्वा, अञ्जनकूपिके लात्वा, स्त्रीरूपेण ते उत्तार्य, पुनरुष्ट्र्यौ कृत्वा, एकस्या उपरि रत्नगोणिकां धृत्वा, एकस्याश्चोपरि चटित्वा *महाशालपुरं* प्रति शीघ्रं चचाल । असौ कतिपयैर्दिनैर्मन्त्रसिद्धपुरुषेण सह मिलितः । विज्ञाताऽखिलवृत्तेन सिद्धपुरुषेण भृशमसावाश्वासितः। अस्मिन्नवसरे अतिरौद्राकृतिर्दुष्टो राक्षसः पृष्ठे आगतः । फेत्कारं कुर्वन्, त्रिलोकीं कम्पयंश्च स बलिना मन्त्रसिद्धेन स्थाणुवद् दृढं स्तम्भितः । राक्षसोऽपि ज्ञातमाहात्म्यश्चमत्कृतः सिद्धमाख्यत् - 'अहो ! राक्षसेभ्योऽपि बलिष्ठानि मन्त्र-भेषजानि इति सत्यापितं त्वया, ततो हे स्वामिन्! मां मुञ्च, आज्ञां च कुरु' । इति ब्रुवन् सिद्धेन हक्कितः - 'रे दुरात्मन् ! दुष्ट पापिष्ठ ! *सुमित्रेण* सह वैरं मुञ्च' । ततो राक्षसेनोक्तम् - 'सर्वं त्वदुक्तं करिष्ये, परमेते प्रिये मम समर्पय'। इति जल्पन् पलादः सिद्धपुरुषेणेति प्रबोधितः - 'भोः पलाद ! यत्कृते तपोभ्रंशं पूर्वभवे दारुणं मरणं च प्राप्तः, अत्रापि देवदुर्गतिमाप्तः, तथापि त्वं नरकगतिकारणं परस्त्रीगमनं रे पापिन् ! न मुञ्चसि'। इति सिद्धेन हक्कितः प्रतिबुद्धो रजनीचरस्तस्मै *सुमित्राय* सर्वं दत्त्वाऽपराधं च क्षमयित्वा स्वस्थाने गतः । हर्षभरप्रफुल्लदेहोऽथ सुमित्रः सिद्धपुरुष-मभ्यधात् - 'सत्त्ववान् साहसिको धीरः करुणाकरश्च विश्वे त्वमेको येन महादुष्टः पलादोऽपि प्रतिबोधितः'। इति सिद्धपुरुषं स्तुवन् स तेनापि प्रशंसितः - " हे *सुमित्र* ! सत्त्विनां धर्मिणां च मध्ये त्वमेव श्रेष्ठः, यत्त्वं मन्त्रविद्यादिविवर्जितोऽप्येवं महासाहसं कृतवान्, धन्यस्त्वम् । साहसादेव कार्यसिद्धिः । यतः-

विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः[1] पौलस्त्यो[2] रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्याजौ[3] रामः सकलमवधीद् राक्षसकुलं,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे[4] ॥३६॥

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा,
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः[5] सारथिरपि ।
रविर्यात्येवाऽन्तं प्रतिदिनमपारस्य [6]नभसः,
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥३७॥

इति स्तुत्वा सिद्धपुरुषो गतः । *सुमित्रोऽपि* क्रमेण *महाशालनगरं* प्राप्तः । तत्र भाटकेन गृहं लात्वा स्थितः । [7]गङ्गोमाभ्यां यथा [8]हरः क्रीडति, तथा ताभ्यां समं रममाणः कालं गमयति ।

अथ सुमित्रमपश्यन्ती *रतिसेना* त्रिदिनीं क्षुधिता रत्नात् कपर्दिकामपि अप्राप्नुवत्या व्यग्रया वृद्धया प्रोक्ता – 'हे पुत्रिके ! धनिना अन्येन सार्द्धं रमस्व, मधुरं भुङ्क्ष्व, गणिकानां धनमेव भर्त्ता' । इति श्रुत्वा सा *सुमित्रे* दृढाग्रहा प्राह- "यथा नदीभिर्जातुचिद् [9]वार्द्धिर्न तृप्यति, [10]दारुभिर्यथा वह्निर्न तृप्यति, तथा हे पापिनि ! त्वमपि मत्कान्तेनाऽर्पितेन द्रव्येण न तृप्ता । मम शरीरं कदाचित्पावकः[11] स्पृशतु, परं कमनीयात्कमनीयोऽपि *सुमित्रा*दपरो न हि स्प्रष्टुं योग्यः"। इति पुत्र्या निश्चयं ज्ञात्वा शपथैरिमां प्रतार्य

1. शत्रुः । 2. रावणः । 3. संग्रामेः । 4. सामग्र्याम्-साधने ।
5. चरणरहितः । 6. आकाशस्य । 7. गङ्गा-पार्वतीभ्याम् ।
8. शङ्करः । 9. समुद्रः । 10. काष्ठैः । 11. अग्निः ।

प्राणवृत्तिं च कारयित्वा वृद्धा वीक्षितुं प्रवृत्ता । कियद्भिर्दिनैः सारशृङ्गारवानसौ[1] रथ्यान्तरे दृष्टः । अत्याग्रहाद् गृहे नीत्वा मायया कुट्टिन्या विज्ञप्तः - "हे सुभग !

पथिकोऽपि पयः पीत्या, निवेद्य पुरतो व्रजेत् ।
सस्नेहां मामनुक्त्या हि, किं प्रयासस्तयोचितः ? ॥३८॥

इयं वराकी मम सुता निर्दोषाऽपि त्वया मुक्ता, दुस्सहेन तव विरहेण प्राणसन्देहमापन्ना । यस्त्वं सपरिवारया मया यत्र न शोधितो नैव तच्चैत्यं, न तद् गृहं, न सोऽध्वा, न तदापणं, न तदङ्गणं, न तद् वनं; किन्तु बहिः पतङ्गरङ्गेण अन्तश्च अश्मकठिनेन त्वयाऽपराधं विनाऽपि [2]नो दर्शनं न दत्तम्" । इति कुट्टिन्योक्तं श्रुत्वा चिन्तितं *सुमित्रेण* - 'अहो! अद्यापि पापिनी पापमपह्नुते, परं माययाऽऽत्तं[3] चिन्तारत्नं मयाऽपि माययैव ग्राह्यम् । यतः- *शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्*' । इति विचिन्त्य *सुमित्रेणो*क्तम् - "कार्यौत्सुक्याद् दूरदेशान्तरं गतः । क्रयाणकबाहुल्याच्च समागतोऽप्यद्यात्र न समागतः । परं ममाऽपूर्वहितैषिणी त्वं दूरेऽपि न विस्मृताऽसि भोजने पाने दिने निशि च, यद्यहमलीकं वच्मि ततस्तवैव शपथोऽस्तु" । इति *सुमित्रोक्तं* निशम्य तया चिन्तितम्- 'नाऽयं मे व्यलीकं वेत्ति, ततो लाभदो भविष्यति, परं चिन्तारत्नं नाऽर्पयिष्यामि' । इति चिन्तयन्ती कुट्टिनी जहर्ष । अथ सुमित्रेण *रतिसेनायै* प्रोक्तम् - 'किञ्चित् त्वामद्भुतं दर्शयामि' । इत्युक्त्वा तां करभीं कृत्वा स्वस्थाने गतो हर्षेण । अथ भोजनावसरे

1. सुमित्रः । 2. अस्माकम् । 3. गृहीतम्।

आहूताऽपि यदा नागता तदा सम्भ्रमात् तत्र गतया वृद्धया करभी वीक्षिता, न सा *रतिसेना* । ततो वृद्धया चिन्तितम् - 'करभीरूप-याऽनया राक्षस्या मम पुत्री भक्षिता' । इति दुःखात् पूत्कृतं, तदा निजो वर्गस्तथा लोकोऽपि मिलितः । लोकैश्च कुट्टिनी पृष्टा यथा, 'अस्या अधुना भोक्ता कोऽस्ति ?' । ततस्तया प्रोक्तम् - 'कोऽपि वैदेशिकः पुमान् अज्ञातनामाऽस्ति' । तदा जनो जगौ - 'मुग्धे ! त्वत्सुताकृताऽपराधरुष्टेन नूनं तेनैव करभी कृता लक्ष्यते, अतः सद्यो निवेदय नृपं, यथा नंष्ट्वा स दूरं न याति' । तन्निशम्य शीघ्रमक्कया *वीराङ्गद*नृपस्याग्रे विज्ञप्तम् । नृपोऽपि चिन्तितवान्- 'तादृक्शक्तिधरः किं मे सखा ? इति विमृश्य प्राह भूपतिः - 'तत्संयोगः कदा तवाऽभूत् ?' । तया प्रोक्तम् - 'यद्दिने देवेनेदं राज्य-मलङ्कृतं तद्दिनेऽसौ मद्गृहे समागतः' । तन्निशम्य नृपेणा-ऽऽरक्षकाः प्रोक्ता यथा - 'तं नरं भक्त्या समानयत मदन्तिके'। तेऽपि पणाङ्गनाचेटीदर्शितं नरं साम्ना लात्वा नृपान्तिके समागताः। भूभुजा दूराद् विज्ञाय प्रेम्णा चोत्थायाऽऽलिङ्गितः। 'स्वागतं धूर्त्तराजस्य सन्मित्रस्य' इत्युपजहसे च । नतमूर्ध्ना *सुमित्रेणा*-ऽप्युक्तम् - 'देवप्रसादतः' । ततो राज्ञोचे - 'अस्याः सुता उष्ट्री किमर्थं कृता ? तत्कारणं मे कथय' । *सुमित्रेणो*क्तम् - 'सा वृक्षपल्लवान् यथा सुखं चरेत्, तथाऽस्या लोभिन्या वाहनमपि स्यात्, भोजने च व्ययो न स्यात्, तदर्थं चोष्ट्री कृताऽस्ति' । ततः कुट्टिन्या प्रोक्तम्- 'रे इन्द्रजालिक ! गल्लजल्पेन सृतं, तव विज्ञानं मया ज्ञातं, परं मे सुतां यथास्थितां कुरु' । ततः *सुमित्र* उवाच- 'यदा त्वामेव प्रौढोदरीं रासभीं कृत्वा विष्ठां चारयिष्यामि,

पुरं च पावयिष्यामि, तदा मे विज्ञानं ज्ञास्यसि । अन्यथा मम मणिं देहि' । तद्वचनं श्रुत्वा राजा प्राह- 'को मणिः ?' । स जगौ- 'प्रभो ! यत्प्रभावेण तदाऽरण्येऽपि आवयो : सुखसाधनसामग्री सम्पन्ना, स मणिरनयाऽपहृतः' । तन्निशम्य राजा तामाह- 'रे दुष्टे धृष्टे ! रे प्रत्यक्षतस्करि ! मत्सखाऽपि त्वया मोषितः ?' । ततः सा भयभीता मुखे स्वाङ्गुलिं क्षिपन्ती *सुमित्रस्य* पदोर्लग्ना । तदा शरणत्राणविज्ञेन *सुमित्रेण* राजापि क्षामितः । तयाऽपि मणिः *सुमित्रस्य* पाणौ दत्तः । *रतिसेना* सुमित्रेण सज्जीकृता । ज्ञातमातृचरित्रा सा *सुमित्रे* गाढरागा जाता । कुट्टिन्या गृहसार-समन्विता सुता उपनीता, तेनापि राजादेशात् स्वसात् कृता । ततो हृष्टो राजा प्राह - 'भो मित्र ! मणिलाभः कथमभवत्? किमर्थं मां मुक्त्वा त्वं गतः ? कुत्र च स्थितः ? किं सुखं दुःखं च प्राप्तवान् ? एतत् श्रोतुं मम कुतूहलं, मम पुरः सर्वं वद' । *सुमित्रो*ऽपि मणिवृत्तान्तादारभ्य स्ववृत्तान्तं सर्वं कथयामास । तत् श्रुत्वा चमत्कृतो भूपः प्राह - 'लक्ष्मीर्व्यवहारतः प्राप्यते, यथा पथ्याहाराद् नीरोगता पुण्यतश्च स्वर्गमोक्षौ' । ततः सुमित्रेणोक्तम् - "हे प्रभो! पुण्यं विना व्यवसायादि सर्वं तुषपुञ्जवद् निष्फलं भवति, परमपदार्थाः प्राच्यपुण्येन प्राप्यन्ते । यतः -

लक्ष्मीर्दानमयी वपुः सुखमयं श्रद्धामयं मानसं,
धर्मः शील-दयामयः सुचरितश्रेणीमयं जीवितम् ।
बुद्धिः शास्त्रमयी सुधारसमयं वाग्वैभवोज्जृम्भितं,
व्यापारश्च परार्थसाधनपटुः पुण्यैर्विना नाप्यते ॥३९॥

यद् दुर्लभं दुर्गम-दूरसंस्थितं,
वशे यदन्यस्य च दुर्जनाश्रितम् ।
सुखं भवेत् तत्किल लीलया वरं,
पुण्यं कृतं प्राग् यदि जीव ! पीवरम् ॥४०॥

हे प्रभो ! भवता राज्यलक्ष्मीः प्राप्ता विनोद्यमं, तत्पुण्यस्य माहात्म्यम् । अन्यच्च, यदि देवो मनागपि मनो दत्ते, तदा तद् महापुरं वासयित्वा स्वदेशे च प्रवेश्यते" । चिरान्मिलितयोस्तयोः शुभ्रवर्णयोः क्षीर-नीरयोरिव कियान् कालः सुखमयोऽगमत् । अन्येद्युर्वीर*राङ्गदः सुमित्र*सहितस्तत्र *महापुरे* गत्वा पुरं वासयित्वा स्वाज्ञां च वर्त्तयित्वा *महाशालपुरे* समागतः, भोगसुखाम्बुधौ मग्नश्च राज्यं पालयितुं लग्नः" ।

इत्थं नवीनकथाकथको भट्टो *रत्नशिखभूपं* प्रत्याह - "हे प्रभो ! अयं कथया परमार्थोऽवितथः प्रोक्तः -

यत्र तत्रैव वा यातु, करोतु व्यवसायकम् ।
सुकृती लभते सौख्यं, स वीराङ्गदराजवत् ॥४१॥

इति वीराङ्गदसुमित्रयोः कथानकम्

इति [1]भट्टोदितां कथां निशम्य भूपो हृदि व्यचिन्तयत् - "अहो ! सुधारससमानानि धीराणां चरितानि । यतः-

उत्तमानां च को मानः, श्रिया वंशक्रमोत्थया ।
श्वानोऽपि भक्ष्यमश्नन्ति, सन्तुष्टाः स्वामिनाऽर्पितम् ॥४२॥

1. पूर्वमागताः संबन्धो १६५ पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

पञ्चाननो वहत्येकः, प्रकटं पुरुषार्थताम् ।
लब्धो मृगेन्द्रशब्दोऽत्र, येनैव निजविक्रमात् ॥४३॥

ततो देशान्तरे गत्वा पुण्यपरीक्षां कुर्वे" । स्वमनस्येवं निर्धार्य नृपेण *पूर्णभद्रस्य* मन्त्रिणः सद्भावः कथितः । ततः प्रधानेनोक्तम् - "हे देव ! तवेच्छां भुवि को हन्ति ? तथापि किञ्चिद् विज्ञपयामि । हे विभो ! विदेशा दुर्गमाः बह्वपायाश्च पन्थानः, वैरिणोऽपि छलाऽन्वेषिणः, सुकोमलश्च स्वामिनो देहः । ततः प्राप्तं राज्यं हे स्वामिन् ! कुरु, प्राच्यपुण्यफलं चैतत्, किं फलान्तरवाञ्छया ?" । इत्यादि मन्त्रिणा बहूक्तोऽपि नृपो न स्थितः । ततो [1]मन्त्रं सङ्गोप्य पाश्चात्यनिशि खड्गं करे कृत्वा नगरान्निर्गतः, शुभशकुनप्रेरितश्च उत्तराभिमुखं चचाल । मनोरथ-रथारूढः, पुण्यसैन्यसमन्वितः, सन्तोषरूपमन्त्रिवर्गयुक्तो, ग्रामा-ऽऽकर[2]-खेट-कर्बट-पर्वत-सरित्-तटाकादिषु नवं नवं कौतुकं पश्यन्, प्रसृताक्षिभिर्योषिद्भिः पदे पदे वीक्ष्यमाणः, मुनिवत् क्षमाधरः, सुशीलः, सहमानः क्षुधा-तृषे, भूमिशायी च जनैर्मानितो महासाहसी कुत्रचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वन् क्रमेणैकां विकटाटवीं प्राप्तः । यावत् स कियतीं भूमिमग्रे याति, तावद् गलस्वर्णमालं शङ्खमालाढ्य-श्रवणद्वयं मञ्जुघण्टारवोद्ग्रीवीभूतसारङ्गवीक्षितं लम्बाङ्कुशवर-स्कन्धं चित्रकारणं वारणं[3]मीक्षाञ्चकार । 'कान्तारे ईदृक्स्वरूपः करी

1. स्वाभिप्रायम् । 2. आकरा लोहाद्युत्पत्तिभूमयः-खनयः, खेटानि-धूलिप्राकारोपेतानि, कर्बटानि-कुनगराणि ।
3. गजम्

कथम्?' इति सिंहवद् निर्भयो यावत् चिन्तयति, तावद् झटिति हस्तिना दृष्टो नरपतिः । ततः क्रोधाऽरुणलोचनो दन्ती शुण्डादण्डमुल्लाल्य नृपान्तिकं प्राप्तः । नृपेणाऽपि सुचिरं रमयित्वा [1]करटी स्ववशीकृतः । अस्मिन्नवसरे नृपकण्ठपीठे गगनाङ्गणात् सुगन्धाढ्या मञ्जुगुञ्जदलिव्रजा पुष्पमाला पतिता । सविस्मयेन तेन नृपेणोर्ध्वं पश्यता विहायसि यान्तीनां कुवलयनयनानां भाषितं श्रुतं यथा - 'भोः ! साधु वृतं साधु वृतम्' । नृपोऽपि स्मेरविस्मयवान् प्रौढगजारूढः स्थिरासनः पुष्पस्रग्भूषितस्कन्ध उत्तराभिमुख-मचालीत् । यावद् ईषज्जाता तृषा तावद् विहगसङ्कुलं, लसज्जल-जकिञ्जल्कपुञ्जपिञ्जरसज्जलं, द्रुमारामराजत्परिसरं सरः पुरोऽ-पश्यत् । तस्मिन् कासारे करी पयः पीत्वा निकामं किल जलक्रीडामकरोत् । राजाऽपि गजादुत्तीर्य हृद्यं तज्जलमास्वाद्य मत्स्यवद् लोडयित्वा च तटाकस्य तटे गतः । तावत् कयाचिद् योषिता दिव्यानि दुकूलानि परिधापितः, सर्वाङ्गभासुरैः स्फारै-र्विभूषणैर्भूषितः, पुष्प-विलेपन-ताम्बूलैश्च सत्कृतः। ततः स मधुरो-क्तिभिरिति भाषितः । अपूर्वदेवस्य देवस्य स्वागतम्'। तन्निशम्य नृपेणोक्तम् - 'हे भद्रे ! कथमहमपूर्वदेवः ?' । ततस्तया प्रोक्तम्- 'हे महाराज ! सुचिरं सेविता देवा निर्वृतिं ददते नवा, सा त्वया दृष्टमात्रेण मम सख्या दत्ता' । तन्निशम्य नृपेणोक्तम् - 'हे सुभ्रु! का ते सखी ? तया चाऽहं कदा दृष्टः?' । इति नृपोक्तिं निशम्य साऽप्युवाच -

"हे स्वामिन् ! शृणु । इत उत्तरस्यां दिशि *रजताढ्यो* नाम नगाधिराजः प्राक्पश्चिमा[2]ब्धी व[3]गाह्य स्थितः अवनेर्मानदण्ड

1. हस्ती । 2. अब्धी (द्वितीया द्विवचनं) । 3. वगाह्य-अवस्य अकार लोप ।

इव । तस्योपरि *सुरसङ्गीते पुरे* रिपुचूरणः सकलाशानां पूरणः *सूरणो* नाम विद्याधरेश्वरः । तस्य *स्वयम्प्रभा-महाप्रभे* द्वे भार्ये अभूताम् । तयोः विद्याद्भुतौ *शशिवेग-सुरवेगौ* सुतौ । अन्यदा *सूरणः* खेचराधिपो वैराग्यवासिताऽन्तःकरणः *शशिवेगाय* प्रथमसूनवे राज्यं दत्त्वा *रवितेज*श्चारणर्षिसमीपे प्रव्रजितः । *शशिवेगो* राज्यं पालयति । अथाऽन्यदा *सुरवेगो* राज्यं जिघृक्षुः स्वमातुलस्य सुवेगस्य समीपे गत्वा प्रबलं सहायं समादाय सद्यो भ्रातुः पुरमवेष्टयत्। तदा *शशिवेगोऽपि* तेन सह युयुत्सुरभूत् । ततो मन्त्रिभिरुक्तम् - 'भवतां कनीयसा भ्रात्रा समं युद्धकरणमयुक्तम्, अतो राज्यासनं तस्मै दीयताम्' । इति मन्त्रिगिरा स्वपरिकरमादाय *शशिवेगराड्* अस्यां महाटव्यां सुगिरिपर्वते नवीनं नगरं संस्थाप्य सबलः स्थितः । तस्य *चन्द्रप्रभा*नाम्नी सुताऽस्ति । तां दृष्ट्वा नैमित्तिकेन प्रोचे - 'य एनां परिणेष्यति, तत्साहाय्यात्पुनस्तव राज्यं भविष्यति' । ततो राज्ञा प्रोक्तम् - 'स कस्मादभिज्ञाना-दस्माभिर्ज्ञेयः ?' । इत्युक्ते स पुनर्जगौ - '*सुग्रीवपुरभूपस्य* गन्धबन्धुरं सिन्धुरमत्रैव यो वशीकर्त्ता, स एव पुमान् तव सुताया भर्त्ता भविता, तन्निश्चयेन जानीहि' । ततः प्रभृति खेचराधिपाज्ञया खेचरैः सेवितोऽसौ हस्ती आलानस्तम्भं भङ्क्त्वा मीढं च पातयित्वा स्वेच्छया भ्रमन्नत्रागतः, त्वया स वशीकृतः । अतश्च पितुरादेशात् सखीवृन्दसमेतयाऽस्माकं स्वामिन्या व्योमगामिन्या भवद्गले वरमाला न्यस्ता । एतया एव देवस्य वस्त्राद्यखिलं प्रीत्या प्रेषितम्" ।

इतीयं खेचरी यावद् वक्ति, तावदश्ववाराणां सेनाऽऽगता । तां सतर्कं पश्यन् 'कश्चनाऽरिः समागच्छत्' इति च वितर्कयन्

नृपो यावदास्ते, तावत् केनचिदश्ववारेण समीपे समागत्य नमस्कार-पूर्वकं विज्ञप्तः - 'हे देव ! प्रसन्नो भूत्वा वद, यो नरो मत्तसिन्धुरमारूढः समागतः स क्व गतः ? किं तत्तनौ शिवम् ?'। तस्मिन्नवसरे विद्याधरी प्राह - 'गजेन्द्रं किं स चोरयित्वा समागतः?'। एवमाक्षि-प्तेनाऽश्ववारेण प्रोक्तम् - "न खल्विदं युक्तम्। तस्य सत्त्वेन तुष्टोऽस्मत्प्रभु-स्तद्दर्शनमीहते, पुनर्गम्भीर-गुरुचित्तानां तत्त्वं को जानाति ? । ततः प्रसद्याऽधुना स क्वाऽस्ति ? तत्प्रवृत्तिं वद, तस्य दर्शनं विनाऽस्मत्स्वामिनो निर्वृतिर्नैव भविष्यति" । ततः खेचर्या प्रोक्तम् - 'एतेन देवेन दुर्दमो दन्ती वशीकृतः, न त्वितरैः, ततो भवत्स्वामी एनमत्रैव संस्थितं शीघ्रं पश्यतु' । इति श्रुत्वा तेनाऽश्ववारेण तूर्णं गत्वा वसुतेजसे नृपाय कथितम् । राज्ञाऽपि चिन्तितम् - 'नूनं पुण्यवान् कश्चिदागतः, करटी च तेन वशीकृतः। अतोऽधुना तमहं नगरे सादरमानयेयम्' । इति ध्यात्वा तमानेतुं स राजा तत्र सरोवरतटे आगतः । ततो विद्याधर्यां गतायां तेन *रत्नशिखेन* स गजराजस्तटाकादवतारितः । *वसुतेजाश्च* तं सन्मानपूर्वकं लात्वा *सुग्रीवनगरे* गतः । ततः सभायामुपविश्य राज्ञा प्रोक्तः - "भोः कुमार ! ममाऽष्टौ कन्याः सन्ति, तास्त्वं परिणय, राज्यं च गृहाण । यतो मया *श्रीसुमङ्गलकेवलिपार्श्वे* धर्मदेशना श्रुता, संसारस्वरूपं च ज्ञातं, ततो राज्यं त्यक्त्वाऽहं संयमं ग्रहीष्यामि । गजग्रहणचिह्नतस्तेनैव केवलिना मम त्वमुपदि-ष्टोऽसि, ततो राज्ययोग्योऽसि, कन्या अप्यष्टौ तवैव योग्याः सन्ति" । इति प्रोक्ते कुमारेण तथेति च कथिते राज्ञा बहुमानतो

विवाह्य स्वराज्ये स्थापितः । शिक्षितश्च, यथा - "इहाऽमुत्र च विरुद्धपरिहारेण स्थेयं, प्रजाः सुरक्षणीयाः । यतः -

प्रजानां धर्मषड्भागो, राज्ञो भवति रक्षितुः ।
अधर्मस्याऽपि षड्भागो, जायते यो न रक्षति ॥४४॥

हे राजन् ! प्रजानां पालनमेव पार्थिवानामलङ्कारः । शठदमनमशठपालनम् आश्रितभरणं च उत्तमराजचिह्नानि ।

न्यायो धर्मो दर्शनानि, तीर्थानि सुखसम्पदः ।
यस्याधारे प्रवर्त्तन्ते, स जीयात् पृथिवीपतिः' ॥४५॥

नरकान्तं तदा राज्यं, यदा राजा न धार्मिकः ।
धार्मिके तु परं तस्मिन्, सौख्यमत्र परत्र च ॥४६॥

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते, जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥४७॥

ततो हे राजन् ! यथाऽस्माकं न स्मरन्ति प्रजास्तथा प्रवर्त्तनीयम्"। इति शिक्षयित्वा *वसुतेजा* नृपः संयमं सद्गुरुपार्श्वे ग्रहीतुमनुमतिं मार्गयामास - 'द्रुतं मामनुजानीहि, यथा कुर्वे हृदीप्सितम्' । राज्ञाऽप्यगण्यदाक्षिण्यात् तमनुज्ञाप्य चिन्तितम् - 'अहो ! राज्यमनेन जीर्णरज्जुवत् शीघ्रं त्यक्तम् । यतो *विरक्त-चित्तानां भोगास्तृणवत् सुत्यजाः*, रुजाकुलाः किलाऽङ्गिनो मिष्टान्नमपि वमन्ति' । इति प्रशंसता तेन कृतदीक्षामहोत्सवो *वसुतेजा* राट् सद्गुरुपार्श्वे दीक्षां जग्राह । *रत्नशिखो* नृपोऽपि गुरुपार्श्वे सम्यक्त्वं प्रतिपन्नवान् । न्यायेन स राज्यं पालयति ।

अथ ज्ञातवृत्तान्तः *शशिवेगो*ऽपि स्वस्य *चन्द्रप्रभां* कनीं विवाह्य ससाधनं विद्यानां सहस्रं तस्मै प्रमोदेन ददौ । एतद्व्यतिकरं ज्ञात्वा *सुवेग*विद्याधरराजो रुषा करिरूपं कृत्वा तत्पुरोपवने समागात् । तद्वार्त्तां श्रुत्वा नृपस्तं गजं ग्रहीतुं स्वल्पपरिच्छेदो गतः। विचित्रैः करणै राज्ञा चिरं क्रीडयित्वा यावदारुह्यते दन्ती तावत् सोऽम्बरे उत्पतितः । अथ राज्ञा वज्रचण्डेन मुष्टिदण्डेन ताडितः, तावत् स करी 'नमोऽर्हद्भ्यः' इति पठन् स्वाङ्गतो भ्रान्त्वा निर्विण्णः सन् सहसा भूमौ अपतत् । तं साधर्मिकं ज्ञात्वा 'हा हा! मया पापेन दुष्टं कार्यं कृतं यत्साधर्मिक आशातितः' इति खिन्नेन नृपेण शीताऽम्बुना वाताद्यैश्च स सज्जितः प्रशंसितश्च। यथा - 'अहो ! धन्यस्त्वं दृढसम्यक्त्ववान् यद् ईदृश्यामप्यापदायां नमस्कारं स्मरसि, तेन साधर्मिकोत्तमस्त्वं यन्मया दुर्धिया पीडितस्तत् क्षमस्व'। इत्यसौ जल्पन् शान्तेन तेन प्रोक्तः - "भो राजन् ! मनागपि ते दोषो नास्ति । मया यादृक् कृतं तादृक् फलमिहैव प्राप्तम्। यतोऽज्ञः पुमान् पापं करोति, तत्कटुकविपाकं च न पश्यति, यथा स्निग्धं दुग्धं पिबन् मार्जारः पतन्तं लकुटं न पश्यति । अधुना शृणु मत्कथाम्-

वैताढये चक्रपुराभिधनगराधिपः *सुवेगनामा*ऽहं विद्याधरोऽस्मि। भागिनेयपक्षपातेन *शशिवेग*विद्याधरो निजपितृदत्तराज्योऽपि मया उन्मूलितः, भागिनेयस्य च *सुरवेगस्य* राज्यं दत्तं । परमधुना मया श्रुतं यथा, 'जामातृसाहाय्यात् शशिवेगो राज्यं लप्स्यते' । इति मत्सरेण त्वन्मारणार्थं कृतगजरूपः शीघ्रमिहागतः । परं हे महासत्त्व ! त्वया दयालुना ताडयित्वाऽप्यहं प्रतिबोधितः, यथा

तिक्तकटुकौषधैर्वैद्येन रोगी । साम्प्रतं मया निर्मलः संयमः पाल्यः, ततो मदीयं राज्यमङ्गीकुरु, यथाहमीप्सितं साधयामि" । तस्मिन्न-वसरे *सुवेगस्य* बहवो विद्याधराः समाययुः । *शशिवेगोऽपि* सबलः समागतः । प्रशमरसकल्लोलाक्षिप्तचित्तेन *सुवेगखेचरेण* प्रोक्तम्- 'हे *रत्नशिख*! धर्मबन्धो ! मम राज्यं गृहाण, धर्मे विघ्नं मा कुरु'। तन्निशम्य *शशिवेग*युतेन *रत्नशिख*नृपेणोक्तम् - "भोः साहसिक-शिरोमणे ! कुलक्रमागतं राज्यं तावद् भुङ्क्ष्व, पश्चाद् वयःपरिणतौ च तपोऽर्जने यतेथाः । यतो दुर्जयो हि इन्द्रियग्रामः, परिषहा दुःसोढव्याः, मनश्च पवनोद्धूतध्वजाग्रमिव चञ्चलं, व्रतभङ्गस्तु महा-ऽनर्थनिबन्धनम्" । इत्यादि बहुधोक्तोऽपि वैराग्येण शूरः *सुवेग*-खेचरराट् चारु चारित्रमङ्गीचकार । ततो राज्यं स्वस्थं विधाय *रत्नशिख-शशिवेगौ* क्रमात् *चक्रपुरं* गतौ । *रत्नशिखो* नृपः विद्याधर-श्रेणिस्वामी जातः । सुरवेगस्तु स्वभ्रात्रा रक्ष्यमाणोऽपि मातुलवृत्तान्तं ज्ञात्वा संवेगाद् मुक्तिसत्पथं चारित्रं प्रपन्नः ।

अथ *रत्नशिखो* नृपः संपूर्णमात्मानं मन्यमानो दृष्टाऽधिक-सुखव्रजः सम्यक्त्ववांश्च जिनचैत्यानि वन्दते, साधून् नमस्करोति, साधर्मिकान् सन्तोषयति, दीनानुद्धरति, प्रजामिव प्रजाः पालयति, श्रीमज्जिनगृहे जिनप्रतिकृतौ जिनप्रतिष्ठा-विधौ श्रीजिनस्नपने जिनार्चनविधौ सङ्घपूजादिके श्रीजैनशास्त्रलेखने तीर्थयात्रादिके च घनं धनव्ययं कुर्वन् सम्यक्त्वं निर्मलं करोति । एवं नृपोऽनेक-लक्षवत्सराणि सुखमयानि गमयामास । अथाऽन्यदा *साकेतपुरोद्याने* *श्रीसुयशोनामानं* तीर्थङ्करं समवसृतं ज्ञात्वा महताऽऽडम्बरेण तत्र गत्वा नत्वा च तीर्थपतिं मुदा तुष्टाव । यथा -

जय भुवनत्रयवत्सल! [1]छलजलधरपवन! [2]वनजसमनयन!।
नयनयजिनमतवर्द्धन!, धन-तृण-सुख-दुःखसमहृदय!॥४८॥

इत्यादिसंस्तवं कृत्वा भूभर्त्ता भक्तिनिर्भरस्तीर्थपतिं नत्वा समग्रमुनिवृन्दं ननाम । तत उचितस्थाने स्थित्वा शीर्षन्यस्तकरद्वयो विभोर्वाणीं शुश्रूषति । भगवानपि मेघगम्भीरध्वनिना धर्मदेशनां चकार । तद्यथा -

"भो भव्याः ! अपारे भवकान्तारे कर्मायत्ताः शरीरिणो निम्नोन्नतेषु[3] स्थानेषु निरन्तरं सञ्चरन्ति । कदाचिन्नरके यान्ति, कदाचिद्देवलोकेषु, कदापि मानुषत्वं प्राप्नुवन्ति, कदाचिच्च तिर्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति । [4]पृथिव्यब्-वह्नि-वातेषु [5]वने द्वीन्द्रियादिषु च समुत्पद्यन्ते। तथा राजानो रङ्काः, बुधा मूर्खाः, इभ्या दुःस्थतमाः, सुभगा दुर्भगाः, भोगिनः कृपणाः, सुखिनो दुःखिनः, पूज्या अपूज्याः, सद्रूपाः कुरूपाः, सज्जनाः खलाः, सुस्वरा दुःस्वराः, कीर्त्तिमन्तः कीर्त्तिरहिताः, ब्राह्मणाः श्वपाकाः, मूका, अन्धा, बधिराः, पङ्गवः, कूणयः, कुण्ठाः कुष्ठिन इत्यादयो विविधा भावाः संसारे पर्यटतां प्राणिनां शुभाशुभकर्मणां प्रभावेण भवन्ति । तत्राऽपि केचित् कुबोधदिग्मूढाः कुमतदुर्दिशि भ्रेमुः, अपरे पाखण्डिधूर्त्तैर्दुर्योनिकुण्डेषु पातिताः । ईदृशे भवकानने मोक्षमार्गदेशका ज्ञानिनः पुण्ययोगेन प्राप्यन्ते, ततस्तदर्जनायैव बुधैः सदा यतनीयम्" । इति देशनां निशम्य *रत्नशिख*नृपेणोक्तम् - 'हे भगवन् ! मया किं सुकृतं कृतं यतः

1. कपटमेघविद्रावणे वायुरिव, तत्संबोधने । 2. कमलतुल्यनेत्र ! ।
3. नीचोच्चेषु । 4. पृथ्वीकाया-ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकायेषु ।
5. वनस्पतिकाये ।

सुखात् सुखं प्राप्तम् ?' । ततो भगवता प्रोक्तम् – 'हे भद्र ! प्राग्भवे भवता पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारः स्मृतः, तस्य प्रभावेण महासुखस्य भोक्ता भवानभवत् । हे भद्र ! नमस्कारजापात् सम्यक्त्वं भवति, सम्यक्त्वाद् विरतिर्भवेत्, विरतेर्लभ्यते मोक्षः, मोक्षतः सुखमक्षयम्। सांसारिकं यत्परमं सुखं तद् नमस्कारस्याऽल्पं फलं, मुख्यवृत्त्या तु चिदानन्दसुखप्राप्तिः तत्पूर्णं फलम्" । एवं प्राग्भवाऽन्विते नमस्कारफलेऽर्हतोक्ते सद्रोमाञ्च-शिखान्वितो *रत्नशिखो* राजा भृशं रेजे । प्रबुद्धश्च गृहे गत्वा, स्वसूनवे राज्यं दत्त्वा, तीर्थङ्करसमीपे चारित्रं गृहीत्वा, क्षपकश्रेणिमारुह्य, केवलज्ञानमुत्पाद्य, पृथ्वीपीठे चिरकालं विहृत्य मोक्षसुखं प्राप्तः" ।

॥ इति रत्नशिखस्य दृष्टान्त ॥

[1]इत्थं *धर्मवसु*गुरुसमीपे पञ्चपरमेष्ठिस्मरणफलविषये *रत्नशिखो*दन्तं श्रुत्वा धर्माराधनरसिको *देवरथकुमारस्य* पिता विमलकीर्तिभूप आत्मजं *देवरथकुमारं* राज्ये निवेश्य समस्तजिन-चैत्येष्वष्टाह्निकमहोत्सवं कृत्वा महता वैराग्येण गुरुपार्श्वे चारित्रं जग्राह ।

अथ *देवरथो* राजा देव इव भृशं रेजे । एकदा कृतज्ञत्वात् स राजाऽचिन्तयत् - 'तुष्टेन धर्मभूपेन ममाऽखिला लक्ष्मीर्दत्ता, ततोऽन्यस्मै सत्पात्राय मयाऽपि दातव्या । इत्यसौ वितरति स्म महीपतिस्ताम् । सम्यक्त्वा-ऽणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतान्वितो *देवरथो*

1. सम्बन्धोऽस्य द्रष्टव्यः पत्रे १६३ ।

नृपो *रत्नावली*महाराज्ञ्या समं त्रिवर्गं संसाधयन् जिनमते रतः प्राज्यं राज्यं चक्रे । अनेके जिनप्रासादाः कारिताः, जिनप्रतिमा अनेका निर्मापिताः, दर्शनविशुद्ध्यर्थं च रथयात्राः कृताः । चतुर्विधसङ्घसमन्वितेन तेन धरणीपेन बह्व्यस्तीर्थयात्राः कृताः, अनेके साधर्मिकाः समुद्धृताः, शासनप्रत्यनीकाश्च वारिताः । सप्त व्यसनानि स्वदेशाद् निष्काशितानि । एवं राज्यं पालयन् क्रमेण रत्नावलीराज्ञीसमुद्भूतं *धवल*नामानं कुमारं राज्ये संस्थाप्य वीर्यान्तरायेण चारित्रं ग्रहीतुमसमर्थः सङ्घपूजनं कुर्वाणः पौषधाऽऽवश्यकाद्यायां क्रियायां निरतोऽभवत् । अन्तसमये *देवरथः* -

तपःशुष्कदेहो मृतो मन्दमोहो,
वरोऽभूत् सुरश्चाऽऽनते देवलोके ।
सुरत्नावली श्राविका चारु मृत्वा,
प्रधानोऽभवन्निर्जरस्तद्विमाने ॥४९॥

सागराण्युषितौ तत्र,सम्पूर्णैकोनविंशतिः ।
दिव्यभोगर्द्धिसंयुक्तौ, सुप्रीतौ सुहृदौ सुरौ ॥५०॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते
श्री पृथ्वीचन्द्र-चरित्रे गद्यबन्धे
रत्नशिखकथान्वितश्रीदेवरथनृपतिश्राद्धधर्मप्रतिपालनो नाम
चतुर्थः सर्गः।

पञ्चमः सर्गः

सिंहसेनः - शिवानगरीनृपः
- (पूर्णचन्द्र-जनकः)
प्रियङ्गुमञ्जरी - सिंहेसन-पत्नी
पूर्णचन्द्रः - सिंहसेन-पुत्र
- (पृथ्वीचन्द्र-जीवः)
विशालः - प्रियङ्गुमञ्जरी-भ्राता
- (पुष्पसुन्दरी-पिता)

जया - विशालस्य पत्नी
पुष्पसुन्दरी - विशालस्य पुत्री
- (गुणसागर-जीवः)
सुदत्ता - पुष्पसुन्दरी-सखी
अशोका - पुष्पसुन्दरी-सखी
प्रियंवदा - पुष्पसुन्दरी-सखी

श्रीसुरसुन्दराचार्येण सिंहसेननृपाय पूर्णचन्द्रकुमाराय च कथितः स्ववृत्तान्तः पृ. २०२-२४०

सुधनः - रत्नपुरश्रेष्ठी लक्ष्मी - सुधन-पत्नी सुरसुन्दरः - सुधनपुत्रः

श्री सुरसुन्दराचार्यान्तर्गतः द्वात्रिंशत्पत्न्यै मुनिना उपदिष्टः

(१) शत्रुञ्जयः - शूरकुमारयोः दृष्टान्तः पृ. २०४-२०६
शत्रुञ्जयः - विजयपुरनृपः शूरचन्द्रौ - शत्रुञ्जयपुत्रौ जयसेनः - रत्नपुरनृपः

(२) धन्यधरणयोः दृष्टान्तः पृ. २०८-२१४
सुदत्तः - श्रेष्ठी, धन्यधरणौ - सुदत्तपुत्रौ

(३) सिद्धदत्त - कपिलयोः दृष्टान्तः पृ. २१५-२२३
प्रथम-भव : मातृदत्त - वसुदत्तौ - वणिजौ
द्वितीय-भवः सिद्धदत्तः (पुरन्दर-श्रेष्ठि-पुत्रः मातृदत्त-जीवः)
पुरन्दश्रेष्ठी - सिद्धदत्त-जनकः कपिलः - वसुदत्त-जीवः

(४) शीलसुन्दर्या दृष्टान्तः पृ. २२५-२२८
वसुपाल-श्रेष्ठी, सुमाला - वसुपाल-पत्नी, सुन्दरी - वसुपाल-पुत्री, सुभद्रः - सुन्दरीशः

(५) गुणाकर-गुणधरयोः दृष्टान्तः पृ. २३०-२३८
प्रथम-भवः - विष्टु - सुविष्टू - वणिजौ
द्वितीय-भवः - गुणाकरः - सुविष्टु-जीवः धनञ्जयः - विष्टु-जीवः

पञ्चमः सर्गः ।

नवम-दशमौ भवौ

सर्वार्थसिद्धिदातारं, त्रातारं सकलाङ्गिनाम् ।
नत्वा शङ्खेश्वरं पार्श्वं, पञ्चमः सर्ग उच्यते ॥१॥

अथाऽस्ति जम्बूद्वीपे महाविदेहे क्षेत्रे *पुष्कल*नाम्नि सप्तमविजये प्रशस्तवस्तुभिः प्रधाना *शिवा*भिधाना नगरी । यत्र निशि चन्द्रकान्तनीरार्द्रं दिनेऽर्काश्माऽनलोज्ज्वलं गृहाङ्गणं वर्षा-निदाघर्तू प्रादुश्चक्रे । तत्र प्रतापतो ध्वस्तरिपुसेनः *सिंहसेनो* नाम महीपतिः । तस्य शस्यगुणान्विता *प्रियङ्गुमञ्जरी*नाम्नी पट्टराज्ञी बभौ ।

अथ *देवरथ*जीवो नवमाद्देवलोकात् च्युत्वा तद्गर्भे पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । स्वप्ने पूर्णं चन्द्रं दृष्ट्वा प्रबुद्धा सा नृपपार्श्वे गत्वा कथयामास । नृपेणोक्तम् - 'हे प्रिये ! चन्द्रतुल्यस्ते तनयो भविष्यति' । तत् श्रुत्वा हृष्टा सा गर्भं पुपोष। प्रशस्तपुण्येन प्रशस्तैर्दोहदैर्युतया तया प्रशस्तसमये सुतः प्रसूतः । ततो नृपेण बहु धनं वितीर्य पुत्रजन्मोत्सवः कृतः, कारागृहशोधनं च कृतम् । द्वादशे दिवसे दृष्टस्वप्नाऽनुसारेण सकलस्वजनसमक्षं नृपेण सुतस्य *पूर्णचन्द्र* इति नाम कृतम् । क्रमेण पञ्चभिर्धात्रीभिर्लाल्यमानः कलाकलापाढ्यः सत्तारुण्याऽर्णवोदितः सुवृत्तः योग्यः *पूर्णचन्द्रः*, परं जडात्मको नेति चित्रम् । कलाभ्यासे व्यसनी स प्रश्नोत्तरादिभिः काव्यैः क्रीडति । गम्भीरः स प्रस्तावपाठतो द्यूतकथया वारवध्वाश्च

वार्त्तया लज्जते । मृगयामद्य-मांसादेर्नामाऽपि न सहते । स सज्जनैः सह संसर्गवान्, खलानां विवर्जकः, देव-गुरु-मातृ-पितॄणां भक्तिकारकः, चन्द्रवत् सौम्यः, सूर्यवत् प्रतापी, राजनीतौ च विद्वान् सुखाम्भोधिनिमग्नः सुखेनास्ते ।

अथ *रत्नावली*जीवोऽपि नवमस्वर्गाच्च्युत्वा तस्मिन्नेव नगरे प्रियङ्गुमञ्जरीदेवीभ्रातु*र्विशाला*ख्यसामन्तस्य *जया*स्त्रियाः कुक्षौ पुत्रीत्वेन समुत्पन्नः । क्रमेण जन्म प्राप्ता । मात्रा स्वप्ने पुष्पमाला-विलोकनात् ***पुष्पसुन्दरी*** इति कृतनामा क्रमेण प्रवर्द्धमाना काम-लीलावनं यौवनं प्राप्ता । तद्यथा -

वक्त्रं चन्द्रविडम्बि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने,
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनां[1] जिष्णुः [2]कचानां चयः[3] ।
[4]वक्षोजाविभकुम्भविभ्रमधरौ गुर्वी नितम्बस्थली,
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ॥२॥

अरोषणा च सरला, मृद्वङ्गी सत्रपा स्थिरा ।
कलासु कुशला बाला, विनीता च विवेकिनी ॥३॥

अथ वसन्ते समागते सा पुष्पसुन्दरी पित्रोरादेशतः सखीवर्गेण समन्विता कामस्थानं पुरोद्यानं गता । तत्र पुष्प-फल-कलिताः सहकारादयो वृक्षा अतीव शोभन्ते । यतः -

विकसितसहकाराः पुष्पिताऽशोक-नागा,
विकसितवनमाला माधवी दिव्यगन्धैः ।

1. भ्रमराणाम् । 2. केशानाम् । 3. समूहः । 4. स्तनौ ।

जनयति मदरागं कोकिलाशब्दितं च,
प्रवरपुरुषसेव्यो वर्त्तते श्रीवसन्तः ॥४॥

तत्र शृङ्गारवाग्भिः सख्योऽस्या वनश्रियं दर्शयन्ति - "हे सखि ! पश्य, [1]स्वमधुपतिं प्राप्य वनराजयो बभुः । पुन्नागेन एषा नागवल्ली शोभते, पुन्नागोऽपि राजतेऽनया । तद्वद् हे सखि ! नर-नारीणामपि शोभा अन्योन्यसापेक्षा भवेत्" । इति सखीगिरा बहिर्वृत्त्या वनश्रियं पश्यन्त्या तया माधवीमण्डपे गत्वा वीणाविनोदः प्रारेभे ।

अस्मिन्नवसरे तत्रैवोद्याने मित्रैः परिवृतः पूर्णचन्द्रकुमारोऽपि रन्तुं समागतो राजपुत्र्या दृष्टिगोचरेऽपतत्। [2]मधोर्मदनमित्रत्वाद्, यौवनस्य वैषम्यात्, कुमारस्य चाऽतिरूपत्वात्, तथा प्राग्भवाभ्यासतो बाणवद् अकुण्ठे कुमारे मनोमर्मणि लग्ने सा *पुष्पसुन्दरी* स्वेदकम्प्राङ्गी मीलिताक्षी विचेतनाऽभूत् । ततः शनैर्वातैस्तथा शीताम्बुना सखीभिः स्वस्थीकृता *पुष्पसुन्दरी* सहचरीमकथयत् - 'हे सखि ! योऽयं लावण्याऽमृतसागरो युवा च दृश्यते स कः ? । मदनो वा दिनेशो[3] वा, सुरोऽथवा विद्याधरः?'। ततः सखीभिरुक्तम् - "हे सखि ! स्मरोऽनङ्गः, अयं तु पूर्णाङ्गः । तपनस्तापदः, अयं तु सौम्यः । सुरोऽक्षिनिमेषशून्यः, अयं तु चञ्चलाक्षो विचक्षणश्च। विद्याधरः खेचरो भवति, अयं तु भूमिगोचरः। तथा च -

सौम्यत्वं शशिनो गभीरिमगुणं वार्धेः प्रतापं रवे-
स्त्याग [4]वित्तपतेः प्रभुत्वममराधीशात्[5] सुरूपं स्मरात् ।

1. स्वकीयं वसन्तस्वामिनं । 2. वसन्तस्य 3. सूर्यः । 4. कुबेरात् ।
5. इन्द्रात् ।

माधुर्यं त्वमृताद् बलं [1]मृगपतेर्लात्या [2]गुरोश्चातुरीं,
धैर्यं मेरुगिरेः किमेष विहितः सन्मेधसा[3] वेधसा[4] ॥५॥

किं बहूक्तेन ? हे सखि ! *सिंहसेन*नृपकुलाऽम्बर-विकाशनचन्द्रस्तव पितृष्वसुः पुत्रः *श्रीपूर्णचन्द्रः* कुमारोऽयम्"। तन्निशम्य सरागया कुमार्योचे - 'सत्यं, सद्गुणवानसौ, एतद् नृरत्नं मुक्त्वा ते सर्वे भावाः कलङ्किताः' । ततोऽ*शोकया* विहस्योक्तम् – 'सत्योऽयं गुणमयः, यदङ्गानि प्रियसख्या कटाक्षैरधुना वीक्षितानि'। 'सखीभिर्ज्ञाताऽहम्' इति सलज्जा *पुष्पसुन्दरी* प्राह- 'हे सख्यः! चिरकालोऽभवत्, क्रीडां त्यक्त्वा द्रुतं गम्यते, यतो माता मन्मार्गमीक्षिष्यते' । ततः *सुदत्तया* प्रोक्तम् - 'हे सखि ! *पूर्णचन्द्र*कुमारोऽयं समीपेऽस्ति, स निमन्त्र्य सूक्तगोष्ठ्या सत्क्रियते, अन्यथा दुर्नयो भावी' । इति निशम्य सलज्जया तया मन्दस्वरेण प्रोक्तम् - 'यथोचितं कार्यम्' । ततः सख्या विनयेन समाहूय स तत्र स्थाने निवेशितः । दृग्भ्यां कुमारिकां वीक्ष्य विरक्तोऽपि कुमारः सरक्तोऽभूत्, यतः *समानवयसोः सद्यः प्रीतिः समुत्पद्यते।* तां वीणायां प्रवीणां वीक्ष्य विद्याविनोदी कुमारोऽवक् 'हे सुन्दरि ! अस्मन्मनोविनोदाय वीणां वादय'। *सुदत्ता* प्राह- 'हे कुमार ! भवत्क्षोभात् सलज्जाऽसौ तत्सारणे न क्षमा, अत एनां भवानेव वादयित्वा नोऽञ्जसा विनोदयतु' । इत्युक्त्वा तयाऽर्पितां वीणां मृदुपाणिना गृहीत्वा सस्नेहं च तां स्पृशन्तं कुमारं वीक्ष्य *अशोका* हसन्त्यवक् -

1. सिंहात् । 2. बृहस्पतेः । 3. सद्बुद्धिमता । 4. विधात्रा ।

सुगुणा सरला शुद्ध-वंशोत्था मधुरस्वरा ।
भात्यसौ प्रवरा वीणा, कुमार ! त्वत्कराऽग्रगा ॥६॥

इत्यन्योक्त्या शिरो धून्वन् भूपभूर्वीणामावाद्य तासां चित्तान्यकम्पयत् । तस्मिन्नवसरे तस्या धात्र्यन्वगात् । 'गोष्ठीयोगः शुभावहः एवं कुमारमभिनन्द्य पुत्रीं प्रति प्रोवाच - 'हे वत्से ! त्वया विना ते जननी भोजनं न करोति'। इति कथयित्वा तां वपुषा गृहे समानयत् । परं तां दुःस्थां सखीभ्यो विज्ञाय तस्या जननी तामाश्वासयितुं तस्या मनोविश्रामभूताः सखीः प्रेषितवती । ताः कुमारीसमीपे गत्वा इत्यवदन् - 'हे प्रियसखि ! चन्द्रस्यै-कयाऽपि कलयाऽन्येषां सुखं स्यात्, तव पुनः *पूर्णचन्द्रा*दपि कथं न ?' । ततः *पुष्पसुन्दर्या* प्रोक्तम् - 'युष्माकमध्यक्षं योगिनेव तेन मम मनो भ्रमितं, ततः कथयतोपायं येन कृत्वा मे निर्वृतिर्भवेत्'। तन्निशम्य प्रियंवदया प्रोक्तम् - ''हे स्वामिनि ! सौख्यदं वृत्तान्तं शृणु । कल्ये *प्रियङ्गुमञ्जर्याः* समीपे त्वत्तातेनेति भाषितम् - '*पूर्णचन्द्र*स्योचिता इयं पुत्री, तथा पुत्र्युचितोऽयं *पूर्णचन्द्रः*, ततो हे स्वसः ! मौलि-मण्योरिवाऽनयोर्योगो रमणीयः । परमेतयो रागस्य विकृतिर्नैव दृश्यते, यतो द्वावपि विवाहस्य वार्त्तामपि न सहेते, विकसद्दन्तं न हसतः, न च तौ केलिकलाप्रियौ, रज्येते नैव शृङ्गारे, नैव च विकथां कुर्वाते । रागं विना विवाहोऽपि हे स्वसः ! खाट्करोति हृदये शल्यवत् । अथवा तुल्यस्वभावयोरेतयोः कदापि प्रेम स्यात्, ततश्चोभौ परीक्षितुं मिथो दर्शनं कार्येते' । इति निशम्य देव्या प्रोक्तम्- 'हे बन्धो ! त्वं नामतो *विशालो* बुद्ध्याऽपि च विशालः, त्वत्कथितमेव कुर्वहे' । ततो हे सखि !

अस्मान् तत्त्वं निवेद्य, अद्य वसन्तश्रीविलोकनच्छलाद् जनन्या जनकेन च युवां सवर्गौ प्रेषितौ । युवयोर्मनोवृत्तिः कलिता, मनोरथाश्च फलिताः । युवयोरुभयोरपि माता-पित्रोर्हृद्भुवि हर्षोऽजनि । युवामपि विवाहार्थमत्युत्सुकौ दृश्येथे" । इति सहचर्याः *प्रियंवदायाः* कथितं निशम्य *पुष्पसुन्दरी* स्वस्थचित्ता सती अतीव जहर्ष । इत्थमेव कुमारस्य पुरतोऽपि तस्य मित्रैः प्रोक्ते सोऽपि मुमुदे । एवं द्वावपि सुस्थितौ विज्ञानप्रेक्षणरतौ दिनानि गमयतः । अथ *विशाल*सामन्तेन प्रशस्ते तिथिवासरे *पूर्णचन्द्रकुमाराय पुष्पसुन्दरी* कनी प्रदत्ता । ततः *सिंहसेन*राज्ञा गीत-नृत्य-सुवादित्र-दान-सन्मानपूर्वकं सादरं विवाहो विहितः । तद् दृष्ट्वा 'सुविवाहः सुविवाहः वरौ सुन्दरौ च वधू-वरौ' इत्युद्घोषणातत्परो निखिलो नगरजनोऽप्यासीत् । इति विवाहमहे जाते स्वप्रियासहितः कुमारः स्वर्विमानसमे सौधे स्फुटं सुखं विलसन् उवास ।

अन्यदा पर्षदासीनः *सिंहसेन*नृपो भक्तिप्रणतभालेन वनपालेन विज्ञप्तः - 'हे देव ! अद्य *पुष्पशालवने* गुणैः सङ्गतः, रूपस्य रूपमिव, लावण्यस्येव निर्मलं लावण्यं, सौन्दर्यस्येव सौन्दर्यं, किमु मूर्तिमयो धर्मो, मुनिवृन्दपुरन्दरः श्रीसुरसुन्दरसूरीन्द्रः समागतोऽस्ति" । इति श्रुत्वा हर्षोत्फुल्लरोमकूपो नृपस्तस्मै महादानं दत्त्वा पुत्र-दारादिपरिवारयुक्तो महताऽऽडम्बरेण गुरोः समीपे गत्वा नत्वा च प्रमोदाद् गिरं श्रोतुं गुरोः पुरः स्थितः । गुरुणाऽपि योग्यतां ज्ञात्वा धर्मदेशना प्रारब्धा । तद्यथा -

"भो भव्याः ! जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक-भयाकुले दुर्गतिभीषणे च भवे पापतोऽनन्तकालं महादुःखं प्राप्ताः, तथापि

किमद्याऽपि न निर्विण्णाः ? यतो धर्मे निरुद्यमास्तिष्ठथ । अधुना यत्नाद् आर्हतं धर्मं कुरुध्वं, मा प्रमाद्यत, यतः प्रमादसमः शत्रुर्नास्ति। उक्तं च -

[1]मज्जं विसय-कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया, जीवं पाडन्ति संसारे ॥७॥

धर्मसन्निभं मित्रं नास्ति । यतः -

धर्मो मङ्गलमुत्तमं नरसुरश्रीभुक्ति-मुक्तिप्रदो,
धर्मः स्निह्यति बन्धुवद् दिशति वा कल्पद्रुवद् वाञ्छितम्।
धर्मः सद्गुणसङ्गमे गुरुरिव स्वामीव राज्यप्रदो,
धर्मः पाति पितेव वत्सलतया मातेव पुष्णाति च ॥८॥

प्रमादस्तु सेवितो दुःखं ददाति, धर्मः सेवितश्चिन्तामणि-कल्पवृक्षवत् सुखं दत्ते । यो गृहे प्रज्वलति सति शेते, अथवा अगाधवारिणि मग्नः शेते, स हि भवावर्ते पतितोऽपि धर्मे प्रमाद्यति। पुनः स्तैनैर्गृहे मुष्यमाणे, अथवाऽरिमण्डले प्रहरति सति यो विश्वस्तः स्वपिति, स हि धर्मे प्रमाद्यति । पुरुषाणामर्था घटिता अपि प्रमादेन विघटन्ते, अर्जितधर्माणां तु चिरं विघटिता अपि घटन्ते । यतः -

[2]तारं किङ्कणिहारनूपुरभरैरन्तःपुरं लभ्यते,
सीत्कारैर्विकटा [3]घटा [4]करटिनां हेषारवाढ्या [5]हयाः ।
एकच्छत्रमिहोत्कटोरुकटकं[6] राज्यं च निष्कण्टकं,

1. मद्यं विषय-कषायौ, निद्रा विकथा च पञ्चमी भणिता ।
एते पञ्च प्रमादा, जीवं पातयन्ति संसारे ॥

2. मनोहारि । 3. समूहः । 4. हस्तिनाम् । 5. अश्वाः । 6. उत्कटविशालसैन्यम्।

यस्मात् [1]सत्रिदिवं [2]शिवं भजत भोस्तं धर्ममत्यादरात्॥९॥

भो भव्याः ! अस्मिन् संसारे मानवानां समस्ता धर्मसामग्री दुर्लभा। प्रथमं मनुष्यत्वं दुर्लभं, ततोऽपि आर्यक्षेत्रं दुर्लभं, ततोऽपि विशुद्धं कुलं दुर्लभं, ततोऽपि विशुद्धा जातिर्दुर्लभा, ततोऽपि दीर्घमायुः सुदुर्लभं, ततोऽपि नीरोगत्वं दुर्लभं, ततोऽप्याचार्यसंयोगो दुर्लभः, ततोऽपि बुद्धिर्दुर्लभा, ततोऽपि तत्त्वश्रद्धानं दुर्लभं, ततोऽपि विरति-र्दुर्लभा, ततो भो जनाः! धर्मोद्यमं कुरुध्वम्" । इति सुधाबिन्दुदेशीयां गुरोर्देशनां श्रुत्वा आचार्यरूपाक्षिप्तचेतस्कः *पूर्णचन्द्रकुमारो* व्यजिज्ञपत् - 'हे भगवन् ! भवतां साम्राज्यसूचिका अथवा महेभ्यत्वसूचिका देहकान्तिर्वर्त्तते, तथापि यौवनेऽपि व्रतकष्टदं किं वैराग्यकारणम् ?' । गुरुराह - 'भोः कुमार ! त्वं पदे पदे वैराग्यकारणानि पश्यन्नपि किं पुनस्तानि पृच्छसि ? । यतः -

भुञ्जीरन् राज्यलक्ष्मीं कति कति सुखिनः केऽपि सर्वर्द्धियुक्ताः,
सेवां कुर्वन्ति तेषां सततपरवशा रज्जुबद्धा इवाऽन्ये ।
केचित् कल्पद्रुकल्पास्त्रिजगदभिमताः स्योदराऽपूरिणोऽन्ये,
केचित् सौभाग्यभाजो वरयुवतिवृताः केऽपि दौर्भाग्यदग्धाः ॥१०॥

यस्मिन् जन्म-जरा-विपत्ति-मरणा-ऽऽधि-व्याधि-शोकाः सदा,
स्वेष्टा-ऽनिष्ट-वियोग-योगसहनं रोधश्च कारागृहे।
तिर्यग्-नारकसम्भवानि च भवे दुःखान्यसङ्ख्यानि चेत्,
श्रूयन्ते विषये मनो न कुरुते कश्चित्तदेकं क्षणम् ॥११॥

1. स्वर्गसहितम् । 2. मोक्षः ।

तथापि हे कुमार ! मे विशेषेण वैराग्यकारणं शृणु" । इति सूरिणा प्रोक्ते कुमारः सभ्याश्च सोत्कण्ठा जज्ञिरे। ततः पुनर्मुनिपतिना प्रोक्तम् -

।। श्री सुरसुन्दराचार्यस्य कथानकम् ।।

"अत्रैव विजये *रत्नपुरं* नाम पुरं वर्त्तते । तत्र यथार्थनामा *सुधनः* श्रेष्ठी । लक्ष्मीवत् सुलक्षणा तस्य *लक्ष्मी*नाम्नी सहचरी । तयोः *सुरसुन्दरः* सुतः । सोऽहं प्राप्तयौवनः पित्रा प्रमोदेन द्वात्रिंशत्कन्या विवाहितः । *जातस्य नियमान्मरणम्* इति कालान्तरेऽन्यदा पितरौ कालधर्मं प्राप्तौ । तद्दुःखाऽनलतप्तोऽप्यहं संसारव्यवहारतो गृहव्यापारचिन्तायां तदैव निरतोऽभवम् । यतः-

प्रियस्य विरहे कोऽपि, प्रव्रजेत् म्रियते न च ।
शुष्यत्येवाऽस्य हृदयं, प्रत्यहं पङ्कपिण्डवत् ॥१२॥

एवमत्यन्तरागवानपि कियता कालेन निःशोको जातोऽहम्। भार्याणां व्यभिचारशङ्कया ईर्ष्यालुः सन्नहं प्रयत्नतो निजजाया रक्षामि । तासां पितृगृहादावपि गमनं मया निवारितं, गृहे स्वजनस्याऽपि पुंसः प्रवेशो न्यवारि । किं बहुना? मया कार्ये समागतेऽपि प्रतोल्यां तालकं दत्त्वा गम्यते । यत्र कुत्रापि गच्छामि, तत्राऽपि दुर्विकल्पबहुत्वतश्चिरं न तिष्ठामि । भिक्षुभिर्मम गृहं त्यक्तं, जैनसाधुभिः पुनर्विशेषेण मम गृहं त्यक्तम् । एकदाऽहम् अपिहितद्वार उत्सुकःचतुष्पथे गतः । अथ दैवयोगात् प्राप्तो गृहमागन्तुको मुनिः । 'अहो ! अङ्कुरितोऽयम् अस्मत्पुण्यद्रुः' इति हर्षतो मम भार्याभिः स मुनिर्नत्वा आसनं परिग्रहीतुं विज्ञप्तः।

मुनिस्तु 'अकल्प्यम् इति जानन्नपि भाविलाभवित् तदानीतासने स्थित्वा धर्मं वक्तुं प्रवृत्तः । तस्मिन्नवसरे अहमपि समुत्सुको द्वारे समागतः । रूपवन्तं स्त्रीभिरावृतं च मुनिं दृष्ट्वा प्रच्छन्नं स्थितोऽहं विकल्पसर्पेण ग्रस्तो, रोषरक्षसा गृहीतो, दुर्बुद्धिशाकिन्या च पीडित इति चिन्तयितुं लग्नः- "अहो! अयं कुश्रमणो धृष्टो मम स्त्रीणां मध्ये रहःस्थितः, ततोऽस्य अष्टस्वपि अङ्गेषु पञ्च पञ्च लकुटप्रहारान् दास्ये यथा मम कोपः सफलो भवेत् । परं शृणोमि तावद्, मम भार्याभिः सार्द्धं किं मन्त्रयत्यसौ ?"। एवं विचार्य मयि व्यवहिते साधुः स्त्रीणां पुरो धर्ममभ्यधात् -

"भो भो धर्मशीलाः ! यूयं यत्नतः शृणुत । जिनैः सर्वेषामपि धर्माणां मूलं दया प्रोक्ता, ततस्तस्यामेव विचक्षणैर्यतनीयम् । त्रिषष्टिस्त्रिशती चेति पाखण्डिनां भेदाः सन्ति, परं ते दयाधर्मं नैव दूषयन्ति । ततो *यत्र दया तत्र धर्मः* । यत्र दयाऽऽराध्यते तद्दानं, तत्तपः, तद् ध्यानं, क्रियापि सा, पूजापि च सा सफला; तया विना सर्वं व्यर्थं भवति । दयातश्चिरायुः स्यात् । सम्पद्, आरोग्यं, सौभाग्यं, भोगसङ्गमः, कीर्तिः, स्फूर्तिः, धृतिर्मतिश्च, इमानि दयाकल्पवल्ल्याः फलानि स्मृतानि । यतः -

दया स्वर्गस्य सोपानं, दया मोक्षस्य वर्त्तिनी ।
दया च दुर्गतिद्वारे, पिधानं विधिना कृतम् ॥१३॥

जन्तूनां पुनर्हिंसा कटुकफलदा बुधैः कथिता, यतः सर्वेऽनर्था विपत्सम्पादने समर्थाः स्युः । हिंसकाः प्राणिनो गर्भस्था जातमात्रा बाला यौवनशालिनश्च म्रियन्ते । भोगिनोऽपि स्वल्पजीविनः स्युः। पुनर्जीवघातका मूका-ऽन्ध-बधिर-पङ्गु-कुब्ज-कुष्ठि-जडा रोग-

शोक-भयभ्रान्ताः क्षुधार्त्ता दुर्भगा दुःस्वराश्च भवन्ति । ये हिंसातो न निवृत्तास्ते दुःखभाजनं जायन्ते । ये च हिंसां परिहरन्ति, ते सुखिनः स्युः । हिंसातो ये न निवृत्तास्ते निजं जनकमपि मारयन्ति, ते च 卐प्रेत्य नरके प्रयान्ति, "शत्रुञ्जयनृपति-शूरकुमारवत्" । ततस्ताभिः प्रोक्तम् - 'हे भगवन् ! कौ तौ शत्रुञ्जय-शूरौ पिता-पुत्रौ ?' । ततो मुनिना प्रोक्तम् -

॥शत्रुञ्जय-शूरकुमारयोः कथानकम्॥

"अत्रैव विजये *विजयपुरं* नाम नगरम् । तत्र *शत्रुञ्जय*नामा नृपोऽभूत् । तस्य द्वौ तनयौ, *शूरश्चन्द्रश्च* । ज्येष्ठ-पुत्राय नृपेण यौवराज्यपदं दत्तं, *चन्द्रकुमाराय* तु किमपि न । ततोऽसौ मानधनत्वाद्देशान्तरे गतः । स कौतुकाकुलां पृथ्वीं विलोकयन् क्रमेण *रत्नपुरं* नगरं प्राप्तः, दृष्टश्च तत्र *सुदर्शना*भिधानो मुनिः । कुमारेण स प्रबलहर्षेण नमस्कृतः, ततस्तत्पुरत उपविष्टः । मुनिनाऽपि 'योग्योऽयम्' इति ज्ञात्वा कृता धर्मदेशना । यथा -

[1]कल्लाणकोडिजणणी, दुरंतदुरिआरियग्गनिट्ठवणी ।
संसारजलहितरणी, इक्का चिय होइ जीवदया ॥१४॥

विउलं[2] रज्जं रोगेहि, वज्जियं रूयमाउअं दीहं ।
अन्नंपि जं च सुक्खं, जीवदयाओ हवइ सेसं ॥१५॥

1. कल्याणकोटिजननी, दुरन्तदुरिताऽरिवर्गनिष्ठापनी ।
संसारजलधितरणी, एकैव भवति जीवदया ॥
2. विपुलं राज्यं रोगैः, वर्जितं रूपमायुर्दीर्घम् ।
अन्यदपि यच्च सौख्यं, जीवदयाया भवति शेषम् ॥ 卐 परलोके (अव्यय)

हे कुमार ! कृपानदीमहातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः ।
तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ? ॥१६॥

इत्यादिदेशनां श्रुत्वा प्रबुद्धश्चन्द्र*कुमारः* 'सङ्ग्रामादिकार्यं विना मया स्थूलप्राणातिपातादिकं न कार्यम्' इति गुरुपार्श्वे नियमं प्रपन्नवान् । तस्मिन्नेव नगरे *जयसेन*नृपस्य सेवां कुर्वन् तस्य विश्वासभागभूत् । अन्यदा नृपेणोक्तम्- '*कुम्भ*नामा सामन्तः प्रचण्डोऽस्ति, अतस्तत्र गत्वा छद्मवृत्त्या घातेन तं मारय' । *चन्द्रेणोक्तम्* – 'मया मुनिपार्श्वे नियमो गृहीतोऽस्ति प्रच्छन्नघातस्य'। ततो भृशं रञ्जितेन नृपेण स्वस्याऽङ्गरक्षकः कृतः, पुत्रत्वेन प्रतिपन्नः, सामन्तकन्याः परिणायितः, सर्वकार्येषु नियुक्तश्च । अथाऽन्यदा ससैन्य*श्चन्द्रकुमारः कुम्भ*सामन्तं सङ्ग्रामे विजित्य दुर्गभङ्गं कृत्वा *कुम्भं* च बद्ध्वा राज्ञः समार्पयत् । प्रपन्नाज्ञोऽसौ नृपेण सन्मानपूर्वकं मुक्तः *चन्द्रकुमारोऽपि* चारुचन्द्रनिस्तन्द्रसद्यशाः शुशुभे।

अथ *शूरकुमारो* युवराजपदेनाऽप्यसन्तुष्टः पितृवधोद्यतो यामिकान् वञ्चयित्वा प्रासादे प्रविश्य कर्कशैर्घातैः पितरं ताडयित्वा नश्यन् देव्या बुम्बारवे कृतेऽङ्गरक्षकैर्बद्धः निर्णेतुं च निशि रक्षितः। प्रातः *शूरकुमारं* ज्ञात्वा भटै राज्ञे कथितम् । तेनाऽपि पुत्रमारणा-ऽपवादभयात् सर्वं गृहसारं लात्वा पुरान्निष्काशितः । अथ *चन्द्रकुमारं* शोधयितुं मन्त्रीश्वराः प्रवृत्ताः, ततश्चरेभ्यो ज्ञातवृत्तैर्महामात्यै राज्ञादिष्टैः सलेखा विश्वस्ताः करभीस्थिताः पुरुषा *रत्नपुरे* प्रेषिताः । ते तत्र गत्वा *चन्द्रकुमाराय* लेखं समर्पयामासुः । *चन्द्रोऽपि* लेखार्थं विज्ञाय,

*जयसेन*नृपं च विज्ञप्य तुरगैर्द्रुतमायातः, भूभुजाऽपि राज्ये न्यस्तः। स च साधुकारैः सामन्तादिकैश्च नत्वा मानितः ।

अथ *शत्रुञ्जयो* राजा घातवेदनार्तः *शूरे* समत्सरः कियद्दिनैर्मृत्वा क्वचिद् वने द्वीपी जातः । *शूरो*ऽपि पितृपाप-कलङ्कितः प्रनष्टपौरुषः कुकर्माऽऽजीविकाकारी दैवात्तत्र वने गतो जनकद्वीपिना दृष्टः । तदा नश्यन्नसौ *शूरः* पूर्ववैरेण द्वीपिना हतः। स मृत्वा तत्रैवाऽटव्यां शबरदारको जातः । सोऽन्यदा मृगयार्थं वने गतस्तेनैव द्वीपिना हतः । द्वीप्यपि शेषकिरातैर्हतः । तौ द्वावपि मृत्वा महाटव्यां कलभ-वराहौ जातौ । पूर्ववैरतः क्रोधान्धौ परस्परं युध्यमानौ केनचिद् व्याधेन हतौ । मृत्वा विन्ध्याचलाटव्यां कलभौ समुत्पन्नौ । यूथभ्रष्टौ प्राग्वद् युद्धं कर्तुं विलग्नौ, भिल्लैश्च दृष्टौ, पाशे पातयित्वा गृहीतौ, तैश्च परम्परया *चन्द्र*भूपस्य समर्पितौ। तत्राऽपि मिथो युध्यमानौ दृष्ट्वा राज्ञा कष्टात् पृथक्कृतौ । अस्मिन्नवसरे तत्र केवली भगवान् समवसृतः । सपौरो नृपो वन्दनार्थं गतः, देशना च श्रुता । अवसरं प्राप्य भूपेन चित्राद् गजोदन्तः पृष्टः। तदा केवलिमुखात् सर्वं व्यतिकरं श्रुत्वा जात-वैराग्यो नरपतिः पुत्रे राज्यं नियोज्य केवलिपार्श्वे चारित्रं जग्राह। स शुद्धं चारित्रं प्रपाल्य स्वर्गं जगाम । तौ तु नित्यं समत्सरौ मृत्वा प्रथमनरके नारकौ जातौ । तत्र परमाधार्मिककृताः क्षेत्रजा अन्योन्यजाश्च वेदनाश्चिरमनुभूय तत उद्धृत्य भूयः कुयोनिषु भ्रमिष्यतः । ततो भोः श्राविकाः ! हिंसातो दोषान् दयातश्च गुणान् ज्ञात्वा हिंसा त्याज्या" ।

॥इति शत्रुञ्जयशूरकुमारयोः दृष्टान्तः॥

ततस्ताभिः संविग्नाभिः प्रथममणुव्रतमङ्गीकृतम् । ततो हे कुमार ! मयैवं ध्यातम् । यथा 'मुनिना सुन्दरं कृतम्। यतोऽमूः कुपिता अपि साम्प्रतं मे वैरूप्यं न कर्त्तारः, ततोऽस्य मुनेश्चतुरश्चतुरो घातान् दास्ये' ।

अथ पुनर्मुनिराख्यत् - "भोः श्राविकाः ! त्रिवर्गसुखकृत् स्वर्ग-मोक्षदा च सत्या वाणी वाच्या । यतः *सत्यवादी सर्वस्य प्रियः प्रत्ययभाजनं च स्यात् ।* देव-दानवा अपि तस्याज्ञां कुर्वते, तर्हि मानवास्तु के ? । सत्यवादिनां जलाऽनलादीनि दिव्यान्यपि नाऽपकुर्वन्ति, जनाश्च तेषां निर्मलं यशो वितन्वन्ति । भोः श्राद्ध्यः! अनृतवादिनो नरा जगति जुगुप्सनीयाः स्युः । ते पितृ-भ्रातृ-सुमित्राणां कदापि न विश्वासपदं यान्ति । पुनरलीकभाषिणो जीवाः कुथितमुखा अनादेयवचना मूका मन्मना दुःस्वराश्च भवन्ति। असत्यं जल्पन् जनो लोलाच्छेदादि दुःखमाप्नोति । अनृतवादिनः खलाः सर्पसमाना भवन्ति । यतः -

कुटिला भीषणाश्छिद्रा-ऽन्वेषिणो दशनप्रियाः,
द्विजिह्वा मारयन्त्यन्यान्, पयःपानेन पालिताः ॥१७॥

ततो भो विवेकिन्यः ! क्रोधेन लोभेन भयेन हास्येन चाऽप्यलीकं वचनं न वाच्यम् । यतः -

असत्यमप्रत्ययमूलकारणं, कुवासनासद्म समृद्धिवारणम् ।
विपन्निदानं परवञ्चनोर्जितं, कृतापराधं कृतिभिर्विवर्जितम् ॥१८॥

"सत्यवचनस्य वक्ता सरलः प्राणी *धन्य*वत् केनापि न वञ्च्यते, ततोऽपरस्तु *धरण*वद् आत्मनैवाऽऽत्मानं वञ्चयति" ।

ततस्ताभिः प्रोक्तम् - 'हे भगवन् ! कौ तौ *धन्य-धरणौ* पुरुषौ ?'। इति ताभिः पृष्टो मुनिर्जगौ -

।।धन्य-धरणयोः कथानकम्।।

"इहैव विजये *सुनन्द*नाम्नि नगरे *सुदत्त*श्रेष्ठिनो द्वौ पुत्रौ। प्रथमो *धन्यः*, द्वितीयो *धरणा*भिधः । *धन्य*स्तु सज्जनः सौम्यः सत्यवादी प्रियंवदश्च, परो *धरणो* विपरीतः । परं तयोः शुद्धा-ऽशुद्धयोरपि घनः स्नेहो वर्तते । एकदा *धरणेन* चिन्तितम् - '*धन्ये* जीवति मे मानो न स्यात्' । इति विचिन्त्य मायया *धरणेन* स एकान्ते इति प्रोक्तः - 'भो भ्रात*र्धन्य*! प्राणप्रियस्य मे एकं मनोरथं त्वं पूरय, यद् आवाभ्यां दूरदेशान्तरे गत्वा स्वभुजाभ्यां धनमुपार्जनीयम् । धनं विना लोके मानो न भवेत् । यतः -

जीयन्तो मृतकाः पञ्च, श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः, प्रवासी नित्यसेवकः ।।१९।।

वरं वनं व्याघ्र-गजेन्द्रसेवितं, द्रुमालयः पत्र-फलैश्च भोजनम्।
तृणैश्च शय्या वसनं च वल्कलं, न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ।।२०।।

ततो हे बन्धो ! धनमर्जयावः । धनमूलमिदं जगत् । मृतस्य निर्धनस्य च नाऽहमन्तरं जानामि । मृतकं यथा कोऽपि न विलोकते तथा निर्द्रव्यमपि न विलोकते । यतः -

निर्द्रव्यो ह्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो,
निस्तेजाः परिभूयते परिभयान्निर्वेदमागच्छति।
निर्विण्णः शुचमेति शोकसहितो बुद्धेः परिभ्रश्यते,

निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥२१॥

एतन्निशम्य *धन्ये*नोक्तम् - 'हे बन्धो ! धनं विना कथं धनोपार्जनं क्रियते ? । इत्युक्ते *धरणः* प्रोवाच - 'हे भ्रातः! कर्णत्रोटन-ग्रन्थिच्छोटन-खात्रदान-बन्दिग्रहण-चौरमिलनमोष-ग्रहणादिप्रकारेण घनं धनं समुपार्जयावः' । तदा ससम्भ्रमं *धन्यो*-ऽभ्यधात् - "आः पाप ! त्वया किमुक्तम् ? परवञ्चनं महापापम्। तच्चिन्तितं श्रुतं कथितमपि च पापकृत् सन्तापकृच्च भवेत् । ततो देव-गुरूणां स्मरणेन प्रतिघातयैनत्पापम्" । 'नाऽयं मे प्रत्ययं करिष्यति' इति ध्यात्वा *धरणः* पापमपलपन् प्रोवाच - 'हे भ्रातः ! नाऽकृत्यतो धनं प्राप्यते, मया तु त्वच्चित्तपरीक्षार्थ-मेवमुक्तम् । परदेशं गत्वा कञ्चित्सधनमाराध्य ततो [1]नीवीं लात्वा बहु धनं समुपार्जयावः' । इत्यादिवचसाऽमुना *धन्य*स्तथा प्रत्यायितो यथा तत् प्रतिपन्नवान् । ततः पित्रोरनुक्त्वा तौ रहः पुरात् प्रचलितौ। मार्गे गच्छता लघुभ्रात्रा चिन्तितम्- 'वृद्धः कदाचिद् गृहे वलित्वा यास्यति तदा न शोभनं भविष्यति' । इति ध्यात्वा लब्धोपायेन तेन कनीयसा भ्रात्राऽन्येद्युर्वृद्धाय प्रोक्तम् - 'हे बान्धव ! जनो धर्मेण नन्दति किं वा पापेन ?' । *धन्यो*ऽवक् - 'हे वत्स ! "*धर्मेण जयः पापेन च क्षय*" इति सुप्रतीतमाबालगोपालम्, इदमङ्गीकरो-म्यहम्'। ततो *धरणेन* प्रोक्तम् - 'जगद्वाचोक्तं त्वं कथयसि, परं त्वं तत्त्वं स्वयं न वेत्सि । जयो हि साम्प्रतं पापाद् दृश्यते, न च धर्मतः' । एवं वादे प्रवर्त्तमाने लघुभ्राता *धरणो* जजल्प - 'अग्रेतने ग्रामे गत्वा निर्णयं कुर्वः, परं यो मिथ्यावादी तेनैकं लोचनं हार्यम्'।

1. नीयते-वृद्ध्यर्थं प्रयुज्यतेऽसौ नीवी, लाभकारणं मूलद्रव्यम् ।

ततो *धन्येन* चिन्तितम् - 'मम पक्षः सत्य एव, तथापि नाऽस्य चक्षुर्हर्तास्मि' । इति ध्यात्वोक्तं *धन्येन* - 'भवत्वेवम्' । ततो ग्रामे गत्वा ताभ्यां पृष्टा जनाः । ते हि निर्विवेकाः पशुप्राया ग्राम्या जगुः- 'जयः पापाद् दृश्यते, न च धर्मतः' । इति श्रुत्वा हृष्टोऽनुजः। द्वितीयेऽह्नि द्वितीयचक्षुःपणं कृत्वा मार्गे विवदमानौ ग्रामे गतौ । पृष्टा ग्राम्याः । तेऽपि प्रोचुः - "धर्मिणः सीदन्ति, पापिनो विलसन्ति। प्राज्ञो न चिरं नन्दति, मूर्खः सुखं जीवति । सज्जनः सीदति, दुर्जनो लीलां करोति । त्यागी निर्धनः कृपणो धनवान् । ततो ज्ञायते पापाज्जयो, न च धर्मतः" । तन्निशम्य लघुर्भ्राता भृशं जहर्ष । उवाच च- 'देहि नेत्रे, पणो वा नाऽकारीति कथय' । तन्निशम्य सत्यवाग् *धन्यः* कथयामास - 'हे भ्रातः ! मया पणोऽकारि, नेत्रे हारिते त्वदधीने, यथा ते रोचते तथैव सम्प्रति कुरु' । ततस्तेन पापिना तादृग्दुस्तरुदुग्धपूरणात् तन्नेत्रे विनाशिते। पश्चान्मायया विलपन् कथयामास- "अहो ! मे मूढत्वम्, अहो ! मेऽविवेकिता, अहो ! साहसिकता, हास्येन कृतं कार्यं महते शोकाय सञ्जातम् । धिग् माम्, अद्रष्टव्यमुखोऽहम् । सहसा कृतं कार्यं महतेऽनर्थाय भवति । यतः -

सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥२२॥

हे बन्धो ! तव महाननर्थो मया मुग्धभावेन कृतः । अथ किं कुर्वे ? क्व पूत्करोमि । कथं वा स्वजनान् मुखं दर्शयिष्ये?"। इत्यादि मायया विलपन् *धन्येन* प्रेम्णा तस्य बाललीलां मत्वा

आश्वासितः । उक्तं च - 'हे बन्धो ! खेदं मा कुरु, न तवाऽस्ति दोषः । सर्वे जीवाः कर्मवशगाः, ततः खेदं मा कुरु' । ततो मार्गे एवं व्याहरन्तौ तौ कियन्तं पन्थानं गतौ । तावता *धरणेन* प्रोक्तम्- 'सिंहो हन्तुं समागच्छति, हा ! किं भविष्यति ?' । ततः सस्नेहं *धन्येन* प्रोक्तम् - 'वत्स ! शीघ्रं गृहं गच्छ, कुलं च रक्ष' । इति कथयित्वा तं गृहे प्रैषीत् । ततो *धरण*स्तं त्यक्त्वा हृष्टः सन् दुष्टभुजङ्ग इव निकृष्टचरित्रैरात्मानं कृतकृत्यं मन्यमानो गृहं गतः ।

अथ *धन्य* इतस्ततः परिबम्भ्रम्यमाणः सायं महत एकस्य तरोस्तले जगाम । 'कथं मद्बन्धुरेकाकी भावी ?' इति विलपत-स्तस्य वनदेवतया प्रौढानुभावतां ज्ञानेन ज्ञात्वा दययाऽवादि- 'भो *धन्य* ! तस्य दुर्जनशेखरस्य द्रोहिणश्चिन्तयाऽलम् । हे वत्स! नेत्ररोगविनाशिनीं गुटिकां गृहाण' । इत्युक्त्वा तां करे दत्त्वा देवी स्वस्थानं गता । ततोऽनेन गुटिकाञ्जनं कृतम्, तदैव स दिव्यनेत्रो जातः । सुरीभक्तः स प्रभाते मार्गे गच्छन् क्रमेण *सुभद्राख्ये* पुरे गतः।

इतश्च दृग्रुजार्त्ताया राजसुताया वैद्यकृते पटहोऽत्र भ्रमति। अनेनाऽपीत्युदघोषणा श्रुता -

सज्जीकरोति यो धन्यः, कन्यां दृग्वेदनार्दिताम् ।
तस्मै राजा ददात्येव, राज्यार्द्धकलितामिमाम् ॥२३॥

तदा स पटहं स्पृष्ट्वा पूर्वोपायात् कन्यामसज्जयत् । ततो राज्ञा तां विवाह्य राज्यार्द्धं च दत्त्वा स्वसन्निभः कृतः ।

अन्यदाऽसौ *धन्यो* राजसौधाद् निवृत्तः केनचिद् विप्रेण उपलक्ष्य स्वस्तिकारं कृत्वा मार्गे प्रार्थितः - '*सुनन्द*पुरादागताय नव्यविप्राय मे धौतिके दक्षिणायां देहि' । इति श्रुत्वा *धन्येना*ऽसौ स्वगृहे समानीतः, पित्रोश्च कुशलं पृष्टः । सोऽवक् - 'तव सिंहसङ्-गमं श्रुत्वा तौ भृशं दुःखितौ जातौ, धरणः *सुखी* विरुक् चाऽस्ति'। तत् श्रुत्वा तुष्टेन *धन्येन* मोदकान् सम्भोज्य, वरवाससी च दत्त्वा, स्वनामाङ्कितां मुद्रां समर्प्य स्वलेखयुगसौ विसृष्टः । सोऽपि *सुनन्द*पुरे गत्वा तस्य पित्रोरग्रे वीक्षितोदन्ते निवेद्य वस्त्रे मुद्रां च दर्शयन् लेखं दत्तवान् । *सुदत्त*श्रेष्ठिनाऽप्यसौ भृशं सत्कृतः । प्रौढं वर्द्धापनं कृतम्, अखिलः स्वजनो मुमुदे ।

अथ *धरणेन* चिन्तितम् - "कथमसौ श्वापदाकुलामट-वीमुत्तीर्णः ? कथं च प्रौढां राज्यलक्ष्मीं प्राप्तः ? । यद्यसौ अत्रागमिष्यति तदा मे खलु प्रतिकूलकरो भविष्यति । ततोऽहमेव तत्र तूर्णं गत्वा तथा कश्चिदुपायं करोमि यथाऽसौ द्रुतमेव नाशं प्राप्नोति" । इति विचिन्त्य 'द्रष्टुमुत्सुकोऽस्मि भ्रातरम्' इति पित्रोः कथयित्वा *धरणः सुभद्र*नगरे गतः। *धन्यो* भ्रातरं दृष्ट्वा हृदि परमं हर्षं प्राप्तः । *धरणो* दूनो हृदि दध्यौ - 'धर्माद् जय इत्यमुया श्रिया सत्यापितं, किन्त्वहं केनाऽपि प्रकारेण परावर्त्तनं करोमि, स्वमनोरथांश्च पूरयामि' । इति चिन्तयन् *धन्येन* प्रभुत्वं प्राप्यमाणोऽपि, लाल्यमानोऽप्यङ्गभोगकैः, *धन्यस्य* सोदर इति भूभुजाऽपि मान्यमानः, प्रेष्यैरपि पूज्यमानः, परं कृतघ्नत्वेन लज्जारहितत्वेन च सोऽन्यदाऽवसरं प्राप्य रहो भूपं विज्ञपयामास- 'हे स्वामिन् ! यूयं सहस्राक्षा अपि *धन्येन* कथं वञ्चिताः ?' ।

राज्ञा प्रोक्तम् - 'किमिदम् ?' । सोऽवक् - 'यदि मां नोद्घाटयत तदा वदामि, अन्यथा अस्माद्दानवाद् भयं प्राप्नोम्यहम्'। तेनेति कथिते राज्ञा प्रोक्तम् - 'त्वं निश्चिन्तो भव' । तदा स प्राह - "हे प्रभो ! अस्मत्पुरे मातङ्गोऽयं, परम् अनाचाराद्राज्ञा निर्विषयीकृतः[1]। भृतकैर्धार्यमाणोऽहं सदा विवशस्तिष्ठामि, ततो हे राजन् ! इति मां मोचय, यथा स्वविशुद्धये तीर्थे यामि, प्रभुणा तु युक्तमाचर्यम्"। नृपस्तु तस्य वचनं श्रुत्वा सत्यवज्जानन् कोपात् तमाह -'भो भद्र! धूर्तो धृष्टो दुष्टोऽलं घुर्घुरायते, परं त्वया कस्याऽप्यग्रे एतद् गुह्यं न वाच्यम्, अहं तथा यतिष्ये यथाऽस्य स्थाने त्वं भविष्यसि'। तच्छ्रुत्वाऽगान्मुदितो *धरणः* स्वस्थानम् । अथ सन्ध्यासमये राज्ञा चण्डालाः प्रच्छन्नमाकार्य प्रोक्ताः- 'प्रातर्वर्चोगृहे गच्छन् *धन्यो* मदाज्ञया मारणीयः' । तेऽपि राज्ञोक्तं प्रमाणीकृत्य तद्वर्चोगृहं वेष्टयित्वा तस्थुः प्रच्छन्नाः । अथाऽऽस्थानगमनवेलायां *धन्यस्या*-ऽकस्मात् शिरोऽर्त्तिर्जाता । ततो *धन्येन् धरणाय* प्रोक्तम्- 'भ्रातः! मद्वेषं परिधाय राजपर्षदि गच्छ' । स हि प्रभाते *धन्य*वेषभृत् शरीरचिन्तया वर्चोगेहे गच्छन् तैर्हतः । हाहारवो जातः । वारिधारिणा पूत्कृतेऽपि न केनापि श्रुतम् । अथ तस्यौर्ध्वदेहिके कृतेऽपि धन्यो भ्रातृस्नेहेन भोजनं नाऽकरोत् । तच्छ्रुत्वा राजा चिन्तितवान्- 'अहो ! *धन्यः* सरलः, परः कुटिलः । तेन दुष्टेन स्वात्मवधायैव *धन्य*स्योपरि चेष्टितम् । *धन्य*स्तु महान् पुरुषः' । इति निश्चित्य तत्राऽऽगत्य संसाराऽनित्यतादिना प्रबोध्य तस्य दुश्चेष्टां च कथयित्वा *धन्य*मभोजयत् । 'भ्रातुरीदृग् द्वेषः कथम् ?' इति नित्यं वितर्कयन् *धन्यः* कियत्कालं स्थितः । अस्मिन्नवसरे

1. देशाद् निष्काशितः ।

*विजय*केवली समवसृतः । राजाद्या वन्दितुं गताः, धर्मदेशना च श्रुता । अवसरं प्राप्य *धन्येन* केवली पृष्टः - 'हे भगवन् ! मम भ्राता निष्कारणं ममोपरि द्वेषं कृतवान् तस्य किं कारणम् ?, मृत्वा चाऽसौ क्व गतः ? इति मां कथयन्तु पूज्याः' । ततः केवलज्ञानिना भगवता प्रोक्तम् - "भो *धन्य* ! त्वं नामतोऽर्थतश्च *धन्यः* सत्यवाग् जनमान्यश्च, परः पुनर्विपरीतः, तेनाऽसौ प्राग्भव-वैरादेव अभूत्त्वयि द्वेषी । स च इतो मृत्वा मातङ्गपुत्री जाता, यौवनं प्राप्ता चण्डालाय दत्ता । सा मातङ्गी भुजङ्गेन हता, अधुना अस्मिन्नेव नगरे रजकस्य पुत्री कुरूपा, कुथिताऽऽनना, दुर्गन्धा, दुःस्वरा, मूका, बधिरा, पामार्दिता च वर्त्तते" । इति केवलिकथितं श्रुत्वा सर्वा सभा चमत्कृता । *धन्यो* वैराग्यं प्राप्तः स्वपदे पुत्रं न्यस्य केवलिपार्श्वे चारित्रं गृहीत्वाऽन्ते देवलोकं गतः। पारम्पर्येण स मोक्षं यास्यति । धरणस्तु दुःखमेदुरो भवाटव्यां भ्रमिष्यति । ततो भो धर्मशीलाः ! सत्यमिथ्योत्था गुण-दोषा इतीरिताः" ।

।।इति श्री धन्य-धरणयोः कथानकम्।।

इति मुनिकथितं धर्मं निशम्य ताभिरलीकस्य निवृत्तिर्मुदा जगृहे । *सुरसुन्दर*सूरिणा प्रोक्तम् - "भोः कुमार ! ततो मया चिन्तितम् - 'इदं सुन्दरं जातं यद् मामिमाः कदापि न वञ्चयिष्यन्ति। ततोऽस्य मुनेर्देहे त्रीन् त्रीन् प्रहारान् प्रत्यङ्गं दास्ये, द्वौ च मया वर्जितौ' । इति ध्यात्वा निश्चलोऽहं श्रोतुमुत्कण्ठितः स्थितः ।

पुनराह मुनिः - "भो भो धर्मशीलाः ! अदत्तं धर्मज्ञैर्नैव

ग्राह्यं, यतो वीतरागेण भगवता इदं पापमूलं वर्णितम्। यथा कश्चिद् जीवान् घ्नन् पीडामुत्पादयति, तथा द्रव्यापहारकोऽपि महापीडाकरः स्यात्, तस्मात्परस्वहरणं प्रयत्नेन परिहार्यम् । चौर्यतः पाद-करादीनां छेदः स्याद् भङ्गो वा । शूलिकादिषु वधं बन्ध-निरोधादींश्च लभन्ते प्राणिनः । परभवे पुनर्दासा दरिद्राः प्रेष्या वाहनादिरूपाश्च जायन्ते। परद्रव्यं हरन्तो जीवाश्चिरं नरके पचन्ति । भोः श्राद्धयः ! परद्रव्यपराङ्मुखाः प्राणिनस्तु लोके विश्वासपदं लभन्ते, सुखं कीर्त्तिं च प्राप्नुवन्तीह जन्मनि, धनहानिश्च न जायते, समीहितं सिध्यत्येव। परलोकेऽप्यखिलो लाभश्चिन्तातीतो जायते । अत्र *सिद्धदत्त-कपिलयोः* नियमा-ऽनियमयोः क्रमाद् ज्ञातं शुभाऽशुभफलोदये ज्ञातव्यम्" । ततो मद्धार्याभिः पृष्टम् - 'हे भगवन् ! कौ *सिद्धदत्त-कपिलौ* ?' । तदा वराऽमृतकिरा गिरा मुनिराचष्ट -

॥सिद्धदत्तकपिलयोः कथानकम्॥

"अत्रैव विजये *विशालाख्ये* नगरे *मातृदत्तो वसुदत्तश्च* द्वौ सुहृदौ वणिजौ तुच्छविभवौ विपणौ तिष्ठतः । *मातृदत्तेन* स्थूलादत्त-ग्रहणप्रत्याख्यानं कृतमासीत् । *वसुदत्तस्तु* कूटतुलाकूटमानादिना व्यवहरन्नपि तस्य धनवृद्धिर्न भवति । यतः -

मूल्येन किञ्चित् कलया च किञ्चिद्,
मानेन किञ्चित्तुलया च किञ्चित् ।
किञ्चिच्च किञ्चिच्च सभासमक्षं,

[1]मुष्णन् वणिग् यद्यपि सोऽपि साधुः ॥२४॥

श्रुत्वा दुर्वाक्यमुच्चैर्हसति मुषति च स्वीयमानेन लोकं,
द्व्यर्द्धं गृह्णाति पण्यं बहुकमिति वदन्नर्द्धमेव प्रदत्ते ।
स्वीयान्यायेऽपि पूर्वं व्रजति नृपगृहं लेख्यके कूटकारी,
मध्ये सिंहप्रतापः प्रकटमृगमुखः स्याद्वणिग् धूर्तराजः ॥२५॥

अथ तौ स्वल्पमूल्यं क्रयाणकं लात्वा व्यवसायार्थं प्रौढे *पुण्ड्रपुरे* गतौ । तत्र *वसुतेजा* नृपो राज्यं करोति । तस्य भाण्डागारिकस्तादृशो नास्ति, ततो निरीहं कञ्चित्कोशाधिकारिणं परीक्षितुं मार्गे रत्नजटितं कुण्डलं मोचयामास। प्रच्छन्नाः पुरुषा द्रुमान्तरिताः स्थापिताः । ते भटाः पथि स्थितं भूषणं गृह्णतो हक्कयन्ति । तद्भयात्कोऽपि नाऽऽदत्ते । आददानं कमप्यङ्गं प्रचण्डं दण्डयन्ति । अथ तौ तस्मिन् मार्गे गच्छन्तौ मणिकुण्डलमपश्यताम्। 'अहो ! श्रीः' इति तल्लातुं *वसुदत्तो* द्रुतं धावन् *मातृदत्तेन* वारितः। यथा - 'हे मित्र ! इदं विषं मा लाहि मा लाहि' । पुनर्दूरे गत्वाऽस्य बोधार्थं दृष्टान्तो दर्शितः । तद्यथा -

"कस्मिंश्चिन्नगरे *देव-यशसौ* द्वौ वणिजौ तुल्यव्यवसायिनौ। अदत्तादानविमुखो *देव*नामा श्राद्धः, द्वितीयो *यशोनामा* तद्विवर्जितः। अन्यदा तौ उच्चारोर्व्या निवृत्तौ मार्गे कुण्डलं पतितमपश्यताम्। *देव*श्राद्धेन व्रतभङ्गभीरुणा तत्सम्मुखमपि नैव वीक्षितम् । अन्यो *यशास्तु* गृह्णन् तेन निषिद्धः, तदा सोऽपि लज्जया न गृहीतवान्।

1. 'तथापि लोकेऽस्ति वणिग् हि साधुः' इति खपुस्तके,
'लुण्टन्ति लोके वणिजो ह्यसाधवः' इति च गपुस्तके पाठान्तरम् ।

परं मार्गान्तरे गत्वा तत्रागत्य स तदग्रहीत् । ततः सङ्गोप्य दध्यौ हृदि – 'धन्योऽयं *देवो* योऽन्यधननिःस्पृहः, तथापि एनं समविभागी करिष्यामि' । इति विचिन्त्याऽन्यनगरे गत्वा भाण्डेन कुण्डलद्रव्येण च प्रभूतं क्रयाणकमादाय स्वस्थाने समागतौ । विभाजितं क्रयाणकं प्रभूतं जातम् । तदा देवेन पृष्टम् – 'हे मित्र ! किमिति वर्द्धते ?' एवं तेन *यशाः* शपथैः पृष्टः स्पष्टमजल्पत् । तन्निशम्य *देवेन* तत्सर्वं पृथक् कृत्वा तस्मै दत्तम् । तेनाऽपि स्वभाण्डशालायां यत्नेन संस्थापितम्। अथ तस्यामेव रात्रौ तस्करैः *यशसः* क्रयाणकं सर्वस्वसंयुतं चोरितम् । ततो *यशा* भृशं विषण्णो *देव*समीपे समागतः। तदा कृतिना *देवश्राद्धे*नोक्तम् – 'भो मित्र ! अन्यायाऽर्थाद् महाऽनर्थो जायते, तन्नियमं कुरु । *यशसा*ऽपि सोऽङ्गीकृतः। अथ द्वितीयेऽह्नि दूरदेशाद् वणिजः समागताः । तदा हट्टवस्तुनि विक्रीते *देवस्य* द्विगुणो लाभोऽभूत् । ततः सुदृष्टप्रत्ययो *यशाः* सत्यश्रावको जज्ञे'' ।

''तस्माद् भो *वसुदत्त* ! न्यायोपार्जितद्रव्येण कल्याणं जायते, न तु परद्रव्येण । प्रान्तेऽतिकटुकविपाकदायिना चौर्यकारेण सृतम्''। इति निवारितोऽपि बलात् तत्र गत्वा कुण्डलं गृह्णन् सभाण्डोऽपि राजसुभटैर्धृतः । आद्यो विषण्णस्तैरुक्तः – 'भो महासात्त्विक ! त्वं मा विषादं कुरु, तव सत्त्वतस्तुष्टो राजाऽतुलं प्रसादं कर्त्ता' । *मातृदत्तो*ऽवक्– 'मद्भाण्डं लात्वा एनं मुञ्चत । अस्य बालस्वभावस्य एकमपराधं क्षमध्वम् । अयं ममोपरि महान् प्रसादोऽस्तु । किं ग्राम्याणां नृपविलोकनम् ?' । तैरुक्तम् – 'त्वद्गिरा मुक्तोऽयं, परं त्वं महापुरुषो नृपसमीपे चल' । इति कथयित्वा स नृपान्तिके

नीतः । तैः कुण्डलव्यतिकरः कथितः । राज्ञा सविस्मयं पृष्टः - 'भोः ! त्वं निरीहः कथम् ?' । तेनोक्तम्- 'महाराज ! मया गुरोः समीपे अदत्तद्रव्यग्रहणस्य प्रत्याख्यानं कृतं, तस्मान्नाऽहं परद्रव्यं गृह्णामि' । तत् श्रुत्वा तुष्टेन राज्ञा दत्तोरुजीविको भाण्डागारे नियुक्तः । ततः स सुखी जातः, सर्वत्र मान्यश्चाऽभूत् ।

अथ स *मातृदत्तः* कालेन समाधिना मृत्वाऽत्रैव विजये *चन्द्राभायां* पुर्यां वरवणिक्कुले *पुरन्दरश्रेष्ठिनः सत्यां* भार्यायां पित्रोर्हर्षजनकः पुत्रोऽभूत् । तस्य *सिद्धदत्तेति* नाम कृतम् । स क्रमात्कलासु कुशलो जातः । वनोपवन-श्रीपथादौ[1] विविध-कला-कुतूहलानि कुर्वन्नास्ते । इतश्च *वसुदत्तकः* कुकर्मभिराजीविकां कृत्वा कियता कालेन मृत्वा कर्मवैचित्र्याद् विप्रकुले *कपिलाभिधः* सुतोऽभूत् । यौवनस्थेऽस्मिन् निर्धनेनाऽपि पित्रा दुःस्थकुलादपि याचित्वा स कन्यां परिणायितः । तया सार्द्धं तस्य विषयमुप-भुञ्जानस्य बहवो डिम्भा अभवन्। तैर्भृशं पीडितः । यतः -

कुर्कुरीणामजानां च, शूकरीणां सुता घनाः ।
यथा निःस्वगृहे डिम्भाः, पापाश्च बहवस्तथा ॥२६॥

स च माता-पित्रोर्मृतयोर्दारिद्र्येण पीडितो भार्यया धिक्कृतो द्रव्योपार्जनार्थं निर्गतः, परं कुकर्मतो बहु क्लिश्यमानः पापोदयाद् अलाभवान् जातः सन् दुःखेन दिनानि गमयति । यतः -

कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा, कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।
कन्याबहुत्वं च दरिद्रता च, षड् जीवलोके नरका भवन्ति ॥२७॥

---

1. श्रीपथो राजमार्गः ।

स *कपिलो*ऽन्यदा चिरकालेन कस्याऽपि कार्पटिकस्य मिलितः । ज्ञाततत्त्वेन तेनोक्तः - 'भोः ! वृथा प्रयासं मा कृथाः, चेत्त्वं धनार्थी तर्हि *चन्द्राभायां* पुरि द्रुतं व्रज । तत्र नामतोऽर्थतश्च *आशापूरिकां* देवीं समाराधय, ततस्त्वं पूर्णाशो भावी' । इति श्रुत्वा *कपिल*स्तत्र गतः । शुचीभूय पुष्पाद्यैस्तामभ्यर्च्य स्तुतिं च कृत्वा ध्यानी मौनी सोपवासः कुशसंस्तारके स्थितः । अथ तृतीयेऽह्नि रात्रौ तया कथितम् - 'कुतो हेतोः स्थितोऽसि त्वम्?'। तेनोक्तम्- 'देवि! धनं देहि' । देव्याह - 'त्वया कदा कियन्न्यस्तं यद् उद्ग्राहिकां कर्त्तुं समागतः ?' । सोऽभ्यधात् - 'हे देवि ! त्वं विबुधाऽसि, मां किं मुधा वञ्चयसि ? । निर्विण्णोऽहं जीवितव्याद्, अतस्तव बलिं प्राप्तो वरम्' । एवं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा सुरी प्राह - 'मत्पुरतः पुस्तिकां लाहि, पञ्चशतरूप्यकैश्च तां दद्याः, मा प्रार्थयेथा अधिकम्' । इत्युक्त्वा सा गता । अथ भट्टः प्रगे पुस्तिकां विक्रेतुं गतः, समग्रेऽपि पुरे भ्रान्तः, परमेकरूप्यकमपि कोऽपि न दत्ते । ततः स क्रमेण *सिद्धदत्ता*ऽन्तिके गतः । तेन पृष्टम् - 'किं मूल्यमस्याः?'। द्विजेनोक्तम् - 'पञ्चशती रूप्यकाणाम्' । 'किमत्राऽस्ति ?' इति ज्ञातुं तां पश्यन् श्लोकपादं स ऐक्षत- ''*प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः*'' । *सिद्धार्थः* तस्याऽर्थं विभाव्य 'सत्यम्' इति चेतसि निश्चित्य विप्रस्य *सिद्धदत्तो* रूप्यकपञ्चशतीं मुदाऽदात्। *कपिलः* स्वदेशे गच्छन् मार्गेऽन्तरा भिल्लैर्लुण्टितः कुट्टितश्च। ततः स गतोल्लासो निराशश्च सन् निजे गृहे आगात् ।

अथ पित्रा प्रदोषे *सिद्धदत्तो* दिनलेख्यकं पृष्टः । आय-व्ययस्थाने ददति तस्मिन् पञ्चशतरूप्यकाणि त्रुट्यन्ति, तत्स्थाने-

ऽनेन पुस्तिका दर्शिता । तदा रुष्टेन पित्रा ताडितः । कथितं च- 'रे पुत्र ! त्वम् असद्व्ययं करोषि, तेन मद्गृहान्निर्गच्छ । तावत्सङ्ख्यै रूप्यकैर्विना मद्गेहे नाऽऽगन्तव्यम्' । *सिद्धदत्ते*नोक्तम्- 'हे तात! तावत्सङ्ख्यासहस्रै-र्विना तव गृहे नाऽऽगन्तास्मि' । इति कथयित्वा स गृहान्निर्गतः, परं नगरद्वारपिधानतो जीर्णे देवकुले सुप्तः । पुस्तिकां करे कृत्वा तत्पदार्थतो निश्चिन्तो निद्रां प्राप ।

अथ तदा राट्-सचिव-श्रेष्ठि-पुरोहितभुवां कन्यानां प्रेमनिर्भरमित्यालापकः प्रवृत्तः - 'भोः सख्यः ! वयम् आबाल्याद् असंयुक्ताः स्मः, अधुना यौवनेऽपि विधिवायुना वियुक्ता मा भूम। इति तासां वचनं श्रुत्वा राजसुताऽवादीत्- 'हे सख्यः ! यावत्तातैः कस्यचिद् न दीयामहे, तावदेकं वरं स्वयं कुर्मः, येन न वियुज्यामहे वयम्' । सर्वाभिस्तत्स्वीकृतम्। ततो देशान्तरादायातो ज्ञाताचारश्च कश्चित् कुलीनो राजसेवको राजकन्यया निमन्त्र्य प्रच्छन्नं विज्ञप्तः। यदाऽसौ प्रस्तुतमर्थं न प्रत्यपद्यत, तदा राजपुत्र्या प्रोक्तम् - 'यदि मदुक्तं न करिष्यसि तदाऽहं त्वामनुचरैर्घातयिष्यामि, नाऽन्यथा मुक्तिरस्ति' । इति श्रुत्वा तेन तद्वचनं प्रतिपन्नम् । 'अमुकतिथौ चतस्रः परिणेतव्या अत्र देवकुले निशि' इति तया सङ्केतितः। सोऽपि स्वस्थाने गत्वा चिन्तितवान् - 'एताः स्त्रियो राक्षस्यः, क एतासां वशे पतति ? । अङ्गनाः पिशाचीवच्छलकारिण्यः, बलिनाऽपि कर्णगृहीतव्याघ्रीवद् दुर्मोचाः । अनया राजपुत्र्या छलितोऽहम्' । इति चिन्तासमुद्र-मध्यगः प्रोक्तदिनं यावत् स्थितः । तदन्ते पुनर्व्यमृशत् -

'स्त्रीकृते निर्मलं स्वं कुलं किं कलङ्कयामि ? स्वामिद्रोह-करणमपि कुलीनानां न युक्तम्' ।

इति ध्यात्वा स निर्दोषः प्रदोषे नगराद् बहिर्गत्वा स्थितः।

अथ राजसुता तु रात्रौ प्रथमप्रहरे सखीसहिता वैवाहिकोपकरणाऽन्विता तस्मिन्नेव चैत्ये समागता। तत्र [1]तं सुप्तं वीक्ष्य सा प्रोचे - 'हे ईश ! किं निश्चिन्तः सुप्तः ? उत्थीयतां शीघ्रम्, अधुना लग्नाऽवसरो वर्त्तते'। इति ब्रुवाणा प्रेमनिर्भरमुत्थाप्य करमग्राहयत्। निजकरे कङ्कणं बद्ध्वा गान्धर्वविवाहश्चक्रे। किन्तु तस्मिन्नज्ञातसङ्केते सम्भ्रमाद् राजपुत्री उल्ललाप - 'हे वल्लभ ! यानानि कुत्र मुक्तानि ? यैः प्रभाते इतः पलाय्य गन्तव्यमस्ति'। तत् श्रुत्वा *सिद्धदत्ते*नोक्तम् - 'सर्वं सुन्दरं भावि, परमधुनाऽहं निद्रालुरस्मि, ततो माऽन्तरायं विधेहि'। इति कथयित्वाऽसौ छलनिद्रया सुप्तः। अथ शब्दभेदं विज्ञाय शङ्किता राजपुत्री चित्ते चिन्तितवती - 'स न स्यात्, कश्चिदन्योऽयम्'। इति विमृश्य शरावसंपुटान्तःस्थदीपेनैषा व्यलोकत, तदा सद्वर्णं सुकुमाराङ्गं [2]माररूपविजित्वरं कुमारं मस्तकसमीपे च पुस्तिकां दृष्ट्वा तया सा हर्षेण वाचिता। यथा- *प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः*। इति दृष्ट्वा तया नेत्राऽञ्जनेन लिखितम् यथा - *देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः*। इति द्वितीयपादमालिख्य स्वधाम जगाम। अथ द्वितीये प्रहरे मन्त्रिपुत्री समागता। तयाऽपि तथैव कृतमेवं लिखितम्। यथा - *तस्मान्न शोको न च विस्मयो मे*। इति तृतीयपादं लिखित्वा साऽपि स्वगृहे गता। तदनन्तरं श्रेष्ठिसुता समागता। तयाऽपि तथैव कृतमेवं लिखितम्। यथा - *यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्*। इति काव्यं प्रपूर्य साऽपि स्वगृहे गता। अथ

1. सिद्धदत्तम्। 2. कामदेवसौन्दर्यविजेतारम्।

पुरोहितपुत्र्यपि तथैव ज्ञात्वा नव्यश्लोकमलिखत् -

[1]व्यवसायं दधात्यन्यः, फलमन्येन भुज्यते ।
[2]पर्याप्तं व्यवसायेन, प्रमाणं विधिरेव[3] नः ॥२८॥

अथ प्रभातकाले तासां चेटीभिश्चिन्तितम् - 'यद्यासां [4]सवित्रीणां वयं न कथयामः, ततोऽस्माकमागो[5] भविता'। इति मत्वा तासां प्रत्येकजनन्यग्रे सर्वाभिश्चेटीभिः कथितम् । तन्निशम्य ताभिरपि स्वस्वभर्तॄणां कथितम् ।

अथ भूभुजा प्रधानाः समाहूताः । कथितं च - 'भो भो धीसखाः ! जीर्णदेवकुले प्रसुप्तं पुण्याढ्यं जामातृकं महताऽऽडम्बरेण समानयत' । तेऽपि तत्र गत्वा तूर्यनिर्घोषैः *सिद्धदत्तो*ऽवबोधितः । स प्रौढराजगजारूढो बन्दिवृन्देन संस्तुतो राज्ञो मन्दिरमानीतः । जनाऽऽननाच्च तं *पुरन्दरसुतं सिद्धदत्तं* ज्ञात्वा नृपो हर्षोत्कर्षं दधौ ।

अथ त्रिकचतुष्कमार्गादौ सर्वत्र निशि शोधयन्, जनमुखाद् ज्ञातोदन्तः प्रातः *पुरन्दरो*ऽपि श्रेष्ठी तत्र समागतः । ताता-ऽम्बे मिलिते । सर्वे तं जामातरं वीक्ष्य हर्षोत्कर्षात् प्रोचुः - 'अहो ! कन्यानां पुण्योत्कर्षा, यद् ईदृक्कामरूपी वरो लब्धः' । प्रेमपूर्णा-श्चतस्रोऽपि कन्या मुदिताः ।

अथ विज्ञेन राज्ञा महताडम्बरेण विवाहो विहितः। करमोचनावसरे ग्रामाणां पञ्चशती दत्ता । सचिवादिभिरपि स्वस्वविभवानुसारेण परमहर्षेण जामात्रे धना-ऽऽभरणादि दत्तम्। ततः *सिद्धदत्तो* नृपदत्ते सद्मनि चतसृभिः स्त्रीभिः सार्द्धं दिवि देववत् सुखेन समयं गमयामास।

1. उद्यमम् । 2. सृतम् । 3. भाग्यम् । 4. मातॄणाम् । 5. अपराधः ।

अथान्यदा तन्नगरोद्याने *श्रीगुणशेखरसूरि*र्भूरिशिष्य-समन्वितः समवसृतः । राजाद्या वन्दनार्थं गताः । *सिद्धदत्तो*ऽपि चतसृभिर्भार्याभिः सार्द्धं गुरुपार्श्वे समागतः । गुरुणा करुणारसाऽञ्चिता तेषां धर्मदेशना दत्ता । यथा -

दुष्प्राप्यं प्राप्य मानुष्यं, कार्यं तज्जन्मनाऽमुना ।
ध्रुवमासाद्यते येन, शुद्धं जन्मान्तरं पुनः ॥२९॥

त्यज दुर्जनसंसर्गं, भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यताम् ॥३०॥

निन्दां मुञ्च शमामृतेन हृदयं स्वं सिञ्च यञ्च क्रुधं,
सन्तोषं भज लोभमुत्सृज जनेष्यात्मप्रशंसां त्यज ।
मायां वर्जय कर्म तर्जय यशः साधर्मिकेष्वर्जय,
श्रेयो धारय हन्त वारय मदं स्वं संसृतेस्तारय ॥३१॥

इत्यादिं गुरुमुखाद्देशनां निशम्य स्वप्राग्भवं च सूरिभ्यो ज्ञात्वा संसाराद्विरक्तः *सिद्धदत्तो* गुरुपार्श्वे दीक्षां गृहीत्वा चिरकालं चारित्रं प्रपाल्य दिवं गतः । क्रमान्मोक्षे गमिष्यति । भो धर्म-करणशीलाः श्राद्ध्यः ! एवम् अदत्तादानविरतिपालने अपालने च गुण-दोषाः स्वचेतसि विज्ञेयाः" ।

॥इति सिद्धदत्तकपिलयोः कथानकम्॥

इति साधुवचनं निशम्य हे *पूर्णचन्द्रकुमार* ! संविग्नाभिर्मद्भार्याभिरुदीरितम् - 'हे प्रभो ! चौर्यकारणं परधनमस्माभिर्न ग्राह्यम् । स्वीयगृहस्थितमपि द्रव्यं पत्युर्दृशं वञ्चयित्वा न ग्रहणीयम्।

अस्माभिरुत्तमं तृतीयव्रतं भवत्साक्षिकं प्रतिपन्नम्' । ततो मया चिन्तितम् - 'इदं शोभनं जातं, यत एता मद्धनं न हर्त्तारः, ततः साधु कृतम् । अधुना तु द्वौ द्वौ प्रहारौ दास्ये' । इति यावत् चिन्तयामि, तावता मुनिना पुनः प्रोक्तम् -

"भो भद्राः ! सर्वव्रतशिरोमणिः परमोत्तमं कल्याणकरं मङ्गलकरं श्रेयस्करं च शीलव्रतम् । एतच्च व्रतं कुलस्त्रीणाम् आविवाहं गण्यते । विवाहे कृते मनसाऽपि परनराऽभिलाषो न करणीयः । परनरः सरागदृष्ट्या न विलोकनीयः । यतः शुद्धां सतीं वैरि-वारि-विष-व्याघ्र-व्याल-वेताल-वह्निजा विपदः कदापि नैव प्रभवन्ति । सर्वत्र सा माननीया स्यात्, तीव्रं तेजो महान् मानश्च स्फुरति । सत्याः शुभ्रं यशोऽखिलेऽपि भुवने आचन्द्रं विजृम्भते । सत्या इह लोके सौभाग्यं सुखसम्पत्तिः पुत्रप्राप्तिश्चित्तनिर्वृतिश्च भवति, परलोकेऽपि स्वर्गा-ऽपवर्गसंसर्गो जायते । ये तु शीलभ्रष्टा जन्तवस्ते नासौष्ठ-करपादानामिन्द्रियस्य च छेदं लभन्ते, तथा वधं बन्धं धनक्षयं च लभन्ते । कुशीला स्त्री परभवे कुरूपा दुर्भगा वन्ध्या भगन्दरदुःखिता रण्डा कुरण्डा निन्दुश्च जायते । कुशीलप्राणिभिर्मनुष्यभवे निर्लाञ्छनं, तिर्यग्गतौ वध-बन्धन-ताडन-तर्जन-भारारोपण-क्षुधा-तृषासहनादयो दोषा लभ्यन्ते । ते च नरके गताः सन्तो वज्राग्नौ परमाधार्मिकैः क्षिप्ता विविधां व्यथां प्राप्नुवन्ति, लोहपाञ्चालिकाभिरग्निवत्तप्ताभिः सहाऽऽलिङ्गनानि कार्यन्ते च परमाधार्मिकैः । शीलेन सुखसाम्राज्यं संप्राप्ता *शीलसुन्दरी*, दुर्ललितनराः पुनर्दुःशीलेन दुःखेऽपतन्" । ततो हे कुमार ! मद्भार्याभिः पृष्टम् - 'हे भगवन् ! का सा

शीलसुन्दरी ? का पुनर्दुर्ललितगोष्ठी ?' । ततो मुनिना कथितम्- "हे भद्राः ! श्रूयताम् -

॥ अथ शीलसुन्दर्या कथानकम् ॥

अस्मिन्नेव विजये *विजयवर्धननाम्नि* नगरे *वसुपालनामा* श्रेष्ठी, तस्य *सुमाला* स्त्री । तयोः पुत्री सुन्दराकारा जिनागमे सुविचारा *सुन्दरीति* बभूव । सा कलाकलापकुशला धर्मकर्मणि च धुरीणा क्रमेण यौवनं प्राप्ता । यतः -

वक्त्रं चन्द्रविडम्बि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने,
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनिर्जिष्णुः कचानां चयः ।
वक्षोजाविभकुम्भविभ्रमधरौ गुर्वी नितम्बस्थली,
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ॥३२॥

स्मितं किञ्चिद् वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः,
परिस्यन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिह न हि रम्यं मृगदृशः ? ॥३३॥

अथ तत्र सौन्दर्यशालिनोऽनेके कुमाराः सन्ति, ते च मिथ्यात्विनोऽभवन्, अतः पित्रा तेभ्यः सा न दत्ता; किन्तु श्राद्धगुणाढ्याय *सुभद्रनाम्ने* श्रावकाय दत्ता । ततो लोकास्तत्पुण्यं प्रशंसन्ति, तदर्थिनश्च स्वं शोचन्ति ।

अस्मिन्नवसरे तत्रैव नगरे द्वौ विप्रपुत्रौ द्वौ च वणिक्पुत्रौ, एते चत्वार एकचित्ता एकगोष्ठीविलासिनश्च सन्ति। ते सुन्दर्या

गुणान् निशम्य तत्सङ्गमोत्सुका जाताः । अमी अध्वन्यदभुत-शृङ्गारास्तां स्वं स्वं रूपं दर्शयन्ति, शृङ्गारगीतं गायन्ति, वीणां वादयन्ति, काव्यं श्लोकं गाथां षट्पदीमन्योक्तिं च श्रावयन्ति । ततस्तेषां चेष्टां दृष्ट्वा *सुन्दर्या* चिन्तितम् - "धिग् धिगज्ञानविलासं, धिक् संसारवासं, धिक् च कामचेष्टां, यतः सदसद्विवेकविकलो जीवो जायते नीचाचारं चाऽङ्गीकरोति । यतः

स्वाधीनेऽपि कलत्रे, नीचः परदारलम्पटो भवति ।
सम्पूर्णेऽपि तटाके, काकः कुम्भोदकं पिबति ॥३४॥

आत्मानं नरके, धनं नरपतौ, प्राणास्तुलायां, जने ।
दुर्वाचं, हृदि दीनतां, त्रिभुवने तेनाऽयशः स्थापितम् ॥३५॥

येनैवं बहुदुःखदायि सुहृदां, हास्यं खलानां कृतं ।
शोच्यं साधुजनस्य निन्दितपरस्त्रीसङ्गसेवासुखम् ॥३६॥

इति ध्यात्वा तया ते दुर्ललिता नरा मनागक्षिकोण-प्रदानेनाऽपि नाऽऽश्वासिताः । ततस्तैर्दुर्ललितगोष्ठिकैर्नरैः भूरिद्रव्य-व्ययेनैका परिव्राजिका समाराधिता, सा च *सुन्दरी*गृहे शिक्षयित्वा प्रेषिता । तां पाखण्डिनीं ज्ञात्वा तया सा न नता न च स्तुता । तथापि सा तस्याः समीपे स्थित्वा काकूक्तिमाह - 'हे वत्से ! दयाधर्मः सर्वेषां सम्मतः, तथापि श्रावकाणां सर्वजीवपरिरक्षणाद् विशेषेण दयाधर्मोऽस्ति । सर्वे जीवा रक्षणीयाः, ततस्तान् दुःखितान् रक्ष' । इति काकूक्तिमाकर्ण्य *सुन्दरी* प्राह - "हे सखि ! इदं महापापं कुलीनानां कर्त्तुं न युज्यते । तथा हे आलि ! प्रतिपन्नव्रतानां

भवादृशीनामीदृशं वक्तुमपि नैव युज्यते। यतः -

प्राणिनः पापबुद्धिं ये, परेषां परितन्यते ।
आत्मानं च परं चाऽपि, दुर्गतौ पातयन्ति ते ॥३७॥

इति निशम्य ज्ञातं तया, यथा - 'सत्या सतीयम्' । तत उत्थाय सा परिव्राजिका स्वस्थाने गत्वा तान् जगौ- 'भो ! यूयं यदि सुखेन जीवितुमिच्छत, ततो दुराग्रहं दूरे मुञ्चत' । एवं शिक्षिता अपि ते दुष्टास्तदाग्रहान्न निवृत्ताः । ततस्ते कञ्चिद् मन्त्रसिद्धमाराधयन् । तदा मन्त्रसिद्धेन ते चत्वारोऽपि कृष्ण-चतुर्दशीरात्रौ कानने समानीताः । तत्र पवित्रभूमिकायां मण्डल-मालिख्य अभ्यर्च्य तन्मध्ये चोपविश्य विधिपूर्वकमाराध्य मन्त्रदेवी प्रसादिता । तदा च सिद्धो मन्त्रस्याऽचिन्त्यशक्तेरेकाकिनीं ब्रह्मचारिणीं सपौषधां सुप्तां सतीं गगनाऽध्वना समानयत् । तत्तेजोऽसहमाना सा मन्त्राऽधिष्ठायिका देवी 'रे पापिन् ! त्वयेदृशे पापकर्मणि नियुक्ताऽस्मि ?' इत्युक्त्वा स्वस्थाने गता । ततः *सिद्धेन* तावदुक्तास्ते - 'रे रे ! कान्ताऽत्र समागता, ततो यथैव चित्ते रोचते सम्प्रति तथा कुरुत' । ततः 'प्रथमं यः स्पृशेद् एतां सोऽनया सह पूर्वं रमेत' इति कृतसङ्केतास्ते यावत्सोद्यमा धावन्ति, तावद् वनदेव्या द्राक् स्तम्भिताः । तान् काष्ठवद् विचेतनान् वीक्ष्य सिद्धोऽपि कम्प्राङ्गश्चरणे विलग्य सतीं जगौ - 'हे भगवति परमयोगिनि ! तवेदृशं माहात्म्यमत्र मया नाऽज्ञायि, तेनेदं मया व्यवसितम् । एकं ममाऽऽगः क्षमस्व, अतः परमेवं नाऽऽचरिष्यामि। दीनस्य पादलीनस्य मेऽभयं देहि'' । एवं ब्रुवत्यस्मिन् प्रभातं

जातं, तथापि प्रत्युत्तरं न लब्धम् । नगरे च विस्तृतां वार्त्तां श्रुत्वा *शूर*नृपाद्याः सर्वेऽपि पौराः सविस्मयाः शीघ्रं समागताः । प्रधानमुखाद् राज्ञोपलक्ष्य पृष्टाः - 'भो दुराचाराः ! एष कः सम्बन्धः ?' । यावत्ते किमपि न जल्पन्ति, तावता *सुन्दरी* पृष्टा । ततः सलज्जा सा प्रोवाच, यथा - 'नाऽहं जानामि किञ्चन' । ततः *सिद्धेन*ऽभयं याचित्वा सर्वं सत्यं कथितम् । तदा देव्या मुक्तैर्दुर्ललितैरपि तथैव कथितम् । तन्निशम्य कुपितेन नृपेणोक्तम् - 'रे रे पापाः ! मम नगरे एवंविधाचरणमाचरथ ?' । इत्युक्त्वा चत्वारोऽपि चारके क्षिप्ताः । ततः सिद्धं प्रोचे - 'रे पापिष्ठ ! त्वं ममाऽप्यन्तःपुरं हरिष्यसि, इति दण्डार्होऽसि । किन्तु पूर्वमभयं श्रावितोऽसि, अतो मुक्तोऽसि'। इति निर्भर्त्स्य 'निर्विषयो भव' इति कथयित्वा देशान्निष्काशितः । स्वयं पौरयुतो राजा *सुन्दरी*चरणे पतितः । *वसुपाल* श्रेष्ठ्यपि तत्रागतः, *सुन्दर्या* नमस्कृतः । राज्ञाऽपि प्रशंसितः- 'हे श्रेष्ठिन् ! धन्यस्त्वं, यस्येदृशी सुता महासती' । ततः श्रेष्ठिना भणितम् - 'देव एवाऽवनौ धन्यो यच्छायायां वसत्यसौ'। ततस्तुष्टेन राज्ञा तस्याः पिता तथा पतिः शुल्कादिमोचनेन कररहितौ कृतौ । *सुन्दर्याः* सर्वशृङ्गारान् महार्घ्यं चाऽम्बरं नृपो ददौ । पुरि प्रवेशिता चैषा महीयसा महेन । तदादित एषा महीतले *शीलसुन्दरी* इति प्रसिद्धिं प्राप्ता । शीलोज्ज्वला *शीलसुन्दरी* शीलमाहात्म्येन स्वर्गं प्राप्ता, क्रमाच्च शिवं गता । ते चत्वारोऽपि राज्ञा गृहीतसर्वस्वाश्चारके चिरं सङ्क्लिश्य मृत्वा च दुर्गतौ भ्रान्ताः। हे सुश्राविकाः ! शीला-ऽशीलयोरिति गुणा दोषाश्च स्युः'' ।

।। इति शीलसुन्दर्या कथानकम् ।।

मुनिमुखाऽम्बुजादिति देशनां निशम्य सर्वस्त्रीभिः परपुंसां नियमः कृतः । ततो हे कुमार ! मया चिन्तितम् - 'सुन्दरमभूत्, चिन्ताग्निः शान्तः, मम मानसे परमनिर्वृतिरभूत् । अधुना मुनेरेकैकं प्रहारं दास्यामि' । इति चिन्तयामि तावद् निर्मलमानसो मुनिराचख्यौ-

"भो निर्मलशीलाः ! मम वचनाद् यूयं परिग्रहपरिमाणं कुरुध्वम् । तद्विधायिना दुःखानां परिमाणं विहितम् । यस्यैका दयिता तस्य स्वल्पा चिन्ता भवेत् । तस्या एकैकवृद्ध्या च सा चिन्ता द्विगुणा द्विगुणा वर्धते । एवं करि-तुरग-द्रव्य-रथ-करभ-गृह-हट्ट-शयना-ऽऽसनादिषु वर्द्धमानेषु चिन्ता स्पर्द्धयाऽधिकाधिकं वर्द्धते । यतः -

यथा यथा महत्त्वं च, विस्तरश्च यथा यथा ।
तथा तथा महद् दुःखं, सुखं च न तथा तथा ॥३८॥

यथा यथा भूरिपरिग्रहाशा, तथा तथाऽऽरम्भपरः प्रसङ्गः ।
आरम्भतो दुःखशतोपलम्भः, स्वल्पं प्रकल्पेत परिग्रहं तत् ॥३९॥

उपार्जयेत् कष्टशतानि कृत्या, जगज्जनं दासयितुं धनं यत् ।
सदैव तद्वीक्षण-रक्षणाद्यै-स्तस्यैव दासः स्वयमेव स स्यात् ॥४०॥

ततो भो धर्मशीलाः ! परिग्रहोज्झितानां सन्तोषपोषिणां यत्सुखं, तस्य रसं साधव एव विदन्ति, नाऽन्ये महान्तोऽपि । लोभिनस्तु कार्या-ऽकार्ये न जानन्ति, ते च बहु दुष्कृतं कुर्वन्ति । पुनर्लोभिनोऽस्मिन् भवे धिक्कृतिं सहन्ते, पापभरैश्च प्रेरितास्ते प्रेत्य नरक-तिर्यक्षु उग्रमनन्तशो दुःखं प्राप्नुवन्ति । ये तु परिग्रहस्य

परिमाणं कुर्वन्ति ते *गुणाकरवत्* सुस्थिताः स्युः । अन्ये दुःखौघं प्राप्नुवन्ति, यथा *गुणधरो* वणिक्" । ततो हे कुमार ! मम पत्नीभिः पृष्टम्- 'हे स्वामिन् ! कोऽयं *गुणाकरः* ? कश्च *गुणधरो* वणिक् ?' । ततो मुनिना प्रोक्तम् - "भो भो धर्मरसास्वादिन्यः ! श्रूयतां सावधानीभूय युष्माभिः ।

।। गुणाकरगुणधरयोः कथानकम् ।।

"अत्रैव विजये जयस्थले सन्निवेशे *विष्टु-सुविष्टु*नामानौ द्वौ वणिजौ भ्रातरावभूताम् । तत्र यो *विष्टुः* स सञ्चयशीलः, व्यवहारे च न वर्त्तते, नोपकुरुते मित्राणि, न मानयति सज्जनान्, नाऽनुकम्पयते दुःस्थान्, न पूजयति धार्मिकान्, यथायोग्यं भोजनमपि न *भुङ्क्ते*, न चाऽसौ अङ्गभोगं करोति, याचकानां गृहप्रवेशमपि निवारयति, धनार्जने च क्लेशं करोति । ततो मार्गणैर्नित्यं गर्ह्यते, सुहृद्गणैः शोच्यते, धनाढ्यैः धिक्क्रियते, विदग्धैश्चोपहस्यते । द्रव्ये सत्यपि दुःखमयं समयं गमयत्यसौ । द्वितीयः *सुविष्टुस्तु* सुमनाः, सन्तोषी, सत्पात्रे दानरुचिः, सदाचारः प्रियवाग्, विवेकवान्, सज्जनसङ्गकृद्, दानेन चाऽर्थिजनमनोरथान् पूरयति । अथाऽन्यदा तपसः पारणे तस्य गृहे कोऽपि महात्मा साधुः समागतः । *सुविष्टुनाऽऽ*नन्दाद् मिष्टान्नेन प्रतिलाभितो मुनिः, ततस्तेन भोगाढ्यं मनुष्यायुर्निबद्धम् । तदा विष्टुना हसित्वाऽभाणि- 'व्यवसायाऽलसा अमी दम्भाद् अन्यगृहाणि मुष्णन्ति, एभ्यो दत्तेन किं स्यात् ?' । इति जल्पता तेन तदा तत्प्रत्ययं नीचैर्गोत्रमन्तरायकर्म च निकाचितं बद्धम् । तस्याऽन्यदा खन्यवादिनो मिलिताः ।

तैरुक्तम् - 'हे विष्टो ! अस्य गिरेर्नितम्बे धनमस्ति, परमस्माकं समीपे काचित् सामग्री नास्ति' । ततो हसित्वा *विष्टुना* प्रोक्तम्- 'सर्वं सम्पादयाम्यहम्' । तदा तैः प्रोक्तम् - 'यद्येवं तर्हि ते भागं दास्यामहे, परं कस्याऽप्यग्रे न वाच्यम्' । इति निश्चित्य तिथि-लग्ने निरूपिते पूजादिसामग्रीं कृत्वा कुटुम्बस्य च कथयित्वा *विष्टु*स्तैः सह रात्रौ पर्वतनितम्बे गतः । तत्र तैः पलाशतरुशाखायाः पादमधोभूमिगतं वीक्ष्य प्रोक्तम् '*बह्वल्पं वा भवेद् द्रव्यं, ध्रुवं बिल्व-पलाशयोः*' । *विष्टु*ना पृष्टम् - 'निधिः किं प्राप्त उत न ?' ततस्तैरभाणि - 'प्राप्तः, यतः पादः स्थूलः' । सोऽवक् - 'परमिहाऽस्ति किम् ?' । तैः प्रोचे - 'सा परीक्षाऽत्र, चेद् रसोऽरुणस्तदा रत्नानि, पीते रसेऽत्र ध्रुवं सुवर्णं, शुभ्रे रसे बुधै रूप्यं ज्ञेयम्' । अथ शस्त्रेण पादं भित्त्वा रक्तं रसं वीक्ष्य हृष्टैस्तै 'रत्नानि सन्ति' इति निश्चित्य पूजा-बलिपूर्वकं निधिर्निष्काश्य मुक्तो दृष्टिगोचरः । तत उक्तोऽसौ - 'भो *विष्टो* ! शीघ्रं गृहाच्छकटीमानय यत्राऽयं क्षिप्यते' । तन्निशम्य मुदितेन *विष्टु*-नोक्तम् - 'यूयमत्रैव उपविशत । शकटिकां गृहीत्वाऽधुनै-वाऽहमागच्छामि, भवद्भिरितः कुत्रापि न गन्तव्यम्' । इत्युक्त्वा स गतो गृहे । ते तु निधिं लात्वा शीघ्रं नष्टाः । अथ *विष्टुः* शकटिकां गृहीत्वा तूर्णमागतः। इतस्ततोऽपश्यत्, परं तान् पुरुषान् निधिं चाऽप्रेक्ष्य मूर्च्छितः । शीतवायुना सज्जीकृतोऽसौ शोचन् दुःखाकुलः प्रभातकाले गृहे समागतः । तस्मिन् क्षणे केनाऽपि प्रातिवेश्मिकेन पिशुनेन दृष्टोऽसौ । 'क्व गतोऽसौ निशायाम् ?' इति सशङ्केन तेन तत्र गत्वा गर्त्तया सत्यापयित्वा राज्ञे यथादृष्टं निवेदितम् ।

ततो राज्ञाऽऽकार्य पृष्टम् । स भीतो यथास्थितमवक् । ततो राज्ञा नीतिज्ञाः पृष्टाः । तैरुक्तम् -

चौरश्चौरापको[1] मन्त्री, भेदज्ञः काणकक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चेति, चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥४१॥

ततो नृपेण सर्वं धनं गृहीत्वा नगरान्निष्काशितो जातोन्मादो महादुःखी बभूव । यतः -

अदत्तादानतो दौस्थ्यं, दौस्थ्यतः पापकल्पनम् ।
पापेन नरकं घोरं, प्रयाति च पुनः पुनः ॥४२॥

स मृत्वा स्वगृहे श्वाऽजनि । स श्वा गृहं वेष्टयित्वा स्थितः, परं केनाऽपि भोजनं न दत्तम् । ततो मृत्वा मार्जारोऽजनि । स मार्जारो महानसे गच्छन् सूपकारैर्हतो मृत्वा दरिद्रो मातङ्गोऽजनि। तत्राऽपि हिंसादिपापवान् मृत्वा प्रथमनरके नारको जातः । तत्र परमाधार्मिककृतवेदनां क्षेत्रवेदनां च सोढवान् ।

*सुविष्टु*स्तु न्यायवित्ततो वर्गत्रयं साधयन् मृत्वोत्तरकुरौ युग्मधर्मी वरो नरो जातः । तत्र दशप्रकारैः कल्पपादपैः पूरिताऽनल्पसङ्कल्पः त्रिपल्यायुः प्रपाल्य प्रथमस्वर्गे महाद्युतिमान् देवो जातः । तत्र स सदा दिव्यभोग-संयोग-गीत-नृत्यरतः एकपल्यं स्थित्वा च्युत्वा च अत्रैव विजये *जयस्थले* नगरे *पद्मदेवस्य* श्रेष्ठिनो *देवकी*नाम्न्या भार्याया गुणाकर इति नाम्ना सुतो जातः। सुखेन वर्धितः क्रमेण रमणीनयनाऽऽनन्दसंपादनैकमाकन्दं यौवनं प्राप्तः ।

अथ नरकोद्धृतो विष्टुजीवस्तस्मिन्नेव नगरे *धनञ्जय*-

1. चोरी की प्रेरणा करनेवाला ।

जयाभवो गुणधराह्वः सुतोऽभूत् । सोऽपि क्रमेण यौवनं प्राप्तः । पूर्वभवाऽभ्यासतस्तयोर्मैत्री सञ्जाता । तौ नवद्रव्याऽर्जनासक्तौ कदाचित् कानने गतौ । तत्र *श्रीधर्मदेवमुनिं* दृष्ट्वा नत्वा चैवमपृच्छताम् - 'हे मुने ! नौ धनार्जने निरपायमुपायं ब्रूहि' । ततो मुनिना प्रोक्तम् - "यदि युवयोर्धनेच्छा तर्हि निर्मलाशयौ भूत्वा निःशङ्कं धर्मं कुरुतम्, येनाऽत्रामुत्र च विगतापदः सम्पदो लभ्यन्ते । अपि च -

नित्यं पुष्णन्ति पात्राण्यपि शरणगतानन्ध-पङ्ग्वादिदीनान्,
दुःस्थान् मित्राणि शत्रून् नृप-सचिवमुखान् मार्गणान् सेवकान् ये।
शृङ्गार-स्फारसाराऽशन-वसन-धनैर्भुञ्जते भव्यभोगान्,
निष्ठां नो यान्ति तेषां ततसुकृतजुषां सम्पदस्तास्तथापि ॥४३॥

पापकारिणां सम्पदः कुत्रापि न सम्भवन्ति । यतः -

लोकाः केऽपि खनन्ति रोहणभुवं ध्मान्तीह धातून् परे,
केचिद् वारिधिमुत्तरन्ति कतिचिद् भक्त्या भजन्ते नृपम् ।
कान्तारं प्रविशन्ति वा विदधते मन्त्राऽमराराधनं,
पापाः काणकपर्दिकामपि तथा नैवाप्नुवन्ति क्वचित् ॥४४॥

लोभाब्धौ मग्नो राजराजोऽपि दुःखवान्, सन्तोषवान् पुनर्धनवतां मूर्धसु पादं दत्त्वा सुखं शेते । लोभी जनस्तु कदाचित् कोटिपतिर्भवेत्, तथापि दरिद्र एव ज्ञेयः, यतस्तेन न दीयते न चोपभुज्यते । सन्तोषामृतरसतृप्तश्च प्राणी निःस्वस्तुच्छश्च भवेत्, तथापि कोटिपतितुल्यतामावहति । यश्च द्रव्याभिमानेन कस्यापि

सम्मुखं नेक्षते, केवलमूर्ध्वमेव विलोकते, स दरिद्रो ज्ञेयः । यस्तु अधोदृष्टिर्विनयवांश्च सर्वाभिमुखमीक्षते, स कदाचिद् रङ्को भवेत् तथापि ईश्वरतामादधाति । लोभिनां योजनशतदूरस्थमपि वस्तु दूरे न प्रतिभासते, सन्तोषवान् पुनः करग्राह्येऽपि वस्तुनि नाऽऽदरं कुरुते। ततो हे भद्रौ ! चेत्सर्वथा परिग्रहं मोक्तुं न शक्नुथः, तथापीच्छापरिमाणं विशेषतः कर्त्तुं युक्तम् । योऽरुद्धेच्छो लोभव्या-कुलाऽन्तःकरणयुतः सन् धनिनो गृहे श्वेव धावति, स बहुविधान् क्लेशान् अन्ततश्च मृत्युमाप्नोति" । एवंविधं मुनिमुखादुपदेशं श्रुत्वा *गुणाकरः* सम्यक्त्वप्रतिपत्तिपुरस्सरं स्वेच्छया परिग्रहपरिमाणव्रतं प्रमोदेनाऽङ्गीचकार । श्रद्धारहितेन *गुणधरेण* तु व्रतादि सर्वं मिथ्या मत्वा किञ्चिदपि न स्वीचक्रे । दुष्कर्मतश्चिन्तितं च तेन - "यो जनो निजेच्छां कस्मिंश्चिदपि कृत्ये रुणद्धि, परं च संतोषं करोति, तस्य दैवं किञ्चिदप्यधिकं न दत्ते; तेन भाग्यस्य विक्रीतत्वात् । अयं मे सुहृत् कीदृशो मूर्खो योऽमुष्य मुण्डिनो मिथ्याप्रलापेन परिग्रहपरिमाणव्रतं ललौ ?" । अथोभावपि *गुणाकरगुणधरौ* यतिं भावा-ऽभावाभ्यां वन्दित्वा स्वं स्वं गृहं जग्मतुः ।

अन्यदा स्वमित्रं *गुणाकरम*कथयित्वैव गुणधरो भाण्डानि भृत्वा व्यापारायाऽचलत् । तत्र बहुलाभं प्राप्तवान् । ततोऽप्यधि-कतरलाभार्थं पट्टांशुकादि गृहीत्वा दूरदेशे गतः । तत्राऽपि बहुलाभं लब्धवान् । ततश्चीनांशुकादीनि गृहीत्वा स्वदेशाभिमुखं चलितः, क्रमेण च महाटव्यां पतितः । तत्र कल्पान्ताऽनलसन्निभे दावानले लग्ने नष्टा मृतिभयात्सेवकाः, ज्वलिते शकटौघे मृते च बलिवर्दगणे

क्षुधा-तृषार्तो *गुणधरः* पलायितः, सप्तभिश्च दिनैः *मन्त्रिकावत्याह्वाने* सन्निवेशे प्राप्तः । तत्र च केनापि दयालुना लिङ्गिना दृष्टो मठे नीतो भोजितश्च । ततो विदितोदन्तेन तेन गिरिनितम्बके नीतः । तत्र काञ्चिदौषधीं दर्शयित्वा लिङ्गिनेति भणितम् - 'कृत्वैतां प्रत्यभिज्ञातां मध्यरात्रौ ग्रहीतव्या' । तथा कृत्वा गतौ स्थाने तौ। पुनः रात्रौ तेन *गुणधराय* प्रोक्तम्- "हे वत्स ! मच्छक्तेस्तत्र गत्वा ज्वलत्प्रभां तामौषधीं बुद्ध्वा वामे हस्ते लात्वा गाढमुष्ट्या च गृहीत्वा तथावस्थो समागच्छ, पृष्ठे न विलोकनीयं भयं च न भाव्यं, यथा तव दारिद्र्यं नङ्क्ष्यति" एवं श्रुत्वा तत्र सोऽगमत् । भृशं निर्भयः सन् प्रोक्तविधिना तां लात्वा वलितः । तस्मिन्नवसरे राक्षसोऽट्टहासं कुर्वन् शिवावत्फेत्कारान् मुञ्चन् शैलाधोभागे समागतः । गिरिटङ्क-पतत्तीव्रकर्करोत्क्षेपकर्कशं शब्दं श्रुत्वा मनाग् भीतः किञ्चित् पृष्ठे व्यलोकत, तावद् मुष्टिमध्यादौषधी नष्टा । ततो विषण्णो लिङ्गिसमीपे समागत्य स्ववृत्तमवक् । तदा लिङ्गिना प्रोक्तम् - "हे वत्स ! त्वयि साहस-व्यवसायकौ द्वावपि स्तः, परं पुण्योदयो नास्ति, विनैनं उभौ निष्फलौ, प्रत्युत विपरीतौ स्याताम् । ततो वृथोद्यमा-न्निवर्त्तस्व, सन्तोषं कृत्वा गृहे याहि, व्यसनभाजनं मा भव" ।

तेनेति वारितोऽपि मलये सन्निवेशे गतः । तत्र केनचित् परिव्राजकेन दृष्टः । ज्ञातोदन्तेन तेन कथितम् - 'रक्तदुग्धां स्नुहिं पश्य, यथा तव दौःस्थ्यं शीघ्रं हन्मि' । तदा *गुणधरेणो*क्तम् - 'भवन्तोऽपि चलन्तु, भवन्तं विना तत्कृत्यं समीचीनं न सेत्स्यति; अत आवां सम्भूय तत्कर्म करवावहै' । इत्थं निश्चित्य तौ द्वौ

मृगयितुं गतौ । मृगयमानाभ्यां ताभ्यां पूर्वोक्ता स्नुहिः लब्धा । ततः सिद्धियोगाऽन्विते शुभदिने परिव्राजकेन सा स्नुहिरभिमन्त्रिता। तत एकं कुण्डं निर्माय तत्राऽग्निः प्रज्वालितः । अथ स्नुहिभरः श्रेष्ठकाष्ठैरभिवेष्ट्य *गुणधर*श्रेष्ठिनः शिरसि न्यस्तः, तं च *गुणधरं* कुण्डे होतुं तेन परिव्राजकेन तस्य हस्तौ गृहीतो । ततो 'मामयं जुहूषति' इति विज्ञाय बलेन परिव्राजकहस्ताद् निःसृत्य तमेव परिव्राजकं कुण्डे होतुं सज्जोऽभूत्। एवमन्योन्यं होतुं यतमानौ तौ दृष्ट्वा कश्चिद् गोपालः पूत्कृतवान्- 'अरे रे ! अत्र कौचिद् द्वौ पुरुषौ मिथोऽग्निकुण्डे क्षेप्तुं युध्येते' । तच्छ्रुत्वा मृगयां कर्तुमागतेन राजकुमारेण तत्रागत्य मिथः क्लेशकारणं पृष्टम् । भयातुरेण परिव्राजकेन न किमपि जल्पितम् । तदा सर्वं वृत्तान्तं *गुणधर*-मुखादाकर्ण्य 'सर्वदोषः कापालिकस्यैव' इति ज्ञात्वा सहसा क्रुद्धेन कुमारेणोचे - 'रे दुष्ट पापिष्ठ निर्घृण ! इमं रङ्कम् अग्नौ कुतः क्षिपसि ?' । इति निर्भर्त्स्य उत्तमकाष्ठवेष्टितां स्नुहिं तच्छीर्षे मुक्त्वा स परिव्राजक एव वह्नौ क्षिप्तः । तदा तत्क्षणमेव स्वर्णमयः पुरुषो बभूव । सन्तुष्टेन राजपुत्रेण गृहीत्वा सेवकान् कथयित्वा स एकस्मिन् स्थले गोपायितः, स्वल्पं च शम्बलं दत्त्वा *गुणधरो* विसर्जितः ।

अथ 'मृत्युमुखाद् राजकुमारेण मोचितोऽहम्' इति ध्यायन् *गुणधरो* निजग्रामाभिमुखं चलितः । मार्गे गच्छतस्तस्य कश्चिद् मन्त्रवादी पान्थो मिलितः, तेन साकं गोष्ठी जाता । *गुणधर*स्तस्मै सर्वां कथां कथितवान् । ततस्तावुभौ कस्मिंश्चित् सन्निवेशे समागतौ। तत्र यदा भोजनवेला जाता तदा मन्त्रवादी *गुणधर*मवादीत् -

'किं भोजनं वाञ्छसि?'। तेनोक्तम् - 'मनोमोदकान् सिंहकेसरमोदकान् वाञ्छामि । परमत्र ते कुतो भवेयुः ? विद्यन्ते चेत्तर्हि यथेच्छं भुञ्जीय'। ततः सिद्धपुरुषेण क्षणं ध्यानं ध्यात्वा मन्त्रसाधनतो यथोक्ता मोदका उत्पादिताः । तद् दृष्ट्वा *गुणधर*स्तथाऽन्ये पान्थजना विस्मिता बभूवुः । ततो गुणधरं पथि स्थितांश्च दुःस्थान् सम्भोज्य स्वयं बुभुजे । एवं सन्ध्यायां घृतपूरेण, पुनः प्रगे क्षैरेय्या, सन्ध्यायां च खर्जकैर्भुक्तवन्तौ तावुभावपि । अथ तन्माहात्म्यचमत्कृतो *गुणधरः* सिद्धमपृच्छत् - 'हे स्वामिन् ! इयं महाशक्तिस्त्वया कुतः प्राप्ता ?' । ततः सिद्धेनोक्तम् - ''महादारिद्र्याऽर्दितेन मया बहुषु देशेषु भ्रमता क्वाऽपि कापालिको मन्त्रमूर्त्तिर्दृष्टः । तस्य मया बहुः सेवना कृता । तेन तुष्टेन मम वेतालमन्त्रोऽद्भुतो दत्तः, मया च साहसेन साधितः । तस्याऽयमखिलः प्रभावोऽस्ति। गृहं गत्वा विधास्यामि सर्वसंपत्तिम्''। इति वार्त्तयन्तौ काञ्चिद् भुवं गतौ, तत्र पृथक् पृथक् पन्थानौ । ततः सिद्धेन प्रोक्तम् - 'हे सखे ! तवासन्नो देश इतो वामभागेऽस्ति, मया तु दक्षिणेन गन्तव्यम्, अधुना आवयोर्विरहो भविता । तद् वद, किं ते ददामि? कोटिदाने क्षमोऽस्म्यहम्' । किन्तु कोटिलाभेऽप्यसन्तुष्टः स तन्मन्त्रममार्गयत् । ततः सिद्धेन् प्रोक्तम्- 'धर्मिणा साध्योऽयं मन्त्रः, प्राणापहोऽन्यथा' । इति बोधितोऽपि यदा कदाग्रहान्नो निवृत्तस्तदा दाक्षिण्यनिधिना सिद्धेन मन्त्रः प्रददे। *गुणधरेणा*पि सादरं गृहीतः । विधिं कथयित्वा सिद्धः स्वस्थाने गतः । *गुणधरो*ऽप्यग्रे चलन् स्वदेशपर्यन्तस्थिते *सुसीमनगरे* गतः। तत्र मातुलस्याऽऽलयं प्राप्तः, कञ्चिच्च कालं सुखी स्थितः । अथैकदा

मातुलस्याग्रे विद्यासाधनविधिं कथयित्वा कृष्णचतुर्दशीरात्रौ श्मशाने गत्वा त्रिकोणं कुण्डं कृत्वा विविधहोतव्यैराहुतिं दत्त्वा जापं कर्त्तुं लग्नः। नानाबिभीषिकाभिश्च स यावन्न क्षुब्धस्तावद् भूचक्रं चक्रवद् भ्रान्तं, रौद्ररवश्चाऽभवत्। तेन तस्य स्खलितचित्तस्य विद्यापदमेकं विस्मृतम्। तदा वेतालेन छलं लब्ध्वा प्रोक्तम् - 'रे रे पापिष्ठ! अनेन सत्त्वेन मां साधयितु-मिच्छसि ?'। इत्युक्त्वा लकुटैस्ताडितः, लकुटघातमूर्च्छितश्च श्मशानतो बहिस्त्यक्तः। प्रभाते मातुलेन पश्यता लब्धः। कतिपयैर्दिनैर्यदा स्वस्थोऽजनि तदा मातुलेन *जयस्थले* नगरे नीतः, निजैश्च आश्वासितः। परन्तु खलैः 'निर्भाग्य-शेखरोऽयम्' इति हस्यमानो लज्जाऽतिशयतः स्वां निन्दामसहमानो रज्ज्वाऽऽत्मानम् उद्बध्य दुर्ध्याननिरतो मृत्वा नरके समुत्पन्नः। ततो निर्गतस्तिर्यगयोनौ भ्रमिष्यति। पुनर्नरक-तिर्यगमर-नरगतौ बहुधा दुःखं लप्स्यते।

गुणाकरस्तु रत्नाकर इव श्रीमान् समर्यादो घनाशाः पूरयन् पोतशोभितश्चिरं शुशुभे। *गुणधरस्य* चेदृग् मरणं श्रुत्वा विशेषतो वैराग्यवान् पञ्चममणुव्रतं निरतिचारं प्रपाल्य समाधिमरणं कृत्वा स्वर्गं गतः, क्रमेण च मोक्षं प्राप्तः। इत्थं पञ्चमाऽणुव्रतोच्चारा-ऽनुच्चारोद्भवान् गुणान् दोषांश्च विज्ञाय भो भो महानुभावाः! विवेकमादाय परिग्रहपरिमाणं कुरुध्वम्"।

॥इति गुणाकरगुणधरयोः कथानकम्॥

ततो बुद्धाभिः मद्भार्याभिः मुनिपार्श्वे इच्छापरिमाणं पञ्चमाऽणुव्रतमगृह्यत। ततोऽहं 'गुणदे धर्ममूर्त्तौ मया दुष्टं चिन्तितम्' इति मनसि चिन्तयन् मुनिपार्श्वे गत्वा तत्पदोर्लग्नः। निजापराधं सर्वं कथयित्वा क्षमयित्वा च व्यजिज्ञपम्- "हे भगवन् !

हास्येनोक्ते मुनौ प्राप्तं, विष्टुना दारुणं फलम्।
ततोऽहं निस्तरिष्यामि, कथं प्रद्वेषदूषितः ? ॥४५॥

मुनिराह महापाप-मिदं यद्ब्रह्मचारिषु।
त्रिजगज्जनमान्येषु, दुर्ध्यानं सौम्यसाधुषु ॥४६॥

नेदं निस्तरितुं शक्यं, तद्गुणाचरणं विना।
पुनर्मन्दीभवेन्निन्दा, गर्हा सद्गुरुभक्तिभिः ॥४७॥

अन्यच्च, हे महाभाग ! त्वं संसारस्याऽसारतां हृदि भावय, वैराग्यं विमृश, काम-भोगानां सुखं दुर्गतिदायकं जानीहि, देहादि-सर्वसंयोगं चाऽनित्यं विलोकय। तथा मृत्युं प्रत्यर्थिनमप्रस्तावपातिनं चिन्तय, तुच्छसांसारिकसौख्यत्यागेन सर्वथैकान्तकान्तमुक्ति-सुखप्रदं संयमं गृहाण, परनिन्दां मुञ्च, शमाऽमृतेन स्वं हृदयं सिञ्च, क्रुधं वञ्चय, सुधावहं सन्तोषं भज, लोभम् उत्सृज, जने स्वात्मप्रशंसां त्यज, मायां वर्जय, मदं वारय, आलस्यं त्यज, निर्मलं च संयमं भज; येन कर्मपञ्जराद् विमुच्येत"। इति सुधास्य-न्दिमुनिवाक्यैः हे कुमार ! मम शरीरगं मोहविषं नष्टं, विवेकेक्षणं विकसितम्। चिन्तितं च मया -

अद्याऽचिन्त्यमहाफलेन फलितो मानुष्यकल्पद्रुमः,

संसाराम्बुधिमज्जताऽद्य कलितं सद्यानपात्रं मया ।
विद्याऽद्याम्बरगामिनी शिवपुरे गन्तुं च लब्धा मया,
सत्साधुर्यदयं तपःकृशवपुः प्राप्तो मदीये गृहे ॥४८॥

इति प्रमोदकलितेन मया सर्वमसारं ज्ञात्वा सकलाः प्राणप्रियाः सम्बोध्य ताभिर्वैराग्यलग्नाभिः सह सप्तक्षेत्रेषु घनं धनं वितीर्य तन्मुनिगुरूणां श्रीसिंहसेनसूरीणां पार्श्वे दीक्षा कक्षीकृता । तेषां सद्गुरूणां प्रसादेन प्राप्तोऽहं शुद्धगुण-लक्ष्मीम्। यतः -

[1]टोलुव्व टलटलंतो, अहियं विन्नाणनाणनिलएण ।
देवुव्व वंदणिज्जो, कओ म्हि गुरुसुत्तहारेण ॥४९॥

हे *पूर्णचन्द्रकुमार*[2] ! अयं वैराग्यस्य विशेषस्तवाऽग्रे मया कथितः" । इति श्रीसूरिचरित्रं[3] प्रबुद्धो [4]नरपतिर्मुनिपतिं प्रति प्राह-

त्वं धन्योऽसि सपुण्योऽसि, त्यागिनां च त्वमादिमः ।
श्रियः स्त्रियस्तादृशीश्चा-ऽजीगणस्तृणवद् यतः ॥५०॥

"हे भगवन् ! मादृशाः क्लिबा जीवा विषय-कषायेभ्यो कदापि न विरमन्ति । भोगाः शब्द-रस-रूप-गन्ध-स्पर्शरूपाश्चिरं भुक्ता, यथा धनिनां गृहे दरिद्रश्चिरं भुङ्क्ते । परं हे मुनिपते ! त्वदन्तिके निरवद्यां तत्त्वविद्यामद्य सद्य आसाद्य सदा हृद्यां संयमश्रियं ग्रहीष्ये" । इत्युक्त्वा नगरे गत्वा *पूर्णचन्द्रकुमारः* पित्रा महामहोत्सवेन

1. पाषाण इव टलटलन्, अधिकं विज्ञानज्ञाननिलयेन ।
देव इव वन्दनीयः, कृतोऽस्मि गुरुसूत्रधारेण ।।

2. अत्र सम्बन्धो द्रष्टव्यः २०२ पत्रे । 3. श्रीसुरसुन्दरसूरिचरित्रम् ।

4. पूर्णचन्द्रस्य पिता सिंहसेनः ।

सर्वसामन्ताऽमात्य-सेनापतिसाक्षिकं राज्येऽभिषिक्तः । अथ तेन नव्यनृपेण कृतमनोज्ञदीक्षामहोत्सवः *सिंहसेनो* महाराजः श्रीसूरीणां समीपे प्राव्राजीत् । स गृहीतद्विविधशिक्षः शान्तो दान्तो महाव्रतरतः षष्ठा-ऽष्टमादि तपस्तपन् महामुनिरभूत् ।

।।इति श्री सुरसुन्दराचार्य कथानकम्।।

अथ *पूर्णचन्द्रनृपो*ऽपि शुद्धधर्मधुरन्धरो धराधरवत् स्थिरताधारी सर्वसम्पद्धारकोऽभूत् । न्यायमार्गेण प्रजाः पालयन्, कर्पूरपूरशुभ्रं च यशो दधद् राज्यश्रियं भोक्तुं प्रवृत्तः । अणुव्रतस्थितिं दृढां चकार । ज्ञान-दर्शनहेतवे सदाचारान् समितिप्रगुणान् अर्जितक्षमांश्च भटान् एष ऐच्छत् । सदा तुरङ्गमसंशोभी, रणवार्त्तया हृष्टो, गुप्तिरक्षणनिष्णातः, पुण्यमनोरथान् बिभ्रद्, गुणशिक्षारतो, दीनानां साहाय्यं कुर्वन्, सदा आत्मशासनोद्योती, परशासनं वारयन्, पदार्थानां सङ्ग्रहीता, अन्तःपुरविचारकृद्, धर्मसंसर्गतः सुखं रिपुचक्रं च वशीचक्रे । तयोर्दम्पत्योर्भोगानुरक्तयोः कियति कालेऽतिक्रान्ते *वीरोत्तरः* पुत्रो जातः । स च क्रमेण वर्धितो यौवराज्ये निवेशितः । अथ सा *पुष्पसुन्दरी* राज्ञी सम्यक्त्वपूर्वक-पञ्चाऽणुव्रतधारिणी शुद्धभावा परमश्राविकाऽजनि । एकदा *पूर्णचन्द्रो* नृपः प्रवृत्तिकथकान्नरात् पितरं मुक्तिगतं श्रुत्वा परमविषाद-संयुक्तो भावनां चकार - 'धन्यो महानुभावोऽयं मम पिता महामुनिः, येन कोमलाङ्गेन दुष्करं कार्यं साधितम् । अहं तु पापासक्तोऽल्पसत्त्वो जरां प्राप्तोऽपि विषयलोलुपो देहादीनामनित्यतां जानन्नपि जैने धर्मे प्रमाद्यामि' । इति सचिन्तो नरपतिः *पुष्पसुन्दर्या* राज्ञ्या अभाणि - "हे नाथ ! अनुद्यमेन खेदेन किम् ? । निःसत्त्वा नार्यः

शोचन्ति, परं हे स्वामिन्! नराः कार्योद्यता भवन्ति। ततो यावज्जीवं राज्यचिन्तां त्यज, ब्रह्मव्रतमपि जीवितकालपर्यन्तं भज, यावद् निस्तन्द्रः *सुरसुन्दरः* सूरिः समागच्छेत्। तस्मिन् समागते सति स्वमनोरथान् साधयेः" । तन्निशम्य नृपेणोक्तम् - 'हे प्रिये ! त्वया साधु प्रोक्तम्' । इति स्तुत्वा, अथ भूपती राज्यचिन्तां सुते न्यस्य राज्यव्यापारवर्जितो जिनेन्द्रपूजां करोति, सामायिकमादत्ते, क्रियारतः पौषधव्रतमखण्डं करोति। सत्त्ववानसौ महीपतिर्निर्ममत्वं चेतसि भावयति । राज्ञ्यपि तपसा कृशा धर्मक्रियारता बभूव । एवं तावुभौ दम्पती गुरुं प्रतीक्षेते ।

अथाऽकाण्डे प्रचण्डाऽतिसारोग्रवेदनार्दितः *पूर्णचन्द्रो* महीपतिर्देहगेहनिरीह इति भावनामभावयत् - "ते देश-पुर-ग्रामा धन्या येषु श्रीसूरयो विहरन्ति, ते मुनयोऽपि धन्या ये तत्पदद्वयं सेवन्ते। यस्मिन् दिने श्रीगुरुपदाम्भोजे रंस्ये तद्दिनं मे कदाऽऽगमिष्यति ?. गुणैर्वर्यां साधुचर्यां मुदा कदाऽऽचरिष्यामि?, सुधारस-सम्पूर्णस्य च श्रीगुरुमुखविनिर्गताऽऽगमतत्त्वस्य कदा पानं करिष्ये?। यतः -

संसारकान्तारविहारभीतः, सदा शमारामनिवासचित्तः।
तृणे मणौ तुल्यमनश्च कृत्वा, कदा श्रयिष्यामि सुसाधुतामहम् ॥५१॥

इहाऽपि सन्तापभरं हरन्ती, प्रक्षालयन्ती परतोऽपि पङ्कम् ।
सिन्धुः सुधानामिव साधुगोष्ठी, पुंसां परां निर्वृतिमातनोति ॥५२॥

इति धर्मध्यानभावनां भावयन्, निदानादिरहितो, रुग्व्यथां सहमानः, त्यक्तमान-क्रोधादिकषायः, हृदि धृतपरमाप्तस्वरूपः स *पूर्णचन्द्रो* नृपतिः सन्मृतेस्त्यक्तकायः सुखभरगृहकल्पम् एकादशम्

आरणं नाम कल्पं प्राप्तः ।

राज्ञी *पुष्पसुन्दर्यपि* विज्ञा, तपसा कृशाङ्गी, श्रीमदर्हत्पाद-पद्मभृङ्गी च समाधियोगेनाऽऽराधनां कृत्वा गृहस्थभावेन मृत्वा सुखैरगाधे तत्रैवाऽऽ*रणे* कल्पे महर्द्धिको देवो बभूव ।

तत्रैकस्मिन्नेतयोर्वै विमाने,
चञ्चत्कान्त्योर्देवयोर्भासमाने ।
आसीदायुर्विंशतिः सागराणि,
स्फूर्जत्प्रोघत्सौख्ययुक्सुन्दराणि ॥५३॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां,
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते
श्रीपृथ्वीचन्द्र-चरित्रे गद्यबन्धे
सुरसुन्दरकथाकलितपूर्णचन्द्रराजाधिकारवर्णनो
नाम पञ्चमः सर्गः ॥

षष्ठः सर्गः

नरसिंहः	- मिथिलानरेशः, सूरसेन-जनकः
गुणमाला	- नरसिंह-भार्या
जयन्तः	- विद्याधरनृपः
जयवेगः	- जयन्तपुत्रः
रविकान्ता	- जयवेगपत्नी
धरः	- जयन्त-शत्रुः
किन्नरः	- धरपुत्रः
सूरसेनः	- नरसिंह-पुत्रः (पृथ्वीचन्द्र-जीवः)
मुक्तावली	- जयवेग-पुत्री (गुणसागर-जीवः)
चन्द्रसेनः	- सूरसेन-पुत्रः

श्री केवलिना सूरसेननृपाय कथितम् ईश्वरधनेश्वरयोः कथानकम् पृ. २६१-२६८

ईश्वरः	- श्रावकः
धनेश्वरः	- मिथ्यात्वी

रोगभट्टः/अरोगः	- धनेश्वर-जीवः
(अन्यभवः)	देवगुप्त-पुत्रः

षष्ठः सर्गः । (एकादश-द्वादशौ भवौ)

[1]नूतनजलधररुचये, देववधूटीसुनेत्रमुकुराय[2] ।
तस्मै पार्श्वाय नमः, संसारमहीरुहकुठाराय ॥१॥

पुण्यानुबन्धिपुण्येन, सुस्थितौ सुचिरं च तौ ।
उषित्वा च ततश्च्युत्वा, यत्प्राप्तौ तन्निशम्यताम् ॥२॥

श्रीमज्जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे दक्षिणभरतार्द्धे मध्यखण्डे *विदेह*नाम्नि जनपदे प्रसिद्धा *मिथिला* नाम पुरी अस्ति । यत्र बहिरन्तश्च सच्छायैः पुष्प-फलाढ्यैश्च आम्र-पुन्नागादिसद्वृक्षैर्विभूषिता आरामाः सदा राजन्ते । तस्यां मिथिलायां *नरसिंहाह्वो* नरपतिः, यस्य शब्दमात्रश्रवणेन शत्रुनृपगजास्त्रासं प्राप्ताः । तस्य शीललीला-विलासिनी निरस्तदोषजाला कलाकलापमनोहरा *गुणमाला* नाम पट्टराज्ञ्यस्ति । तया समं सरसान् कामभोगान् भुञ्जानस्य महीपतेः क्षणमिव बहुकालो जगाम ।

अन्यदा रहसि निविष्टे *नरपतौ* पुरचारेण नरेण समागत्य विज्ञप्तम् - "हे प्रभो! मयाऽद्य पथि चरता एवंविधः स्त्रीणां शब्दोऽश्रावि। यथा -

नरसिंहनृपो जीयात्, कयाऽप्युक्ते प्रगल्भया ।
अन्याऽऽह नरसिंहो नो, किन्त्वयं नरजम्बुकः ॥३॥

1. नवीनमेघवद् रुचिः-देहकान्तिर्यस्य, तस्मै ।
2. मुकुरः पुष्पकलिका दर्पणो वा ।

यः पुत्रधनवर्जितोऽपि निश्चिन्तः शेते भुङ्क्ते च, परं सामर्थ्ये सत्यपि मन्त्र-योग-कला-विद्यासामग्र्यामप्यनुद्यमी, स कथं नरसिंहः कथ्यते ? । यतः -

पुत्रं विना कुलं कीदृग् ?, मन्त्रहीना च का क्रिया ? ।
नेत्रहीनं तु किं रूपं, शीलहीनं च किं तपः ? ॥४॥

सत्पुत्रेण पित्रादयः शोभन्ते । यतः -

आनन्दं जनको बिभर्त्ति हृदये स्वास्थ्यं जनन्यद्भुतं,
तृप्तिं पूर्वजपूरुषाः स्वसुहृदो हर्षं विषादं द्विषः ।
प्रत्याशां च पितृष्वसाऽपि गुरवो देवाश्च पूजां परां,
स्तुत्याः स्युः स्वगुणा हि तत् सुतजनिः कल्पद्रुमेभ्योऽधिका॥५॥

नेपथ्यैर्विविधै रसैर्बहुविधैरुल्लापनैः क्रीडनै -
र्नामस्थापन-चूलिकादिकरणैरालिङ्गनैर्वाहनैः ।
विद्याऽध्यापन-कर्मकौशल-गुणारोपैश्च यो नन्दनं,
स्वस्मादप्यधिकं करोति स पिता कैर्नाम न श्लाघ्यते?॥६॥

इति चारपुरुषकथितं वार्त्तां श्रुत्वा निजे हृदि सत्यं मन्यमानो मन्त्रिणमाकार्य तनयाऽवाप्तये तदुपायमपृच्छत्। ततो मन्त्रिणा प्रोक्तम् - "हे स्वामिन् ! श्रूयते जनमुखाद् विचित्राऽम्बरधरो *योगीन्द्रः* समागतोऽस्ति, स च सर्वसामर्थ्य-युक्तोऽस्ति । भक्त्या तत्पार्श्वे सुतं मार्गयतां, यतस्तत्समानः कश्चित् प्रौढकार्यकरो द्वितीयो नास्ति" । इति श्रुत्वा तदा राज्ञा स समाहूतः । सोऽपि मत्तकरिवद् राज्ञोऽन्तिके समागतः । प्रौढासनोपविष्टोऽसौ नृपेण सत्कृतः । कथितं च- 'योगीन्द्र ! ते कियती शक्तिः ?' । योगी मनाग्

हसन्नवक् - "हे नृप ! पृच्छया किं प्रयोजनम् ? दुष्करमपि कार्यमादिश । यदि ते चित्ते रोचते तर्हि नागकन्यामानयामि, रिपुव्रजं वा ते चरणे नामयामि, यदि वा त्वन्मनःस्थं दूरगतमपि गजा-ऽश्वादिकमाहरामि"। ततो नृपेणोक्तम् - 'यद्येवं तर्हि नागेन्द्रस्त्रीं समानय' । ततस्तेन हृदि क्षणं ध्यानं धृत्वा रत्नाभरणभूषिता नागेन्द्रपत्नी समानीता । सा दिव्यां स्त्री 'आदिश' इति कथयित्वा योगिनः पुरः स्थिता । ततो योगिना प्रोक्तम् - 'हे भद्रे ! त्वं नृपस्याऽऽज्ञां कुरु' । तदा सा नागाङ्गना नृपसमीपे गत्वा कृताञ्जलिर्नृपं प्रति जगाद- 'हे स्वामिन् ! कार्यं समादिश' । ततो नृपेणोक्तम् - 'हे भद्रे ! का त्वं ? किमागता ?' । सा प्राह - 'नागेन्द्रभार्याऽहं, योगीन्द्रस्य गिरा नागलोकादिहागता' । ततो भूपोऽवक् - 'किमर्थम् ?' । सा प्राह - 'तदहं न वेद्मि' । ततो राज्ञा योगिनः प्रत्ययं मत्वा सा नत्वा विसर्जिता । अथ नृपो 'हे योगिन् ! त्वं महासामर्थ्यवानसि' इति योगिनं स्तुत्वा रहः स्थाने च नीत्वा स्वार्थमपृच्छत् । ततो योगिना प्रोक्तम् - "हे महाराज! महिमाम्बुधेर्मे इदं कियन्मात्रम् ? तीर्णाऽर्णवस्य पुंसः किं गोष्पदलङ्घनं दुष्करं भवति ? । अथ कृष्णचतुर्दशीरात्रौ खड्गं करे कृत्वा त्वमेककः पितृवने एहि यथा ज्वालिन्या देव्या तुभ्यमात्मजं दापयिष्यामि, त्वदभीप्सितमन्यद्वा कारयिष्यामि । अथवा तव सहायाद् ममाऽपि एतस्या अनुग्रहो भूयो भूयात्" । तच्छ्रुत्वा तुष्टेन भूभुजा तत् प्रपद्य विसृष्टोऽसौ योगी ।

ततो विज्ञैर्मन्त्रिभिः प्रोक्तम् - "अयमुपायो भव्योऽस्ति, तथाप्यस्य मनागपि न विश्वस्तव्यम् । यतः सर्वे जीवाः कर्माधीना

भिन्नस्वभावा भवन्ति, योगिनां तु विशेषेण न विश्वसनीयम् । यतः-

कृतघ्नो निर्दयः पापी, परद्रोहविधायकः ।
रौद्रध्यानपरो योगी, न विश्वासास्पदं सदा ॥७॥

नृपेणाऽपि तदङ्गीकृतम् । अथ प्रोक्तदिने सन्ध्यासमये सकृपाणो नृपः स च योगी, उभौ [1]पितृवनं प्राप्तौ । ततः शुद्धभूमौ दीपकं कृत्वा मण्डलमालिख्य योगिना नृपाय प्रोक्तम् - 'हे नृप! दक्षिणस्यां दिशि वटशाखाऽवलम्बितं मृतकमानय । तस्य जल्पतोऽपि त्वया प्रत्युत्तरं न देयं, त्वरितम् एतव्यं, कुतोऽपि च न भेतव्यम्' । ततस्तत्र गतो राजा सत्वरं वटशाखामारुह्य पाशं च छित्त्वा यावदुत्तीर्णस्तावत्तथैव तं शवं वटशाखास्थं ददर्श । ततो द्वितीयवारं शाखायां गत्वा बन्धनं छित्त्वा तं च लात्वा चलितः । तस्मिन्नवसरे शवस्थव्यन्तरेण कथितम् -

रे भूपाल ! शृगालोऽभू-र्मुक्त्वा धर्मं कुकर्मकृत् ।
त्यक्त्वा स्थानं श्मशानं चा-ऽऽयातः शवगणं स्पृशन् ॥८॥

हे भूपाल ! चेन्मां मुक्त्वा न यास्यसि तदा त्वां खण्डशः कृत्वा भूतानां बलिं करिष्ये" । इत्यादि जल्पित्वा तेन व्यन्तरेण बिभीषिकाकरैः[2] सहस्रै रूपैर्दर्शितैरपि यदाऽसौ न क्षुब्धः, तदा नृपस्य साहसात्तुष्टेन तेन पुनः प्रोक्तम् - 'हे वत्स ! प्रपन्ने कार्ये त्वं निश्चलोऽसि, तेन तव सत्त्वेन तुष्टोऽस्मि । किन्तु एकं सत्यं वचः शृणु । हे राजन् ! त्वं पुत्रार्थी असि, तुष्टोऽयं पुनर्योगी

1. श्मशानम् । 2. भयङ्करैः ।

स्वेष्टनिष्ठितः । सत्यमेतदाभाणकं जातम् - *अलीकजल्पिभिर्लुब्धो वञ्च्यते* । परं हे नृप ! दुष्टोऽयं योगी, त्वं तु सरलोऽसि । एष त्वद्देहस्य बलिं कृत्वा अस्मान् साधयितुमिच्छति । त्वं त्वाक्षिप्तोऽसि इन्द्रजालेन नागनारीनिरीक्षणात्, परं दुर्जनशेखरोऽसौ खलो दूरतः परिहार्यः । यतः -

दुर्जनानां कण्टकानां, द्वयोर्वृत्तिः समा कृता ।
उपानद्मुखभङ्गो वा, दूरतो वाऽपसर्पणम् ॥९॥

मृग-मीन-सज्जनानां, तृण-जल-सन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धक-धीवर-पिशुना, निष्कारणवैरिणो जगति ॥१०॥

क्षुद्राः स्वल्पाय कार्याय, महतां [1]व्यसनैषिणः ।
मक्षिकाणामभावाय, कुष्ठी सूर्यास्तमीहते ॥११॥

नीचेषु जन्तुषु प्रायो, रज्यते स्वामिनां मनः ।
यादृक् तैलेन तेजस्वी, दीपस्तादृग् न सर्पिषा ॥१२॥

[2]विघटयितुमेव नीचः, परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
[3]पाटयितुमेव शक्ति-र्नाऽऽखोरुद्धर्त्तुं सूत्रपटीम् ॥१३॥

तस्मादेतस्य खलस्य विश्वासं मा कुरु । पुत्रार्थं त्वं प्रयत्नं करोषि, तमपि मा कुरु । यतो मद्वाक्यतः सप्तरात्रान्तः सूर्य-स्वप्नोपलक्षितः सुतस्ते भविता । अथ प्रतिपन्नपालनाय प्रयत्नं न मुञ्चसि, तत्र च शवं नेष्यसि, तथापि त्वया मद्वाक्यमेकं

1. आपदभिलाषुकाः । 2. वियोजयितुम्-विनाशयितुम् । 3. आखोः-मूषकस्य सूत्रपटीं पाटयितुं-दारयितुमेव शक्तिः, न तु उद्धर्तुम्-सन्धातुम्।

सर्वथा कार्यम् । तस्य याचमानस्याऽपि त्वया स्वखड्गो नाऽर्पणीयः, खड्गवांस्त्वं मयि सहाये सति तस्य जेता भविष्यसि" । इति तस्य वचनं शृण्वन् शवं लात्वा नृपः साधकाऽन्तिकमगात् । तं योगिना दर्शिते मण्डले संस्थाप्य रक्तचन्दनेनाऽऽलिप्य करवीर-रक्तकुसुमैरभ्यर्च्य मण्डलमध्ये स्थापयामास । पुनर्योगिना प्रोक्तम्- 'हे नृप ! स्वं खड्गं त्वमस्य करे देहि' । स्मृतव्यन्तरगीर्नृपोऽवदत्- 'भो योगिन् ! सुभटाः स्वं खड्गं कस्याऽपि न ददते'। ततो योगिना प्रोक्तम् - 'देहि स्वाऽसिं त्वमस्यैव, अहं तव त्रायकः स्थितः, मम मन्त्रसिद्ध्यै लोहरक्षा विलोक्यते' । इति योगिना कथिते नृपेणोक्तम् - 'भोः तपस्विन् ! मयि रक्षके देवोऽपि कोपितुं न क्षमः, के पुनः क्षुद्रव्यन्तराः ? सुखेन त्वं स्वसाधनां साधय' । पुनरपि योगिना बहुधा कथितोऽपि नृपो यदा स्वाऽसिं न ददौ, तदा दुग्धपुष्टो दीर्घपृष्ठ[1] इव स दुष्टो रुष्टः प्रोवाच - 'रे कुनृप ! महान्तमायासं कारयित्वा मद्वचो नैव कुरुषे ?' । इति जल्पन् करालकरवालमाकृष्य नृपं प्रति धावितः । तद् दृष्ट्वा नृपेणोक्तम् - "हे पापिन् ! लिङ्गिनि[2] कथमहं घातं ददे? ततो मम दृष्टिपथाद् दूरे याहि, स्वं च जीवितं [3]पाहि । रे धूर्त्त ! लिङ्गिनो वेषं लात्वा विविधान् धार्मिकजनान् वञ्चयन् त्वमियत्कालं जीवितोऽसि, परमद्य त्वां यमाऽतिथिं कर्त्तुं सावधानोऽस्म्यहम् । रे मूर्ख ! त्वं मत्तनोर्वेतालसिद्धिमिच्छसि, किन्तु रे पाप ! स्व-परस्थां पुण्यप्रौढिं किं न वीक्षसे ?" । इति नृपोक्तिं श्रुत्वा 'कथमनेन ज्ञातम् ?' इति वितर्कवान् लिङ्गी भृशं लज्जितः ।

1. सर्पः । 2. साधो । 3. रक्ष ।

ततः स्वार्थसिद्धिर्न जातेति विलक्षः पश्चात्तापपरः स खड्गं दूरे त्यक्त्वा साञ्जलिर्नृपं प्रति कथयामास - "हे शूर ! एवंविधेन त्वद्वचसा मम हृदयस्थं सर्वमज्ञानं विनष्टम्, ज्ञानद्वारा च मयाऽधुना सत्याऽसत्यपदार्थसर्वस्वमज्ञायि । एतावद्दिवस-पर्यन्तमहं दुर्जन-संसर्गाच्चिरं भ्रान्तः, सम्प्रति युष्मत्कृपातो मया विवेकमार्ग उपलब्धः। तस्माद् गुरोः समीपे गत्वा युष्मद्वञ्चनजनितपापप्रायश्चित्तं गृहीत्वा परभवसाधनाय यतिष्ये । हे राजन् ! मया ते महानपराधः कृतः, तं क्षमस्व । अन्यच्च किञ्चिद् वच्मि तन्निशम्यताम् - मत्समीपे गुरुपरम्परयाऽऽयातो व्रणसंरोहणाभिधो मणिर्वर्तते, स च दुष्टकर्म-निवृत्तिकारकोपदेशदात्रे भवते मया दीयते" । एतन्निशम्य भूपो बभाषे - 'हे योगीन्द्र ! भवत्सदृशविवेकिजनस्य तु एतदेव कर्तुं योग्यम् । मया च यत् किञ्चिद्दुर्वाक्यं भवतामुक्तं भवेत् तत् क्षम्यताम्' । एवमाभाष्य विनयाऽवनतेन नृपेण मणिपूजनादिविधिं पृष्ट्वा स मणिर्गृहीतः । इतश्च द्वावपि प्रातर्मिथो भृशं क्षमयित्वा परार्थसाधने बद्धचित्तौ स्वस्वस्थाने गतौ । ज्ञातपरमार्था मन्त्रिणो हृष्टाः । नगर्यां महानुत्सवः कृतः सर्वे च लोका हर्षिताः ।

अथ आरणदेवलोकात् *पूर्णचन्द्रदेवो गुणमाला*राज्ञी-कुक्षिसरोवरे सप्तरात्रान्ते पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । स्वप्ने निर्मलं सूर्यमण्डलं दृष्ट्वा प्रबुद्धा सा प्रभाते राज्ञे व्यजिज्ञपत् । नृपेण व्यन्तरोक्त-वचनानुसारेण कथितम् - 'हे प्रिये ! नयनानन्दकारी तव नन्दनो भविष्यति' । तत् श्रुत्वा नव्याऽब्दे समागते मयूरीवत् सा परमानन्दं सम्प्राप्ता । ततः प्रयत्नेन गर्भं पालयन्त्यास्तस्याः सप्तमे मासे

'समग्रसैन्यसमूहसहिताऽहं राज्यलीलां वनक्रीडां च करवाणि' इति दोहदोऽभूत् । विज्ञातवृत्तेन राज्ञा सामन्त-मन्त्रि-सेनापतिभिः समं सकलां सेनां सम्मेल्य सा गुणमाला राज्ञी नायकत्वे न्ययोजि, स्वयं नृपोऽपि च सामन्तत्वं बिभ्रत् सुहृद्भिः समन्वितस्तस्याः पुरोऽगात् । *स्नेहेन पुमान् किं किं न करोति ?* । यतः-

काऽसावाज्ञा यत्र कार्ये विचार्यं,
तत्किं दानं यत्र वेलाविलम्बः ? ।
का सा प्रीतिर्यत्र काऽप्यप्रतीतिः,
तत्किं सौख्यं यत्र कोऽप्यन्तरायः ? ॥१४॥

सा *गुणमाला* राज्ञी गन्धसिन्धुरारूढा, प्रौढाऽमात्यपरिवृता, सीमभूपालैः सेविता, तरुणीगणैः वर्णिता, अद्भुतं दानं ददाना, बन्दिवृन्दैश्च स्तूयमाना परमप्रमोदमापन्ना पुरसीमारण्यं प्राप्ता । तत्र च यथेच्छं वनक्रीडामकार्षीत् ।

अत्रान्तरे काञ्चिद् रमणीं करुणस्वरेण रुदतीं निशम्य राज्ञी नृपं जगौ - "हे स्वामिन् ! शब्देन मया ज्ञायते काचिद् विद्याधरी सविलापं रोदिति, ततस्तत्समीपे गत्वा कश्चिदुपकारः क्रियते । यतः -

शास्त्रं बोधाय दानाय, धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय, धारयन्ति मनीषिणः ॥१५॥

इत्यादि जल्पन्तौ तौ तत्र गतौ, प्रहारविह्वलं च कञ्चिद् विद्याधरमपश्यताम् । तस्य पुरो दिव्यरूपां काञ्चिद् विद्याधरीमपि दीनाननां रुदतीं वीक्ष्य करुणाकरेण राज्ञा योगीन्द्रदत्तमणि-

प्रक्षालननीरेण सिक्तो विद्याधरः । तदैव सद्यः प्राप्तचैतन्यो विस्मितो विद्याधरो नृपं जगौ - 'अहो ! पुण्योदयोऽस्माकं यद् भवादृशानां सज्जनानामत्र सङ्गमोऽभवत्'। राजा प्राह- "भवादृशाः सत्पुरुषा धात्रा पुण्याऽणुभिर्निर्मिताः, परं भवतां भाग्यशालिनां व्यसन-मेतत्किम् ? । अथवा *संपदो विपदोऽपि च महतामेव, न तु हीनानाम् । यतः क्षयो वृद्धिश्च चन्द्रस्यैव, न तु भूयसामपि तारकाणाम् ।* तथापि हे बन्धो ! भवता दुःखवार्ता सविस्तरा मह्यं कथ्यताम्" । तदा विद्याधरेणोक्तम् - "हे सज्जन ! श्रूयताम् ।

देवताऽधिष्ठिते *वैताढ्य*नगोत्तमे उत्तरश्रेण्यां *रत्नधर्मपुरे जयन्तो* नाम राजा राज्यं करोति । तत्सुतो *जयवेगोऽहं* विद्या-पितृबलोद्धतः । तत्रैव *वैताढ्यो*त्तरश्रेण्यां *कुम्भपुरं* नाम पुरमस्ति। तत्र दर्पोद्धुरो *धरो* नाम नृपः, तेन मज्ज्येष्ठभगिनी मत्तातपार्श्वे मार्गिता, परं नैमित्तिकगिरा स्वल्पायुरिति जानता मत्पित्रा *धर*नृपाय कनी न दत्ता, अचलपुरेशितुश्च *अनङ्गवेग*विद्याधराय दत्ता । तत् श्रुत्वा कुपितो *धरो* राजा मत्पित्रा समं योद्धुं समागतः । जातं महारणम् । तस्मिन् स *धरो* नृपो मज्जनकेनाऽऽशु यमराजसेवनाय प्रेषितः । तदनन्तरं तत्पुत्रः *किन्नरनामा* निजजनकवैरनिर्वाहमिच्छन् मां द्विषत्पुत्रं ज्ञात्वा मामेव हन्तुं छिद्राऽन्वेषी सन् सर्वत्र बहुकाल-मितस्ततोऽभ्राम्यत् । अथैकस्मिन्नवसरेऽनया मम सधर्मचारिण्या साकं भवन्नगरसमीपस्थे वने क्रीडायै आगमम् । अत्र च प्रमत्तीभूय क्रीडन्तं मां प्रेक्ष्य स छिद्रं लब्ध्वाऽत्रागत्य तीव्रप्रहारैराहत्य नष्टः। तत्प्रहारैर्निश्चेष्टोऽहम् अपतम्, इयं च मन्महिला ममेदृशीं दशां

विलोक्य दुःखेनाऽरुदत्। एष मे सम्बन्धो ज्ञेयः" ।

तच्छ्रुत्वा राज्ञा प्रोक्तम् - '*प्रमत्ते घातदानं सतां नोचितम्*'। ततो *जयवेगेन* जल्पितम् - 'हे राजन् ! आपदः सम्पदो जाताः, यद् भवादृशां सज्जनानां समागमो जातः' । इति जल्पन्नसौ सभार्यो राज्ञा स्वावासे नीतः सत्कृतश्च। देव्या अनन्यसौजन्या-च्चमच्चक्रे सा खेचरी । 'पुनर्वा दर्शनं भूयाद्' इति राज्ञोक्तः सोऽगमद् गृहे । देव्यास्तु दोहदे पूर्णे नृपोऽपि मिथिला ययौ ।

अथ सा राज्ञी सुदिने पूर्णे च समये भासुरं सुतं प्रसूता । प्रभाप्राग्भारपिण्डितं स्मेरपद्माक्षं च तं शिशुं वीक्ष्य तोषादेषा प्रसवसम्भवं दुःखं विसस्मार । अथ सुतोत्पत्त्यनन्तरं सुमुखया चेट्या गत्वा नृपो वर्धापितः । राज्ञाऽपि तस्यै मुकुटवर्जितम् अङ्गलग्नम् आभूषणवृन्दं ददे । अथ नृपेण महादानं दापितं, गुप्तिमोचनं कारितं, निखिले पुरे वर्द्धापनं चाऽऽदिष्टम् । राज्ञ्याः पूर्वं सूर्यस्वप्नदर्शनात्, सप्तमे मासि सेनासहितराजलीलया वनक्रीडा-करणस्य दोहदोत्पन्नत्वात्, पुत्रस्य च शूरस्वभाववत्तया भूपतिना स्वजनसाक्षिकं *सूरसेन* इति नाम विदधे ।

अस्मिन्नवसरे *नरसिंह*नृपगृहे पुत्रजन्म श्रुत्वा *जयवेग*-विद्याधरो *रविकान्ता*प्रियायुक्तस्तत्रागतः । स च कुमारमद्भुतरूपं निरीक्ष्य प्रमोदभरपूरितहृदयः स्वभूषाभिस्तमभूषयत् । अथ विद्याधरी राज्ञीं प्रति कथितवती - "हे सखि ! नैमित्तिकेन मम कथितमस्ति यत् ते प्रथमगर्भः पुत्रीरूपो भविष्यति । यदि पुत्रिका भवेत् तदा तस्या अनेन कुमारेण सह पाणिग्रहणं कार्यम्" । इति प्रोक्ते

देव्याह – 'हे प्रियसखि ! देहमात्रेण भिन्नाऽस्मि, परं नाऽऽत्मना । ततो यत्ते रुचितं तन्ममापि रुचितमेव, नाऽत्र काचिद् विचारणाऽस्ति' । इति कथयित्वा राज्ञ्या खेचरी दान-मानेन भृशं सत्कारिता । राजाऽपि विद्याधराधिपतिं भृशं सन्तोषयामास। ततस्तयोर्द्वयोः पुंसोस्तथा द्वयोर्नार्योः दान-मानाभ्यां मिथः प्रीतिलता अमृतेन सिक्तेव भृशं प्रौढिं प्राप्ता । यतः –

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव, षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥१६॥

एवं प्रीतिं वर्द्धयित्वा तौ दम्पती *वैताढ्ये* गतौ स्वेच्छया भोगान् भुञ्जाते ।

अथ दैवनियोगात् *पुष्पसुन्दरी*जीवः सुरश्च्युत्वा *रविकान्ता*-विद्याधरीकुक्षौ पुत्रीत्वेन समुत्पन्नः । तस्मिन् क्षणे *रविकान्ता* स्वप्ने तुषारसारमुक्ताढ्यां, द्युतिद्योतितदिग्मुखां, पार्श्वस्फुरन्मणिं मुक्तावलीमैक्षत । सा क्रमेण गर्भं पोषयन्ती पूर्णे गर्भकाले पुत्रीमजीजनत् । रक्तोत्पलवद् रक्तपाणिपद्मां इन्दीवरेक्षणां पूर्णेन्दुमुखीं च तां निरीक्ष्य पितरौ मुदितौ । ततः पित्रा सुतजन्मवत् पुरमहोत्सवः कारितः, मात्रा च स्वप्ने मुक्तावलीदर्शनात् पुत्र्या *मुक्तावली* इति नाम दत्तम् ।

तयोः कुमार-कुमार्योः धात्रीभिः पाल्यमानयोः, क्रमेण गृहीतकलयोः प्राप्तयौवनयोः, अर्हत्-साधु-श्रावकभक्तयोः, चन्द्रोज्ज्वलयशसोः, तीव्रविषयवासनाविमुक्तयोः, जनानन्दं च ददानयोः कियान् कालो गतः ।

अथ *जयवेगो* विद्याधराधिपः स्फुरत्कुण्डल-केयूर-किरीटैः खेचरैः सार्द्धं विमानैर्नभोऽङ्गणं छादयन् *मिथिलां* प्राप। *नरसिंह*नृपोऽपि महताऽऽडम्बरेण ससैन्यं विद्याधराधिपं सन्मानकरणपूर्वकमुत्तारकाणि दापयामास । अथ राज्ञा *मिथिलापुरी* विशेषेण शोभां प्रापिता स्वर्गपुरीसमा जाता । वणिग्जनैर्हट्टावली मण्डिता, नर्त्तक्यो यत्र नृत्यन्ति गायन्ति च, विविधाऽऽतोद्यानि नदन्ति, भूचर्यः खेचर्यश्च गायन्ति । एवं मिथिलापुर्यामनेकविधे कौतुके वर्त्तमाने पितृभ्यां महर्द्धिविस्तरेण तयोः *सूरसेनमुक्तावल्यो*र्विवाहः कृतः । करमोचनाऽवसरे खेचरेश्वरेण बहूनि रत्न-सुवर्णकोटीनि द्रव्याणि दत्तानि । ततः प्राणभूतां सुतां विनयादिशिक्षां दत्त्वा भार्यासहितो *जयवेगः* प्रसन्नीभूय स्वप्रियायुक्तो निजे पुरे प्राप्तः ।

कुमारोऽपि प्राग्भवप्रेम्णा पत्न्याः पितृवियोगजं दुःखं गीत-नृत्य-पत्रच्छेद्यादिकलाविज्ञानैर्निरस्यति स्म ।

अथाऽन्यदा कन्यया सोऽवादि - 'हे स्वामिन् ! मम मनोविनोदाय प्रश्नोत्तरं पृच्छ । ततः कुमारेण प्रोक्तम् -

किं विश्वजीवनं प्रोक्तं, सामर्थ्ये चास्ति किं पदम् ? ।
उपमानं किमत्रास्ति, कान्ते ! ते वदनस्य च ? ॥१७॥

तया प्रोक्तम् - 'हे कान्त ! कमलम्' । कम् नाम जलं-अलं नाम समर्थः, मुखस्योपमानं च कमलम् ।

पुनस्तत्प्रेरितेन कुमारेण कथितम् -

का एका जायते शुक्ति-सम्पुटे स्यातिवारितः ? ।
क एकोऽपि रिपून् हन्ति, का भूषा हृदयस्य मे ? ॥१८॥

तया प्रोक्तम् - '*मुक्तावली*' । स्वातिवारितः शुक्तिसम्पुटे मुक्ता-मौक्तिकं सञ्जायते इत्यर्थः । बवयोरैक्यम्, इति बली नाम बलिष्ठः पुमान् एकोऽपि रिपून् हन्ति । कुमारस्य च हृदयभूषा *मुक्तावली* ईक्ष्यते ।

पुनः कुमारेणोक्तम् - 'हे वराङ्गि ! साम्प्रतं त्वं पृच्छ' । इति श्रुत्वा सा प्रोवाच -

हरिः कां जलधेर्लेभे, कीदृगन्नं न पुष्टिदम् ? ।
प्राणेशस्योपमानं किं, हस्तयोः पादयोरपि ? ॥१९॥

कुमारेण प्रोक्तम् - 'तामरसम्' । हरिः-कृष्णः, ताम्[1] नाम लक्ष्मीं उदधेः प्राप्तवान् । कीदृगन्नं न पुष्टिकारकम्? अरसम्-रसवर्जितम् । प्राणेशहस्त-पादयोरुपमानं तामरसं-रक्तकमलोपमानं दीयते । पुनरपि तया प्रोक्तम् -

कन्दर्पः किल कीदृक्षः, आधारो जगतां च कः ? ।
कः पद्मिन्याः प्रियः प्रोक्तो, मन्मनोमोहनोऽपि कः ?॥२०॥

कुमारेणोक्तम् - 'अहमेव सूरसेनः स्मृतः प्रियया' । यतः सूरः-कन्दर्पः, स हि शूरवीरोऽस्ति । जगतामाधारः सूरो नाम सूर्यः, यतः स सर्वाधारभूतोऽस्ति । पद्मिन्याः-कमलिन्याः पतिः सूरो नाम सूर्यः, यतस्तस्य करैः-किरणैः सा विकस्वरा जायते। मन्मनोमोहनः-मुक्तावलीमनोमोहनः *सूरसेनकुमारः*, यतः स्त्रीणां भर्तैव मनोमोहनो भवति ।

---

1. "लक्ष्मीः पद्मा रमा या मा, ता सा श्रीः कमलेन्दिरा ।
हरिप्रिया पद्मवासा, क्षीरोदतनयाऽपि च" ॥१॥ इति भगवान् हेमचन्द्रः ।

तयोरित्यादिमनोहरोक्तिसुधास्वादैकरक्तयोः क्षणवद् बहुकालो गतः ।

अथाऽन्यदा *नरसिंहो* नरपतिः स्नानं कृत्वा अलङ्कारान् परिधाय हर्षोत्कर्षाद् आदर्शगृहे देहशोभाविलोकनार्थं गतः । तत्राऽऽदर्शे स्वकीयं रूपं पश्यन् भवाद्विरक्तः स्वचेतसीति व्यचिन्तयत् - "ये यौवनकालेऽलि-कज्जलाभाः केशा अभवन्, अधुना वृद्धकाले ते कचा मूर्ध्नि कर्पासतुल्याः समजायन्त । यद् अष्टमीचन्द्रसमाकारं भालं प्रभाऽलङ्कृतं, तत्तु जर्जरखर्जूरीयपत्रमिवेक्ष्यते । ये चक्षुषी विकसितेन्दीवरदलतुल्यतामधत्तां, ते अधुना कश्मलाऽम्बुबुद्बुदोपमे जाते । यौवने रत्नादर्शाविव मनोहरौ मांसलौ च यौ गल्लौ, तौ सम्प्रति ज्वलज्ज्वालासंतप्तकुतुपौ इव सकूपकौ दृश्येते। तरुणाऽवस्थायां वक्त्रे ये कुन्दविशदा मित्रवन्निरन्तरा दन्ता अभवन्, तेऽधुना रणाङ्गणे दुष्टसेवकवद् विरला जाताः । यौ नगरगोपुरपरिघोपमौ भुजावभूतां, तौ धौतनिश्च्योतितवस्त्रवद् वलिकलितौ जातौ । मत्स्याभमुदरं चर्मभस्त्रेवाऽजनि । करिकरस्थूले जङ्घे अधुना काकजङ्घे इव जाते । किं बहूक्त्या ? सर्वयत्नतो लालितोऽप्ययं देहो धनक्षये कुमित्रवत् कृतघ्न इव दृश्यते । यतः -

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं, पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते, तृष्णैका तरुणायते ॥२१॥

अहो ! मयाऽज्ञानिना अस्याऽसारस्य देहस्य कृते बहुकालं क्लिष्टं, न तु आत्महितं किमपि कृतम् । यतः-

नाराद्धं निजपूज्यपादकमलं सम्यग् न धर्मः श्रुत-
स्तत्त्वं नो विहितं न चेन्द्रियदमो नैते कषाया जिताः ।
न ध्यानं न कृपा न दान-तपसी नाऽन्योपकारः कृत-
स्तीर्थे न द्रविणव्ययो मम मुधा गच्छन्ति ही ! वासराः ॥२२॥

इति ध्यायन् जातजातिस्मृतिर्*नरसिंहो* नृपतिः प्रत्येक-बुद्धोऽजनि । ततः स सिंहवन्महापराक्रमी पञ्चमुष्टिलोचं कृत्वा संयमं गृहीत्वा देवताऽर्पितमुनिवेषो गृहगह्वरान्निष्क्रान्त एकाकी निर्भयः स्वेच्छं *भरत*क्षेत्रकानने विचचार ।

अथ *सूरसेनकुमारः* स्वचेतसि भृशं शोचन् मन्त्रिवर्गेण वारितः, महाराज्ये चाऽभिषिक्तः । ततो राजाऽजनि । यतः-

कीर्त्या चन्द्रायमाणो निजयुवतिमुखाब्जे च हंसायमानो,
धाम्ना सूर्यायमाणः स्वजनहितकृतावेष तातायमानः ।
स्फूर्त्या सिंहायमानोऽभिमतवितरणे कामकुम्भायमानो,
राज्यं लीलायमानोऽप्यकुरुत सुचिरं मार्गणैर्गीयमानः ॥२३॥

एवं राज्यं कुर्वतो *मुक्तावल्या* च सार्द्धं विषयसुखं भुञ्जानस्य *सूरसेन*महीपतेर्बहुकालो गतः ।

अथाऽन्यदा *मुक्तावल्या चन्द्रसेननामा* कुमारः प्रसूतः । स द्वितीयाचन्द्रवद् दिने दिनेऽवर्धिष्ट । तेन कुमारेण क्रमेण सर्वा अपि कला अभ्यस्ताः, श्रिया पावनं यौवनं च प्राप्तः । ततः पितृभ्याम् अष्टौ सत्कन्याः परिणायितः । स भोगान् भुञ्जानोऽभिरमते । अत्रान्तरे शरत्कालः समागतः । तस्य वर्णनम् -

निष्पन्नधान्यभरपूरितचित्ततोषाः,
सम्पन्नचन्द्रकिरणोज्ज्वलचारुदोषाः[1] ।
प्रायो जनाः प्रमुदिताश्च दिवीव देवाः,
क्रीडन्ति यत्र हि वनेषु गृहेऽङ्गना वा ॥२४॥

परिमलमिलितालिर्मालतीपुष्पमाला,
सुरभिरसविमिश्रं चन्दनालेपनं च ।
[2]तुहिनकिरणरश्मिश्चञ्चला चाऽपि दोला,
शरदि सुखविभूत्यै कामलोला मृगाक्षी ॥२५॥

तस्मिन् काले *बन्धुजीव*नाम्ना मन्त्रिणा विज्ञप्तम् - 'हे महाराज ! हयानां विक्रायका दूरदेश्या बहवो व्यापारिणो भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः समायाताः सन्ति, ततो हे विभो ! परीक्षार्हान् हयान् लात्वा ते द्रुतं विसृज्याः' । इति प्रधानोक्तं निशम्य हयारूढो नृपस्तानाहूय नगराद् बहिर्गतः । तत्र वाह्याल्यां चिरं विविधानश्वान् वाहयित्वा ततस्तापतप्तो नरपतिः सप्तच्छदच्छायायां स्थितः । अस्मिन्नवसरे तत्र स्वस्थचित्तं, लम्बभुजं, नासाऽग्रन्यस्तनयनयुगलं, प्रशान्तमूर्तिं, सूर्याभिमुखं च तपस्तपन्तं मुनिं वीक्ष्य, तत्र गत्वा भक्त्या नत्वा तद्रूपलावण्यं च दृष्ट्वा मोहितो महीपतिः स्तुतिं चक्रे। यथा -

त्वं धन्योऽसि मुने ! येन, मदनो दुर्जयो जितः ।
प्राप्तोऽस्मादृशदुष्प्रापा, निःसीमाः शमसम्पदः ॥२६॥

रत्नत्रयोपार्जनसावधान !, जितेन्द्रिय ! मोहजयैकतान ! ।

1. दोषा रात्रिः । 2. तुहिनकिरणः चन्द्रः ।

[1]सुपर्वणामप्यभिवन्दनीयं, नतोऽस्मि ते पादयुगं मुनीश ! ॥२७॥

इति मुनिं स्तुत्वा प्रमोदवान् सेवापरायणश्च महीपतिः सपरिवारो हस्तकमलं संयोज्य सद्भक्त्या तस्याऽग्रे सन्निविष्टः । मुनिरपि ध्यानं प्रपूर्य धर्मदेशनां चकार -

"हे राजन् ! निशम्यताम्। सकर्णः पुमान् रोगेष्विव भोगेषु मतिं न कुरुते, यतो भोगा असारा अस्थिरा अशुचयोऽतृप्तिका रोगमूलं प्रेत्य च दौर्गत्यदुःखदाः । पुनर्विषया भोगकाले मधुराः, परन्तु विपाककालेऽतिकटुकफलदाः, ततो विवेकिभिर्न सेवनीयाः। यतः -

आदौ माधुर्यरूपाः परिणतिकटुका ये च किम्पाकतुल्याः,
कण्डूकण्डूयनाऽऽभाः क्षणिकसुखकरा दुःखसंयोजिनोऽन्ते ।
मध्याह्ने [2]चैणतृष्णावदनृतमतिदा निष्फलायासमूलं,
भुक्ता दद्युः कुयोनिभ्रमणमपि महावैरिणस्तेऽत्र भोगाः ॥२८॥

हे राजन् ! नरकगतौ नारकाणाम् अतिदुःखितानां नास्ति भोगसामग्री । पशवस्तु निर्विवेकाः, न तेषां काऽपि तादृशी भोगसामग्री । नरेषु प्रियवियोग-रोगादिना मितकालिका भोगाः । सुरा अपि गुरुवियोगदुःखावहाः, अतस्तेष्वपि न शाश्वता भोगाः । तस्माद् भोगा बुधजनस्य मनः कथं रञ्जयेयुः ? । परन्तु तुच्छसत्त्वैरेव जनैर्बहुमानिताः । यतः-

भुक्त्वैव यान्तान् कलुषान् कटूंश्च, भोगानपूर्वानिव मन्यमानैः।
निर्णीतमाख्यानमिदं विरूढैः, खलो महार्घ्योऽकृत भूरिरङ्कैः ॥२९॥

1. देवानाम् । 2. मृगतृष्णावत् ।

इति मुनिगिरं निशम्य भोगेभ्यो निर्विण्णो नृपो मुनिं नत्वा गृहे गतः । स च मुनिगुणग्रामं स्मरन् रात्रौ सुप्तः, ब्राह्मे मुहूर्ते च गतनिद्रो देवदुन्दुभिस्वरं श्रुत्वा चिन्तितवान् - 'नूनं तस्य महर्षेः केवलज्ञानं समुत्पन्नम्' । इति चिन्तयन् प्रात*र्मुक्तावली*महाराज्ञी-युक्तो महताऽऽडम्बरेण मुनिपार्श्वे गतः । देवैः कृतमहोत्सवं साधुं दृष्ट्वा विशेषतो हृष्टः । ततः केवलिनं नत्वा स्तुत्वा च कृताञ्जलिर्मुने-र्वाक्यामृतं पातुं पावनाऽवनौ निषण्णः । अस्मिन्नवसरे तेजोनिर-स्ताऽर्कमण्डलो दीप्तकुण्डलो विस्मेरपद्मवदनो जयजयारवं कुर्वन् कोऽपि पुमान् साधोः पादयोर्निपत्य स्तुतिपरः स्थितः । तं दृष्ट्वा विस्मितेन राज्ञा केवली पृष्टः - 'हे भगवन् ! कोऽयं पुमान् ? कथं चाऽत्यन्तभक्तिमान् ?' । ततः केवलिना प्रोक्तम्-

ईश्वरधनेश्वरयोः कथानकम्

"हे नृप ! शुद्धसम्यक्त्वाज्जनः तीव्रभक्तिमान् स्यात् । पुनरपरमपि कारणं शृणु-पुरा *पद्मखण्डपुरे* धनेन धनदोपमौ *ईश्वर-धनेश्वर*नामानौ द्वौ वणिजौ जातौ । *तत्रेश्वरो* जैनधर्मसावधानः, *धनेश्वर*स्तु मिथ्यात्ववासनावासितः । तौ प्रातिवेश्मिकौ किञ्चित् स्नेहलौ, परं नित्यं दिवसस्याऽष्टमे भागे रात्रिदूषणपरिहारार्थं भुञ्जानमी*श्वरं* दृष्ट्वा कदाग्रहपरो *धनेश्वरो* निन्दति - "अहो ! अज्ञानं यज्जैना दिनमध्ये द्विर्भोजनं कुर्वते, परं सदा पवित्रं नक्तव्रतं कदापि नो कुर्वन्ति । यतः-

भुज्यमानं न भुक्तं तद्, रविणा दृश्यते न यत् ।
एकाशनोपवासादि-व्यवहारो दिनाश्रितः ॥३०॥

तत **ईश्वर**श्रावकेण प्रोक्तम् - "भो मित्र ! त्वं यथाश्रुतग्राही कदाग्रहवांश्च मुधा स्वात्मानं निबिडैः पापकर्मबन्धै-र्बध्नासि, बुद्धिमता तु विचार्यैव प्रवृत्तिः कर्तव्या । यतः -

विदुषा युज्यते कार्यं, गुण-दोषविचारतः ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च, स्वीकृता स्वेष्टसिद्धये ॥३१॥

तत्राऽप्यल्पदोषं यत् तदादेयं, बहुदोषकं च हेयम् । यथा ओदनादि भुञ्जीत धीमान्, मांसादिकं च वर्जयेत् । बहुदोषयुतं त्याज्यम्, यथा परधनहरणं परस्त्रीसेवनं च । स्वल्पदोषं तु सेवनीयं, स्वद्रव्यं स्वयोषिच्च । रात्रिभोजने तु बहवो दोषाः, अतस्तत् त्याज्यम् । यतः -

कुन्थु-कण्टक-काष्ठा-ऽस्थि-मक्षिका-कीटिकादयः ।
यथा दिने समीक्ष्यन्ते, दृश्यन्ते न तथा निशि ॥३२॥

रात्रौ भोजने व्यक्ता दोषाः, गुणस्तु अणुरपि नैव दृश्यते । दिवाशनेऽपि यदि तृप्तिर्न जाता तदा रात्रौ कथं भविता ? । ये निष्कलङ्कं दिवसभोजनं मुक्त्वा रात्रिभोजनं कुर्वन्ति, नक्तव्रतं च वदन्ति, तेषामेतद् अज्ञानविजृम्भितम्, यवनजनाऽनुचीर्णो मार्ग एषः । उक्तं च -

अदृश्यं रविणोक्तं यद्, गल्लकल्पितमेव तत् ।
दिव्यज्ञानी जगत्कर्म, स च पश्यत्यहर्निशम् ॥३३॥

भो *धनेश्वर* ! ये रात्रौ नैव भुञ्जते, तेषां जीवितार्धं तपः स्यात्; अन्येषां तु तिरश्चामिव चरतां याति जीवितम् । यतः-

ये रात्रौ सर्वदाहारं, वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य, फलं मासेन जायते ॥३४॥

भानोः करैरसंस्पृष्ट-मुच्छिष्टं प्रेतसंचरात् ।
सूक्ष्मजीवाकुलं चाऽपि, निशि भोज्यं न युज्यते ॥३५॥

चत्वारो नरकद्वाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् ।
परस्त्रीगमनं चैव, सन्धाना-ऽनन्तकायिके ॥३६॥

परशास्त्रेऽपि -

नोदकं चापि पातव्यं, रात्रावत्र युधिष्ठिर ! ।
तपस्विना विशेषेण, गृहिणा तु विवेकिना ॥३७॥

मृते स्वजनमात्रेऽपि, सूतकं जायते किल ।
अस्तं गते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ? ॥३८॥

रक्तीभवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि[1] च ।
रात्रिभोजनसक्तस्य, ग्रासे तन्मांसभक्षणम् ॥३९॥

चत्वारि खलु कर्माणि, सन्ध्याकाले विवर्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां, स्वाध्यायं च विशेषतः ॥४०॥

आहाराज्जायते व्याधिः, क्रूरगर्भश्च मैथुनात् ।
निद्रातो धननाशः स्यात्, स्वाध्यायान्मरणं भवेत् ॥४१॥

तत्त्वं मत्वा न भोक्तव्यं, रात्रौ पुंसा सुमेधसा ।
क्षेमं शौचं दयां धर्मं, स्वर्गं मोक्षं च वाञ्छता ॥४२॥

1. मांसानि ।

किञ्च -

[1]संपाइमसुहुमतसा, तीरंति न यारिउं तहिं जेण ।
पच्चक्खदंसिणो वि हु, तेण निसाए न भुंजन्ति ॥४३॥

इंदियविजओ[2] आरंभ-यज्जणं भोयणाइपरिसुद्धि ।
पसुभावपरिच्चाओ, दिणभुत्तीए गुणा होंति ॥४४॥

ततो भो *धनेश्वर* ! त्वं गुण-दोषान् ज्ञात्वा प्रवर्त्तन-निवर्त्तने कुरु, परं ग्राम्यपुत्रवत् कदाग्रहादनर्थं मा लभस्व। तथाहि -

ग्राम्यपुत्रकथानकम्

एकस्मिन् ग्रामे कस्मिंश्चिद् ग्रामीणे मृते तस्य भार्या भर्त्तुः स्मृत्वा भृशं रुदती तत्सुतेन भणिता - 'हे मातः ! किमर्थं त्वं शोचसि ? अहं तव भृत्योऽस्मि । दैवायत्ते च कार्ये शोककरणेन किम् ?' । ततः सा प्राह - "हे पुत्र ! तव पिता सर्वकार्यकरणे समर्थोऽभूत्, त्वं तु निश्चिन्तः कार्यकरणे शिथिलः शिशुश्च । अतः सर्वकार्याणि सीदन्ति, तेन मे महान् शोकोऽस्ति" । सुतेनोक्तम्- "मातः ! अहमद्यप्रभृति सचिन्तो भविष्यामि, अतो दुःखं मा कार्षीः। अधुना कार्यकरणे शिथिलो न भविष्यामि, बहूक्तेन किम्? हस्तेन गृहीतं कार्यं न मोक्ष्यामि" । एवमाश्वास्य तेन स्वजननी स्थिरीकृता।

1. सम्पातिमसूक्ष्मत्रसाः, शक्यन्ते न वारयितुं तत्र येन ।
प्रत्यक्षदर्शिनोऽपि खलु, तेन निशायां न भुञ्जते ॥

2. इन्द्रियविजय आरम्भ-वर्जनं भोजनादिपरिशुद्धिः ।
पशुभावपरित्यागो, दिनभुक्तौ गुणा भवन्ति ॥

अन्येद्युस्तेन रजकस्य धावन् रासभो दृष्टः, स च नश्यन् खरो ग्रामाधिपगिरा स्वहस्तेन पुच्छे भृशं धृतः। तदा पश्चात्पादाभ्यां रासभोऽताडयत् । ततो लोकैर्भृशमुक्तोऽपि जननीवचः स्मरन् खरपुच्छं नाऽमुञ्चत् । लत्तागाढप्रहारैर्भूमौ पपात, दारुणं च व्यसनं प्राप्तः । लोकेऽप्यज्ञानदोषतो हास्यास्पदमभूत् ।

एवं त्वमपि हे मित्र ! यदि गुण-दोषविवेचनं न करिष्यसि, कुस्थाने च आग्रही भविष्यसि, ततोऽत्र त्वं ग्राम्यपुत्रवद् दुःखी भविष्यसि, परभवेऽपि च दुर्गतिदुःखानि प्राप्स्यसि" । इत्यादि तेन भणितः, तथापि स *धनेश्वरो* रात्रिभोजनाद् न निवृत्तः । तत आर्त्तध्यानार्दितोऽतृप्तो मृत्वा वग्गुलोऽभूत् । सम्यक्त्वनिन्दया बद्धतिर्यग्नामकर्मा भूयो भूयो मृत्वा मृत्वा पञ्चवारान् स एवाऽऽसीत्, द्विश्च चर्मटकोऽभवत्, द्विवारं घूको जातः, द्विश्च जम्बूको जातः । ततो मृत्वा *विशालायां* पुर्यां *देवगुप्त*द्विजन्मनो *नन्दा*नाम्न्या भार्याया गर्भे पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । स च बाल्यादेव व्याधिबाधितोऽभूत् । एकस्मिंस्तु हते *रोगे* द्वि-त्रा नूतना रोगाः स्युः । ततः परं तज्जीविताशानिराशेन पित्रा नामाऽपि न कृतम् । जने '*रोग*' इति नामा प्रसिद्धो जातः । सोऽमेध्यकीटवद् ववृधे ।

ईश्वरश्रेष्ठी तु धर्मजागरणोद्यतो भवाद् धन-पुत्र-दारादिभ्यश्च विरक्तः *श्रीधर्मेश्वरगुरोः* पार्श्वे चारित्रं प्रतिपन्नवान् । मुक्तिरामायां रसिकः शमतामृतपाने तृषितश्च विहरन् मुनिरन्यदा *विशालायां* पुर्यां प्राप्तः । स च पक्षक्षपणपारणे गोचरचर्यायां गतो मुनिर्*देवगुप्त*-द्विजेन गृहागतो दृष्टः । तेन ज्ञानीति ज्ञात्वा परमहर्षेण प्रणतो, विज्ञप्तश्च - 'हे भगवन्! त्वं करुणाकरोऽसि, ततोऽस्य शिशो

रोगप्रतिक्रिया प्रसद्य कथ्यताम्' । साधुराह - 'हे महाभाग! अस्माकमयं पुरातनो मार्गो यद् यतीनां गोचरे वार्त्तां कर्तुं न कल्पते । तथापि शृणु, भोः ! सुदृष्टिना धर्मौषधं कर्तुं युक्तम्' । इति कथयित्वा लब्धभिक्षान्ने मुनौ काननं गते विप्रोऽपि भोजनं कृत्वा सुतं च गृहीत्वा मुनिपार्श्वे गत्वा च धर्मौषधमपृच्छत्। तत्त्ववेदिना साधुना प्रोक्तम् - "भो भद्र ! रोगशान्त्यै प्रथमं रोगनिदानं हेयम्। तस्मिंस्त्यक्ते हि प्रतिक्रिया रोगनाशहेतुभूता भवेत्, अन्यथा तु प्रत्युताऽनर्थाय स्यात् । हे द्विज ! प्राणिवधा-ऽलीक-चौर्य-मैथुन-परिग्रहाः, अमूनि पापानि रोगाणां निदानानि-मूलकारणानि जानीहि । अथौषधं पञ्चपरमेष्ठिजापः, कषायेन्द्रियविनिर्जयः, यथाशक्ति दानं, पापगर्हा च, इदं धर्मौषधं कथितम् । निदानरहितस्य इदं च धर्मौषधं कुर्वतो ध्रुवमारोग्यं स्यात्" ।

एवं साधुना एकैकस्य व्रतस्य माहात्म्यं विस्तारेण कथितं निशम्य ससुतो द्विजो ग्रन्थिभेदं कृत्वा सम्यक्त्वं प्राप्तः श्रावको-ऽजनि। विचिकित्सादयो दोषाः सर्वेऽपि त्यक्ताः, पिता-पुत्रौ द्वावपि निश्चलौ श्रावकौ जातौ । 'रोगमूलं कर्मैव' इति निर्णीतवन्तौ ।

अथाऽन्यदा देवैः पूर्णायां सुधर्मायां सभायां सिंहासने निविष्टेन *सौधर्मेन्द्रेण* तयोर्धर्मदार्ढ्यं भणितम् । तद् अश्रद्धानौ द्वौ देवौ वैद्यरूपं कृत्वा *विशालायां* समागतौ । तमूचतुः - 'भो भट्ट! त्वत्सुहृत्साक्षिकम् अस्मत्कथितां क्रियां निःशङ्कं करिष्यसि तदा ते रोगा गमिष्यन्ति' । ततस्तस्य स्वजनैः प्रोक्तम् - 'कथ्यतां, युवयोः कीदृशी क्रिया?'। तदा तावूचतुः - "पूर्वाह्णे मधुरं मधु

भक्षयितव्यम्, अपराह्णे जीर्णासवः पेयः, रात्रौ च म्रक्षणसम्मिश्रौदनस्य भोजनं कार्यम्। तथा जलचर-स्थलचर-खेचरोद्भवं मांसं बह्वौ-षधैर्मिश्रं प्रतिदिनमेकवारं सप्तदिवसपर्यन्तं भोक्तव्यम्" । तच्छ्रुत्वा रोगिणा द्विजेनोक्तम् - "भो वैद्यौ ! ईदृश्या क्रियया सृतम्, नाऽतः परं धर्मविरुद्धं वचनं ममाऽग्रे वाच्यम्, यतो मया रात्रिभोजनं मध्वादिचतुष्टयं च यावज्जीवं परित्यक्तम्" । ततस्तावूचतुः - "भोः ! शास्त्रेषु लिखितमस्ति यद्, देहं विना नो धर्मः सिध्यति । अहो विप्र ! धर्मस्य प्रथमं साधनं देहः, तस्माद् देहो रक्षणीयः । भोस्तत्त्वज्ञ ! अधुना कार्या-ऽकार्ये न चिन्तनीये, नीरोगे देहे सति सुबह्वपि प्रायश्चित्तं चरित्वा चतुरः पुमान् पश्चात् तत्क्षणादेव शुध्यति" । इति ताभ्यामुक्तेऽपि स दृढश्रद्धो द्विजोत्तमो नो अमन्यत । ततस्तौ तत्स्वजनानाहूयोचतुः - 'एतं कारयतौषधम्, एकान्तवत्सला यूयं मा वराकमुपेक्षध्वम्' । तन्निशम्य स्वजनैः प्रोक्तम् - 'भो वत्स ! वैद्योक्तं कुरु, अस्माकमाशां पूरय, पश्चात्तपसा निर्मलो भवेः' । एवं तैः स्वजनैः सुहृद्भिश्चोक्तोऽपि नो अमन्यत । ततस्ताभ्यां प्रेरितेन राज्ञा तथैवोक्तेऽपि *रोग*भट्टो धर्माद् मनागपि न चचाल । ततो देहगेहनिरीहो *रोग*भट्टः प्रोवाच - "भो जनाः ! श्रूयताम् । देहं प्रक्षालनधियाऽशुचिना को लिम्पेत् ?, भस्मार्थं बावनाचन्दनं को दहेत् ?, लाक्षार्थं स्वर्णकुम्भं को भञ्ज्यात् ?, तद्वद् देहार्थं को व्रतं त्यजेत् ? । जनो देहायाऽर्थं गमयेत्, न च कोऽप्यर्थाय देहं गमयति; तथैव तत्त्वज्ञः स्वधर्माय देहमपि त्यजेत्, न च देहहेतवे धर्ममुत्सृजेत्" । इत्यादियुक्तिभिस्तेन बान्धवादयः सर्वेऽपि बोधिताः । ततस्तौ वैद्यदेवौ भणतः स्म - 'भो द्विजवर !

शिशुनाऽपि त्वया सुष्ठु तत्त्वं दृष्टम्' । इति जल्पन्तौ तौ द्वौ देवौ स्वस्वरूपं दर्शयित्वा, तं *रोग*भट्टं नीरुजं कृत्वा, तस्य च स्तुतिं कृत्वा स्वर्गे गतौ । तत्प्रभृत्यसौ *अरोगाख्यः* प्रसिद्धो बभूव । तद्दिनादारभ्य स विशेषेण धर्मतत्परो जातः । चिरकालं धर्ममाराध्य काले मृत्वा सौधर्मे कल्पे महर्द्धिको देवोऽभवत् । सोऽयम् अवधिज्ञानेन मां धर्माचार्यं ज्ञात्वा इह नन्तुमागतः, केवलज्ञानिनं च मां दृष्ट्वा हर्षतो बाढं ननर्त्त ।

एवम् *ईश्वर*केवलिना निशाऽशनकथानके प्रोक्ते बहुभिर्जनैर्निशाभोजनं वर्जितम् । *सूरसेन*नृपोऽपि तीव्रसंवेगरङ्गवासितान्तःकरणो हस्तसम्पुटमायोज्य केवलिभगवन्तं जगौ - "हे भगवन् ! धन्यस्त्वं, येनाऽयं पूर्वभवे व्याधिबाधितो बोधितः समुद्धृतश्च । सुरोऽप्यसौ कृतज्ञः, यस्य स्वगुरावीदृशी भक्तिः । हे भगवन् ! मयाऽपि साधु-श्रावकधर्मयोरद्य माहात्म्यं ज्ञातम् । मुनिधर्मस्त्वेकान्तमोक्षसौख्यदः, स्वर्गसौख्यकरणशीलः श्राद्धधर्मः। सम्प्रति हे मुने ! यद्यस्ति योग्यता मे, ततः सिद्धिश्रीसङ्गमोत्कण्ठस्य मम संयमं देहि" । तदा केवलिना प्रोक्तम् - 'हे भूपते ! त्वं संयमार्होऽसि, ततः प्रतिबन्धं त्यक्त्वा व्रतं लाहि' । तन्निशम्य हर्षभरप्रफुल्लो महीपतिर्मुनिं नत्वा गृहे गत्वा अमात्यान् पत्नीं च मुदाऽवदत् - "भो भो ! हृदि भावयत, यद् आयुर्जलबुद्बुदवच्चञ्चलं, भोगसुखं तुषमुष्टिरिवाऽसारं प्रान्ते च कटु, ये संयोगास्तेऽपि वियोगान्ताः, अर्थोऽप्यनर्थमूलमेव । यतः -

अर्थानामर्जने दुःख-मर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥४५॥

मृत्युर्मर्माणि गवेषयति । यतः -

[1]कैवर्त्तकर्कशकरग्रहणाच्च्युतोऽपि,
जाले पुनर्निपतितः [2]शफरो वराकः ।
जालादपि प्रगलितो गिलितो बकेन,
[3]वामे विधौ बत कुतो [4]व्यसनान्निवृत्तिः ॥४६॥

स्नेहोऽपि प्राणिनां पुष्पिततिलपुञ्जस्येव निष्फलोऽखिलः, धावन्ति च जरा-रोगाः । स्वकर्मभोगकालेऽकाले च मरणे समागते सति कोऽपि इष्टवर्गो रक्षितुं समर्थो न भविष्यति । ततो विद्वद्भिः संसारे रतिः कर्तुं न युज्यते । अनन्तसुखसन्ताने स्वाधीने शाश्वते च मोक्षसौख्ये सति स्वप्नेन्द्रजालतुल्ये भवे को रतिं कुर्यात् ? । तपःसाध्ये मुक्तिसौख्ये, स्वात्मसाध्ये च तपसि, सन्दीप्तकुटीतुल्ये संसारे सुधीः कथं रमेत ? । यथा लवणसमुद्रः क्षारजलेन सम्भृतः, तथाऽसङ्ख्यातैः शारीर-मानसैर्दुःखैरयं भवो भृतोऽस्ति। अस्मिन् संसारे स्वप्नप्राप्तनिधानवद् न किमपि तथ्यमस्ति । तुषखण्डवद् असारं राज्य-वाज्यादि सर्वं, ततोऽहं साम्प्रतम् अगण्यगुणगणाऽलङ्कृतं श्रामण्यं सिषेविषुरस्मि"। इति निशम्य संविग्ना *मुक्तावली* राज्ञी प्राह - "हे स्वामिन् ! सत्यमुक्तम् । यतो भवता भोगा अपि सुचिरं भुक्ताः, सुहृल्लोकोऽपि बहुधा सन्तोषितः, सामन्तवर्गश्च प्रीणितः, तनयोऽपि वर्द्धितः, भुवने स्फुटशब्दवान् कीर्त्तिपटहोऽपि सम्यग् वादितः । हे विभो ! नरजन्मफलं प्राप्तमस्माभिः समग्रं, तदुपरि चेत् चारित्रमङ्गीक्रियते तदा किं न

1. कैवर्तो धीवरः । 2. मत्स्यः । 3. वक्रे । 4. आपत्तेः ।

प्राप्तमस्माभिः?। ततो हे नाथ ! क्षणमपि विलम्बं मा कुरु, द्रुतं भवाब्धिस्तीर्यताम् । दुर्लभाऽस्ति सर्वत्र गुरुसामग्री । श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति । यतः -

श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः[1] ॥४७॥

ततो मन्त्रिभिः प्रोक्तम् - 'धर्मिणां कोऽपि विघ्नकृन्न हि' । अथ शस्ते मुहूर्ते नरपतिना *चन्द्रसेनकुमारः* सोत्सवं राज्ये स्थापितः। तस्य स्वकुलक्रमो ज्ञापितः । शिक्षितश्च - "हे वत्स ! अस्मिन् राज्ये चित्तासक्तिर्न कर्त्तव्या, यत इदं राज्यं निरपराधकं कारागृहं, पुनरनायकं पारवश्यं, लोचने सत्यपि अन्धत्वं, पुनरमद्य उन्मादो, रज्जुवर्जितं बन्धनम्, अतो नैवाऽत्र तत्त्वधीर्धार्या । प्रजा च पुत्रवत् सुखिनी कार्या । सर्वत्र दुर्नीतिर्वार्या । मन्त्रीश्वराणां शिक्षाश्चित्ते स्मर्तव्याः। अरातिश्रेणिरावर्ज्या । स्वधर्मतः कीर्तिरर्ज्या" ।

इत्यादि स्वसुतमनुशिष्य श्रीजिनराजचैत्येष्वष्टाह्निकोत्सवं कृत्वा, अवारितप्रवेशं श्रावकवृन्दं रजत-कनक-मणि-मौक्तिक-वस्त्रा-ऽऽभरणप्रदानेन सम्पूज्य, *चन्द्रसेन*नरेन्द्रेण कृतनिष्क्रमणोत्सवः, चन्द्रचन्द्रिकाश्वेतचीवरकृतशृङ्गारः, पुष्पस्रक्-चन्दनाऽर्चितः, सहस्र नरवाहितां प्रौढां शिबिकामारूढः, सामन्त-मण्डलेश्वर-सेनापति-मन्त्रि-श्रेष्ठि-सार्थवाह-सन्धिपाल-दुर्गपालाऽन्वितो, लक्षसङ्ख्यै-र्गजारोहैर्हयारोहै रथारोहैः पदातीनां च कोटिभिः परिवृतो, बन्दिवृन्देन स्तूयमानो, धार्मिकैश्च श्लाघ्यमानो, दीनदुःस्थेष्वनुकम्पादानं ददद्,

1. विघ्नाः ।

विचित्रवादित्रपूर्वकं क्रमेण श्रीकेवलिपार्श्वे समागतः *श्रीसूरसेननृपो* गुरून्नमस्कृत्य हस्तौ च संयोज्य स्थितः । ततो बहुभी राजाऽमात्यादिभिश्चारित्रेच्छुभिर्विज्ञप्तम् - 'हे भगवन् ! संसारसमुद्रनिस्तारिणीं प्रव्रज्यां देहि' । ततः केवलिना *सूरसेनरा*जाद्या दीक्षिताः। *मुक्तावल्यपि* बहुभिरन्तःपुरीभिस्तथा मन्त्रीश्वरस्त्रीभिः सार्धं श्रीचन्द्राभायाः प्रवर्तिन्याः शिष्याभावमापन्ना । ततो द्वाभ्यां गुरुविनीताभ्यां पठितेकादशाङ्गाभ्यां निरतिचारचारित्रेण निजात्मानौ सम्यग्भावेन भावितौ । तपोऽग्नितापसन्तप्तं स्वान्तःकरणं स्वर्णवत् शोधितम् । किं बहुना ? -

छिन्नो मिथ्यात्ववृक्षो जिनमतविदितौ त्रोटितौ द्वौ च [1]बन्धौ,
द्वौ [2]दुष्टध्यानचौरौ [3]चरणधनहरौ निर्जितौ दुर्जयौ तौ ।
शल्यानां संयमाङ्गे श्रुतकवचवृते सुष्ठु भग्नः प्रवेशो,
विध्वस्तं [4]गौरवाऽरित्रिकमतिविकटं निर्ममास्त्रेण ताभ्याम् ॥४८॥

दण्डाश्चण्डभटा हि खण्डितमदाः संज्ञा विषण्णा इव,
क्रोधाद्याश्चिरवैरिणोऽपि विधिना मन्दप्रतापाः कृताः ।
माहात्म्यं [5]कुसुमायुधस्य निहतं क्षुण्णाः प्रमादादयश्चासन्नीकृतमेव निर्वृतिपदं ताभ्यां भुजाभ्यां ततः ॥४९॥

एवं चारित्रं विमलं चरित्वा, संलेखनां मासभवां च कृत्वा ।
द्वावप्यभूतामहमिन्द्रदेवौ, ग्रैवेयके च प्रथमे समृद्धौ ॥५०॥

1. रागबन्धो द्वेषबन्धश्च । 2. आर्त्तध्यानं रौद्रध्यानं च । 3. चरणं-चारित्रम् ।
4. ऋद्धिगौरवं रसगौरवं सातगौरवं चेति आत्मनः शत्रुरूपं गौरवत्रयम् ।
5. कामदेवस्य ।

अभुङ्क्त ताभ्यां विशदद्युतिभ्यां, पवित्रचारित्रऋद्धिजभाग्भ्याम् ।
सुखं च तस्मिन् कमनीयमीषद्-न्यूनत्रयोविंशतिसागराणि ॥५१॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारवि-
न्दानां पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते
श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे गद्यबन्धे श्रीमदीश्वरकेवलिदीक्षितमहाराज
श्रीसूरसेन-मुक्तावलीराज्ञी-गुणवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः

सप्तमः सर्गः

सुरपतिः	- गर्जनपुरनृपः (पद्मोत्तर-तातः)
सती	- सुरपति - भार्या
पद्मोत्तरः	- सुरपति-पुत्रः (पृथ्वीचन्द्र-जीवः)
तारवेगः	- विद्याधरराट्, हरिवेगजनकः
कमलमाला	- तारवेग-पत्नी
हरिवेगः	- तारवेग-पुत्रः (गुणसागर-जीवः)
चन्द्रध्वजः	- मथुरापतिः
चन्द्रमती	- चन्द्रध्वज-पत्नी
सूर्यमती	- चन्द्रध्वज-पत्नी
शशिलेखा	- चन्द्रध्वज-पुत्री (पद्मोत्तर - भार्या)
सूर्यलेखा	- चन्द्रध्वज-पुत्री (पद्मोत्तर - भार्या)
वसन्तः	- सुरभिपुरपतिः
पुष्पमाला	- वसन्तराज-भार्या
गुणमाला	- वसन्तपुत्री, शुक-पत्नी
शुककुमारः	- चम्पापुरी-राजकुमारः
सुमुखः	- भट्टः
वनमाला	- गुणमाला-पुत्री, पद्मोत्तर-पत्नी
कनककेतुः	- विद्याधराधिपः
कनकवती	- कनककेतु-भार्या
रत्नवती	- कनककेतु-भार्या
कनकावली	- कनककेतु-पुत्री, हरिवेग-पत्नी
रत्नावली	- कनककेतु-पुत्री, हरिवेग-पत्नी

सप्तमः सर्गः

(त्रयोदश-चतुर्दशौ भवौ)

जिनकल्पद्रुमो जीयाद्, जगदीप्सितदायकः ।
लेभे फलानि यस्याज्ञा-शाखालीनो जनः सुखम् ॥१॥

अथ *सूरसेनमुनिदेवः* प्रथमग्रैवेयकात् च्युत्वा यत्र समुत्पन्नस्तदुच्यते-अस्मिन् *जम्बूद्वीपे भरत*क्षेत्रे मध्यखण्डे उत्तरस्यां दिशि स्वर्गतर्जनं, विलसत्सज्जनं, सौख्यसर्जनं, स्मयवर्जनं, बलिभिरप्यरातिभिरगम्यं, सुरालयमिव विबुधगणैरलङ्कृतं *गर्जनं* नाम नगरमस्ति । तत्र नाम्ना धाम्ना च *सुरपति*र्नृपतिर्गर्जति, येन भूभृतां पक्षानुच्छेद्य जगत् सुस्थितं कृतम् । तस्य नृपतेर्नामतो गुणतश्च विश्रुता *सतीति* नाम्ना पट्टराज्ञी बभूव, यया श्रुतिभ्यां नैव पापवार्त्ताऽपि श्रुता । तया सार्द्धं राज्यं कुर्वन् भूपो भृशं वेदधर्मरतो ब्राह्मणान् निःशेषधर्मिणां मुकुटान् मन्यते । द्विजान् वस्त्राद्यैः पूजयति, वेदवेदिनो विशेषेण बहु मन्यते । ततो लोकोऽपि तद्भक्तो जातः, यतो *यथा राजा तथा प्रजा* । ततो मदोन्मत्तै-र्द्विजजातिभिः पुरात् सर्वेऽपि पाखण्डिनो[1] निर्वासिताः ।

अस्मिन्नवसरे *सूरसेनदेवो* मरालवत् *सती*राज्ञीकुक्षि-सरोवरेऽवतीर्णः । तस्यामेव रात्रौ पद्मलोचना सा *सती* राज्ञी हारिवारिभृतं, हंस-सारसादिविराजितं पद्माकरं स्वप्ने प्रेक्ष्य प्रबुद्धा सती राज्ञः समीपे गत्वा स्वप्नार्थं पप्रच्छ । स्वप्नोदन्तविदा राज्ञा

1. जैनमुनयः ।

सन्दिष्टसुतसम्भवा सा अमन्दानन्दगर्भं शुभं गर्भमपालयत् । तस्या दानादिकाः शुभदोहदा ये जातास्ते सर्वेऽपि नृपेण पूरिताः । साधिकमासनवके व्यतीते शुभे समये सा राज्ञी सर्वाऽवयवसुन्दरं सतां नयनानन्ददं भूमिः कल्पपादपमिव सुतं सुषुवे । ततः प्रियनिरूपिण्या चेट्या विज्ञप्ते सुतजन्मनि राज्ञा सन्तोषदानपूर्वकं वर्धापनमकारि। यथा -

उच्चलच्चारकं चित्रितद्वारकं, नर्त्तकोद्धारकं चापदां दारकम्।
सारभृङ्गारकं भूरिशृङ्गारकं, वित्तविस्तारकं दौःस्थ्यनिस्तारकम् ॥
स्थापितस्थालकं वाद्यबाहुल्यकं, दत्तताम्बूलकं सम्पदां मूलकम् ।
मङ्गलैः पूरितं भूभुजा कारितं, प्रीतिवर्द्धापनं पुत्रवर्द्धापनम्॥२॥

वर्द्धापनाऽनन्तरं नृपेण पुत्रस्य '*पद्मोत्तर*' इति नाम चक्रे। स पञ्चभिर्धात्रीभिर्लाल्यमानः क्रमाद् ववृधे । कलाकुशलो जातः। दया-दाक्षिण्य-दानवान्, सौम्यमूर्त्तिः, सज्जनप्रियः, शान्तो, दान्तश्च स पापर्द्धेर्नाऽभिधामपि सेहे। तस्मै यज्ञकथाऽपि नऽरोचत, केवलं पितुश्चित्तवृत्त्या द्विजन्मनां किञ्चिदुचितं स करोति, परं द्विजजातीनां परमार्थशून्यया पुराणकल्पितशास्त्रकथया मनस्युद्वेगमाप्नोति । स कुमारः सद्गुरुसामग्रीविरहाद् धर्मं नाऽऽप्नोति, यथा शुद्धोऽपि मणिर्मणिकारसंस्कारं विना निर्मलो न भवति ।

इतो *वैताढ्यशैले* दक्षिणश्रेण्यां सार्वभौमपुरोपमं *सुभौमपुरं* नाम नगरमभूत् । तस्य पुरस्य प्रभुर्निरन्तरप्रतापेन तरुणं तरणिं जयन् विद्याधरकुलोत्तमस्*तारवेगो* नाम नृपोऽभवत् । तस्य *कमलमाला* राज्ञी कमलमिव सुकोमला कलाकलापसम्पन्ना

नाकनारीविजित्वरा। तत्कुक्षिगह्वरे स *मुक्तावली*राज्ञीजीवो देवः प्रथमग्रैवेयकात् च्युत्वा केसरिकिशोरवत् पुत्रत्वेन समुत्पन्नः। सा स्वप्ने सिंहकिशोरकं दृष्ट्वा प्रियतमाय कथयामास। तेनोक्तम्- 'हे प्रिये ! सिंहार्भकसमानस्ते सुतो भविष्यति'। तत् श्रुत्वा मुदितमानसा सा गर्भं पुपोष। सम्पूर्णे काले शोभने दिवसे शुभनक्षत्र-मुहूर्त्तवेलायां महीयसा तेजसा भासुरं प्राची भानुमिव सा तनयं सुषुवे। पित्रा महता प्रबन्धेन जन्ममहोत्सवः कृतः। ततो राज्ञा स्वप्नानुसारतः सुहृज्जनसाक्षिकं *हरिवेग* इति पुत्रनाम स्थापितम्। सद्विद्याभिः संश्रितः स खेचरीभिः सह रममाणो मानिनीमनसां स्तम्भनं यौवनारम्भं सम्प्राप्तः।

अस्मिन्नवसरे *मथुरायां* नगर्यां *चन्द्रध्वजो* नाम राजा राज्यं करोति। तस्य द्वे भार्ये, प्रथमा चन्द्रमतिः द्वितीया *सूर्यमतिः*। तयोर्द्वे पुत्र्यौ *शशिलेखा-सूर्यलेखा*भिधे। तयोर्यौवनधन्ययोः अनुरूपवरप्राप्त्यै पित्रा स्वयंवरमहः कृतः। नृपनन्दनान् आह्वातुं सर्वत्र दूताः प्रहिताः। तेष्वेको *मुखप्रिय*नामा दूतो *गर्जनपुरे* प्राप्तः। स *सुरपतिं* भूपं नत्वा वेलां प्राप्य व्यजज्ञपत् - "हे देव ! भवतां पुत्ररत्नं यदस्ति, यस्य रूपादिगुणकलापगीतानि गुणिजनैर्गीयन्ते, स कुमारः स्वसौभाग्यव्रजेण परेषां प्रौढभूभुजां सद्गर्वपर्वतं भित्त्वा मम कन्यके वृणोतु। यतः स्वयंवरे राजकुमाराणां भाग्यपरीक्षा जायते। यतः -

सुभटानां रणे शौर्यं, वर्णः स्वर्णः कषोपले।
स्वयंवरमण्डपे च, पुण्यं पुंसोऽवगम्यते ॥३॥

तस्माद् हे प्रभो ! कुमारः स्वयंवरसमये त्वरितं प्रेष्यताम्, इति *चन्द्रध्वज*भूपतिना हे विभो ! मन्मुखेन विज्ञापितम्" । ततः प्रफुल्लमुखाऽब्जेन राज्ञेदं प्रतिपन्नम्, *पद्मोत्तरो*ऽप्यादिष्टः । सोऽपि शस्तवासरे प्रस्थितः । सेनोद्भवरजोव्रातैः प्रच्छादितनभोऽङ्गणः, वने वने विश्राम्यन्, सरः सरः प्रति क्रीडन्, ग्रामे ग्रामे मान्यमानः, नगे नगे चारोहन् क्रमेण स्वदेशान्ते *महोदया*ऽभिधं तापसाश्रमं प्राप्तः । तं च नालिकेरी-खर्जुरी-द्राक्षा-पुन्नाग-नागवल्ली-नारङ्ग-चूतादि-तरुभिः शुभं, हूयमानसर्षपौघधूमधूसरिताम्बरं दृष्ट्वा कुमारो-ऽपृच्छत्- 'किं नामाऽयं ग्रामः ?' । ततः पत्तिभिः प्रोक्तम् - "हे स्वामिन् ! इदं तापसानां तपोवनमस्ति । अस्मिन् दयाब्रह्मव्रतोत्तमा महानुभावा आरम्भ-परिग्रहविवर्जिता मषिकृष्यसिवाणिज्यमुक्ताः कन्द-फलाशिनश्च मुनयो वसन्ति । एते कारुणिका वन्द्याः" । इति श्रुत्वा कुमारः प्राह - 'महर्षीणां यथोपद्रवो न स्यात् तथा स्कन्धावारनिवेशः क्रियताम् । अहं च तपोधनानां पादपूजया स्वं धूतपापं कुर्वे'। पदातिनाऽपि तथा कृते कृतकृत्यो नृपात्मज आश्रमान्तर्गतः । तत्रैकत्र सजटान् वल्कलाऽम्बरधरान् सूर्याभिमुखं चोर्ध्वभुजद्वयान् ऋषीन् पश्यन्, अन्यत्र च बद्धपद्मासनान्, एधोभिर्वह्नेस्तर्पकान्, वृक्षाऽऽलवालेषु जलसेचनतत्परांश्च कुमार-तापसान् विलोकयन्, क्रमेण उटजान्तर्दर्भासनस्थं निर्मलाननं परमशान्तमूर्तिं कुलपतिं दृष्ट्वा ननाम । सोऽपि धर्माशिषं दत्त्वा नृपपुत्रं स्वान्तिके स्थापयामास । कुलपतिना नामादिके पृष्टे पूज्यत्वाद् यथास्थितमचकथत् । ततः कुलपतिः - 'हे वत्स! त्वमुत्तमोत्तमकुलोद्भवो महानरोऽर्घ्यदानस्य योग्योऽसि' इति भणन्,

पुनर्गर्भगेहाद् अद्भुतरूपां कन्यां निष्काश्य, सन्मौलि-कुण्डलाद्यं च राजयोग्यं सुबह्वपि पुरो ढौकयित्वा कुमारं प्रोवाच - "चतुराश्रम-सद्गुरो हे वत्स ! त्वमस्माकमतिथिर्वर्तसे, ततः प्राणसर्वस्वभूतां राजराजोचितामिमां कन्योपदां गृहाण, मम चित्तनिर्वृतिं च कुरु, यतो भवादृशाः कुलीना गुरोर्भक्ताः प्रार्थनाभङ्गभीरवश्च स्युः" । इत्याकर्ण्य कन्यां च दृष्ट्वा कुमारेण सविस्मयं चिन्तितम् - 'किमियं नारी शशाङ्कचन्द्रिका ?, उत निश्चला किमु कमला ?, किं वा इन्द्रशापनिपतिता काऽपि देवाङ्गना?, किं वा पातालान्निर्गता नागकन्या ?, अथवा त्यक्तसङ्गस्य मुनेः किमेवंविधा कन्या भवेत्?'। इति स्वचेतसि विमृश्य भणितं कुमारेण - 'हे भगवन् ! सर्वथा सङ्गहारिणां ब्रह्मचारिणां भवादृशां वनस्थानां कन्यारत्नोद्भवः कथम्?। मम मनः कुतूहलोत्तालं वर्त्तते । ततो ममोपरि प्रसीदत यूयं, यथास्थितं च कथयत' । ततस्तापसेन प्रोक्तम्-

॥ वनमालायाः कथानकम् ॥

"राजकुमार ! यद् युक्तिभिर्न युज्येत तदपि संयोगे वियोगे च व्यापृतस्य विधेर्बलात् सम्भवेत् । यतो भयभीतमतिः सारङ्गः स्वरक्षार्थं वने धावितः, परं तत्रापि दुष्टो वनदावः प्रागेव प्रज्वलितः। उक्तं च -

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद् वागुरां,
पर्यन्ताऽग्निशिखाकलापजटिलाद् निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधानां शरगोचरादतिजवेनोत्प्लुत्य धावन् मृगः,
कूपान्तः पतितः करोति विमुखे किं वा विधौ पौरुषम्?॥४॥

तथापि हे कुमार ! त्वं तत्त्वं शृणु । तथाहि -

उत्तरापथे द्रव्योघैः सुरभीकृतं *सुरभिपुरं* नाम नगरमस्ति। तत्र प्रजालतावसन्ताभो *वसन्तनामा* भूपतिः । तस्य शीलसौगन्ध्य-वासिताः *पुष्पमालाद्या* बह्व्यो राज्यः । ताभिः समं जिताऽनेकरिपून् [1]मण्डलोपमान् गणयन् गुरुतेजसा राज्यं करोति ।

गुणमालाऽऽद्यकान्तायां[2], पुत्रीं पञ्चसुतोपरि ।
तस्याऽभूद् रूपसर्वस्व-पिण्डिता पण्डिता श्रुते ॥५॥

पित्रोः सा वल्लभाऽतीव, यथा तां यौवनश्रियम् ।
विवाहयितुमेतौ तु, नाऽलं विरहशङ्कया ॥६॥

एषा लावण्यपूर्णाऽपि तथा गुरुभक्तिरता यथा सखीभिः प्रेरिताऽपि विवाहं नेहते । तत्र तद्वरणेच्छवो बहवो राजकुमाराः समागच्छन्ति, यथा मकरन्दे लुब्धा द्विरेफाः केतकीवने । एकदा *चम्पापुरी*पतिसुतो गुणवान् *शुककुमारो* बहुसैन्ययुग् आगात् । ततो राज्ञा स बहु मानितः । यौवनस्थां तां कुमारीं दृष्ट्वा *शुककुमार*मन्त्रिभिर्भक्त्या युक्त्या च विज्ञप्तो *वसन्त*भूपतिः - "हे स्वामिन् ! यद्यपि सिद्धान्नं सुन्दरं वल्लभं दुर्लभं च, परं तद् विनश्वरं जानन् को जनः कुशूले क्षिपति ? । तथैव कन्या धन्याऽपि पितृभ्यां बहुकालं गृहे धृता सती शशाङ्ककिरणोज्ज्वलं कुलं कलङ्कयत्येव। पित्रोः स्नेहफलं त्विदं यत् सुन्दरे वरे पुत्रीं

1. श्वोपमान् 2. आद्यकान्तायां-पुष्पमालायां तस्य नृपस्य गुणमालाभिधाना पुत्री अभूत् ।

योजयेत् । *शुककुमारा*दन्यो न धन्यः, ततोऽस्मै दातुं योग्योऽसि"। इति तेषां नीतिगिरा पुत्रीमोहमुग्धोऽपि नृपतिः प्रतिबुद्धः कुमारमाह- "त्वं दूरादागतः परमस्नेहसङ्गतः । त्वत्पुण्यप्रेरितेन मया नैषा दत्ता कस्यापि, यतः कृपणा लक्ष्मीं कस्यचित् कृतिनः कृते रक्षन्ति । ततोऽधुना राज्यश्रीवत् पुण्यलभ्यामिमां कन्यां वृणु । परमस्या यावत् शिशुर्न भवेत् तावत्कालम् एषाऽस्माकं गृहे रक्षणीया, त्वयाऽप्यत्रैव स्थातव्यम्" । ततः कनीस्नेहमोहितेन कुमारेणाऽपि तथैव प्रतिपन्नम् ।

अथ शुभदिने राज्ञा विधिपूर्वकं कन्या दत्ता । प्रतिपन्ननिश्चलः कुमारस्तत्र रम्ये हर्म्यतले तया सार्द्धं रममाणः कतिचिद् वासरान् स्थितः । स्थैर्य-गाम्भीर्य-दाक्षिण्यादिगुणकलापकलितेऽपि कुमारे महदेकं दूषणम्; यथेन्दोः कलङ्कः, समुद्रस्य क्षारत्वं, मणेस्त्रासता, तथा तस्य पुंरत्नस्य पापर्द्धिव्यसनमभवत् । तेनाऽसौ प्रतिदिनं दूरे वनान्तरे याति । वराह-शशक-शम्बरादिकान् अनेकान् सत्त्वान् हन्ति । तद् ज्ञात्वा राज्ञा तत्प्रतिबोधनाय *सुमुख*नामा भट्टो निर्दिष्टः। स कथाकथननिपुणत्वेन क्षणं प्राप्य कुमारं प्रत्याह - "उत्तमानां नराणामितो लज्जाजनकं परं नास्ति, यद्दीनाः प्रमत्ता नश्यन्तश्च जन्तवो हन्यन्ते । नैष क्षत्रियाणामाचारः । यतः -

यत्पृष्ठिं ददतां सदैव यदने दीनं तृणं गृह्णता-
मात्मीयं शरणं स्वयं श्रितयतां शस्त्रं न वा बिभ्रताम् ।
जन्तूनां क्रियते वधो बहुविधैरप्यायुधैर्निर्दयं, कोऽयं
क्षत्रियवंशधर्म इह भोः स्वामिन् ! त्वया पाल्यते ? ॥७॥

हे स्वामिन् ! परपीडया विविधा व्याधिवेदना लभ्यन्ते । परप्राणाऽपहारेण पुनः पुनरकालमरणं लभ्यते । परप्राणिप्राण-वियोजनेन स्वयं विरहाऽग्निना दह्यते । *गर्भपाती बालोपघाती च भवे भवे निरपत्यो भवेत्* । एकस्य प्राणघातः स्यात्, परः पुनस्तोषभाग् भवति !, यथैकस्य कूर्चं ज्वलति, परः पुनर्यो मूर्खो भवति स तमेव दीपं मन्वानो हृष्यति । मुखे तृणानि दधतः शत्रवोऽपि किल मुच्यन्ते, किन्तु हा ! अमी पशुव्रजा नित्यं तृणाशिनोऽपि हन्यन्ते । केयं नीतिः, किं शौर्यं कश्च क्षत्रियधर्मो, यत् पुरुषा निःशस्त्रान् निरपराधांश्च जन्तून् घ्नन्ति ? । हे कुमार! वने भ्रमन्तो व्याधाः क्षुधा-तृषा-शीतोष्णबाधां सहन्ते, अपि च ते इहैव भवे दुर्वस्त्रा भग्नजानु-कूर्परा व्रणाऽङ्किता दुष्पूरोदराश्च भवन्ति, परभवेऽपि तासु तासु कुजातिषूत्पद्यन्ते, दौःस्थ्यादिदुःखलक्षेभ्यो विश्रामं न प्राप्नुवन्ति । नरकेषु यियासवः सदा घोरे प्राणिवधे रमन्ते, न तु स्वर्गस्य लिप्सकाः । तस्माद् हे कुमार ! पापर्द्ध्यां मा रमस्व, यथाऽस्मिन् भवे परभवे चाऽपि त्वं दुःखानि न लभेथाः। ततो हे धीमन् ! कुतूहलेनाऽपि पापपेटकं खेटकं मा कार्षीः । यतः -

जीवान् घ्नतां यत्र [1]नभो-ऽम्बु-भूगान्,
भवेत् त्रपाऽर्थः समुपैति हानिम् ।
आखेटकं पेटकमापदां कः,
कुतूहलेनापि करोति धीमान् ? ॥८॥

1. खेचर-जलचर-स्थलचरान् ।

इति भट्टोदितं श्रुत्वा कुमारः क्रियामात्रान्निवृत्तः, परं मनसा न निवृत्तः ।

अस्मिन्नवसरे जनकप्रहिता आह्वानकारिणो जनाः समागताः *शुककुमार*माह्वातुम् । ततो राज्ञा स्वां सुतामापन्नसत्त्वां[1] मत्वा प्रशस्ते दिने कुमारो गन्तुमनुमतः । सोऽपि महता सैन्येन चलितः। क्रमेणाऽत्र तपोवनपर्यन्ते समागतः, नाऽतिदूरे चाऽऽवासितः । अत्र विविधान् वनेचरान् स्वच्छन्दं चरतो दृष्ट्वा गृहीतो व्यसनेन सः । यतः -

द्यूतं द्यूतकरः सुरां प्रियसुरः[2] कामातुरः कामिनीं,
मांसाशी पिशितं[3] [4]खगोऽपि [5]कुणपं शून्यं धनं तस्करः ।
कान्तारे च वनेचरान् विचरतो दृष्ट्वा तु पापर्द्धिमान्,
आत्मानं हि वशीकरोति भुवि कश्चाऽत्यन्तमुत्कण्ठितः? ॥९॥

ततो भट्टोदितां शिक्षां विस्मृत्य शिबिरं स्थिरं कृत्वा तुङ्गतुरङ्गममारूढः पापर्द्धौ निर्गतोऽत्र । स च क्वाऽपि विश्वस्तचेतसः शूकरान् चरतो वीक्ष्य वेगेनाऽश्वं प्रेरयन् तृणच्छन्ने गर्त्ते तीक्ष्ण-तराऽग्रस्थाणोरूर्ध्वं निपतितः । ततो हाहारवपरैर्धावद्भिर्भटैर्झटित्यपि उत्पाटितः । तदा कुक्षेरन्त्राणि निःसृतानि ज्ञात्वा स्कन्धावारे समानीतः, परां च पीडामनुभवन् *गुणमालया* दृष्टः । तया आसन्ने *सुरभिपुरे* द्रुतं सादिनः प्रेषिताः । तद् ज्ञात्वा *वसन्तराजः पुष्पमालादि*समन्वितः शीघ्रतरं समागतः, तावता द्वि-त्रान् दिनान् महावेदनामनुभूय मृतः *शुककुमारः* । पतिमरणाद् दुःखिता दुःस्था

1. गर्भिणीम् । 2. प्रिया सुरा-मदिरा यस्य सः, मदिरासक्तः । 3. मांसम् । 4. पक्षी । 5. मृतकम्-शवम् ।

गुणमाला चितायां पतितुमुद्यताऽभवत्, तदा सा पितृभ्यां वारिता। ताभ्यां चोक्तम् - "हे सुते !

आत्मघातसमं पापं, न भूतं न भविष्यति ।
तस्मान्न च त्वया कार्यं, कष्टमज्ञानसम्भवम् ॥१०॥

न च काऽपि सती भर्तृचितायां प्रज्वलिताऽस्ति । यतः -

न रामतातस्तिसृभिः प्रियाभि -
र्न सीतया सोऽपि च रामचन्द्रः ।
न रावणस्तत्प्रिययाऽनुयातो,
दुर्योधनो नैव च भानुमत्या ॥
नाऽनुप्रयातश्च हरिः प्रियाभि -
स्तद्बान्धवः स्वप्रिययाऽपि नैव ।
क एष धर्मः प्रविशन्ति यद्वौ,
नार्योऽधुना कान्तमुपेतुकामाः ? ॥११॥

हे पुत्रि ! एतद् इतिहासपुराणे निषेधितम् " । ततो भृशं रुदती सा विललाप - "हा वल्लभ ! हा नाथ ! मां त्यक्त्वा कुत्र गतः ? । एकाकिनीमनाथां महाघोरेऽरण्ये त्यक्त्वा क्व गतोऽसि?। गुणसनाथं नाथं मुक्त्वाऽहं कुलक्षणा सहवासिसखीनां मुखं कथं दर्शयिष्ये ?" । एवं रुदतीं पुत्रीं दृष्ट्वा विषण्णौ पितरौ तां लात्वाऽस्मिन्नेव तपोवने कुलपतेः पार्श्वे समागतौ । तदा च ज्ञातवार्ताः कुलपतिरपि नृपमुद्दिश्य कथयामास - "भो नृप ! श्रूयतां श्रुतोपदेशः'-

भयानके भयावासे, मृत्युत्रासश्च शाश्वतः ।

क्षणक्षयाश्च संयोगा, वियोगा भाविनो ध्रुवम् ॥१२॥

कुशाग्राम्बुचला भोगा, रोग-शोकाश्च दाहकाः ।
प्रतिबन्धो न युक्तोऽत्र, पुण्यस्कन्धोऽधुनोचितः ॥१३॥

सन्त्याज्यः स्वजनस्नेहो, योज्यो देहस्तपःश्रिया ।
निवार्यः सकलायासः, कार्यो वासस्तपोवने ॥१४॥

इति श्रुत्वा संविग्नो राजा सभार्यो व्रतोद्यतोऽभूत्, परं दीनां दुःखितां दुहितरं मोक्तुमक्षमो बभूव । अस्मिन्नवसरे मनाग् विशोकया *गुणमालया* विज्ञप्तः कुलपतिः - 'हे भगवन् ! मदीया यदि योग्यता भवेत् ततो मे दीक्षां देहि' । गुरुणा प्रोक्तम् - "सर्वेषां सा योग्या, भवादृशां तु विशेषेण । यतः -

पीडितानां पराभूत्या, ताडितानां तथाऽऽपदा ।
दुःस्थितानां भयस्थानां शरणं तापसव्रतम् ॥१५॥

तत् श्रुत्वा *पुष्पमाला* जजल्प - 'हे गुरो ! सगर्भायाः स्त्रियाः किं दीक्षा स्यात् ?' । कुलपतिः प्राह - 'स्वभावेन न सम्भवति, किन्तु दुःखिताया अस्याः परं दुःखविस्मारणं नः तेन हेतुना मयैषा अनुमता' । तदाकर्ण्य सर्वेऽपि हर्षिता अभवन् । ततो ज्येष्ठं सुतं राज्ये संस्थाप्य सामन्तादींश्च विसृज्य प्रिया-पुत्रीयुग् *वसन्तराट्* तापसव्रतं ललौ । तापसक्रियां कर्त्तुं प्रवृत्तः । शुभध्यानमसाधयत् । *गुणमाला* प्रवर्द्धमानगर्भा क्रमेणोटजान्तः सुरूपां पुत्रीं प्रसूता । सा *गुणमाला* जनन्या शुश्रूषिताऽपि ज्वरेण गृहीता योनिशूलेन च पीडिता कियद्भिर्दिनैर्मृता । तद्दुःखार्त्ता तस्या जननी *पुष्पमाला* तापसीभिः प्रबोधिता, स्नेहोत्थस्तन्यपानेन

च किल बालिकामपालयत् । यतः सा बालिका वने वर्द्धिता, ततस्तस्या *वनमाला*ऽभिधा दत्ता । क्रमेण रूपलावण्यात् तापसीनां मनांसि रञ्जयन्ती यौवनं प्राप्ता । अथाऽन्यदा *वसन्तमुनिं* स्वपदे संस्थाप्य कुलपतिर्योगमार्गं संसाध्य स्वर्गं जगाम । *पुष्पमाला*ऽपि दैवान्मृता । सोऽहं *वसन्तर्षि*र्बालां विलपन्तीं पश्यन् महामोहेन मोहितश्चिन्तार्त्त एतां पालयामि । पूर्वं मम गुरुणा कथितमस्ति - 'यः पुमानेतां परिणेष्यति स महाराजो भविष्यति' । हे कुमार ! एष परमार्थो मया प्रोक्तस्ते । अधुना हे महासत्त्व ! निःसङ्गमपि दैवेन स्नेहयन्त्रितं मां विमोचय, एतां च बालां परिणय" ।

ततः *पद्मोत्तरकुमारेण* तद्वचनमङ्गीकृतम् । कुलपतिनाऽपि विवाहोचितां सामग्रीं कृत्वा *वनमाला* विवाहिता । मातुः बृहन्मातुश्च सत्कं वस्त्र-भूषणादिकं कुलपतिना *वनमालायै* ददे, स्वाभरणं सिद्धवेतालिनीं च विद्यां कुमाराय ददौ।

॥ इति वनमालायाः कथानकम् ॥

अथ *पद्मोत्तरकुमारस्तया* नवोढया प्रियया सह तत्र कतिचिद् दिनानि स्थित्वा कुलपतिनाऽनुज्ञातोऽग्रे चलितः। मातामहवियोगतो दुःखितां *वनमालां* मधुरोक्त्या विनोदयन् क्रमेण *मथुरायां* गतो, राज्ञा च दत्ते सदने स्थितः । सबलवाहना अन्येऽपि बहवो राजकुमारास्तत्रागताः तेषां सोत्कण्ठातुराणां कुमाराणां स्वयंवरदिनं समागतम् । मणिरत्नविराजिषु मञ्चातिमञ्चश्रेणिषु भासुरमौलयः सर्वेऽपि राजकुमाराः सुरकुमारवत् स्थिताः । यस्य या भोगसामग्री, यद् विज्ञानं, याश्च श्रियः, तत्सर्वं दिव्यवेषिणो

राजकुमाराः स्पर्द्धया प्रादुष्कुर्वन्ति । अथ सन्नेपथ्ये, शिबिकारूढे, करगृहीतवरमालिके, सारश्रृङ्गारश्रिया *रम्भा-तिलोत्तमो*पमे, हसन्त्यौ, लीलालसद्गात्रे, धन्ये, शुभे, उभे कन्ये स्वयंवरमण्डपं प्राप्ते । स्वस्वकञ्चुकिदर्श्यमाननृपाङ्गजवर्ण्यमानगुणग्रामलसत्प-रिमलाऽन्वितसुमनोव्रजैरभिरामेऽपि प्रौढे कुमारारामे तस्मिन् स्वयंवराङ्गणे चिरं भ्रामं भ्रामं देवकुमारोपमं *पद्मोत्तरकुमारं* निरीक्ष्य तयोर्दृग्भ्रमरी लीना । ततो रोमाञ्चाऽञ्चित-गात्राभ्यां ताभ्यां गुञ्जदलिव्रजे स्रजौ किल कुमारस्य कण्ठे क्षिप्ते । जातं वर्द्धापनं, वर्यं च तूर्यं वादितम् । ततः 'सुवृतं सुवृतम्' इति सर्वत्रोच्छलितः शब्दः ।

अथ *पद्मोत्तरकुमारं* वृतं वीक्ष्य कृतान्तवत्कुपितः *साकेतपुरभूपो विदुरो* नाम राजमण्डलमवक् - 'भो भो नृपाः! अमुना *पद्मेनोभे* कन्ये वृते, युष्माकमद्य नासा छिन्ना । ततो गृह्यन्तां सन्नाहाः, यथाऽस्य दुरात्मनो मदं क्षणेन हरामि'। तत् श्रुत्वा सामर्षाः सर्वेऽपि राजानस्तत्क्षणात् सन्नद्धाः । तत्स्वरूपं ज्ञात्वा *चन्द्रध्वजो* भूपः सैन्यं सन्नह्य कुमारं श्रितः।

तस्मिन् समये *विदुरभूपस्य* दूतेन समागत्य साम्ना *चन्द्रध्वज*भूपाय प्रोक्तम्- "हे नृप ! कस्मैचिद् राजकुमाराय त्वया एका कन्या देया, यथा राज्ञां कोपः शाम्येत् । भो नृप ! त्वया सर्वानाहूय एकस्यैव द्वे कन्ये ददता सर्वे नृपा अपमानिताः स्युः, अन्यथा बहुविरोधतो जामातुरायुःसन्देहो दृश्यते" । ततोऽवग् *मथुरानाथः* - 'अहो दूत! त्वं कूटमन्त्रवित् स्वप्रभुकार्यकरश्चाऽसि, परं युक्तायुक्तं न हि विभावयसे; भाविनं को वृथा कुर्यात् ?' । पुनर्दूतेन प्रोक्तम्- "यद्यप्यहं स्वस्वामिभक्तस्तथापि भवद्धितार्थी,

यतो नखच्छेद्यं कार्यं तच्छस्त्रेण भवति । यथा घनैर्जनैर्दम्यो दन्ती निश्चितं कीटिकावृन्दैः खाद्यो भवति, [1]अभ्रौघैः सूर्योऽप्याच्छाद्यते, तथा एकः शूरोऽपि बहुभिर्भटैर्जीयते" ।

अस्मिन्नवसरे *पद्मोत्तरेण* प्रोक्तम् - "रे दूत! त्वं कूट-दृष्टान्तवित् स्वामिभक्तोऽप्यभक्तोऽसि, यतो युक्तायुक्तं न वेत्सि । यद्यपि गन्धगजेनाऽपरे गजा विजीयन्ते, परं सिंहो गन्धहस्तिनमपि हन्ति, [2]शरभश्च [3]हरिमपि हन्ति । एवं तारतम्येन बलं स्मृतम् । ततस्तेभ्यः शृगालेभ्यो बहुभ्योऽपि को बिभेति ? भषणप्रकृतयो हि मण्डला[4] ग्रसने समर्था न भवन्ति । पुनर्भो दूत! यो मानभङ्गभीरुः स नाऽऽयाति स्वयंवरे, यतः सर्वेषां कण्ठेषु कन्यया पुष्पस्रग् नैव क्षिप्यते, बहुसाधारणे च कार्ये का नाम मानहानिः ?, अतो *विदुरो* नृपस्तु मुधा चित्ते पराभवं चिन्तयति। तथापि मुग्धस्वभावोऽसौ हितचिन्तकमन्त्रिवर्जितो नासाच्छेदे जातेऽधुना हि क्षारक्षेपं वाञ्छति" । कुमारोक्तमिति निशम्य सरोषो दूतोऽवक्- 'भोः कुमार ! पाण्डित्येनाऽमुना ध्रुवं चञ्च्वग्रैः [5]खगैः सर्पवद् नृपैर्हन्यमानो दृश्यसे' । इति निष्ठुरगीर्दूतः कण्ठे धृत्वा भृत्यैर्निष्काशितः । दूतोऽपि द्रुतं स्वस्वामिने यथास्थितमचकथत्। तेनापि तत्क्षणादेव वादितो रणदुन्दुभिः । सैन्यद्वये च [6]गुडिता गजाः, प्रक्षरिताश्च हयाः। तदा *पद्मोत्तरेणोक्तश्चन्द्रध्वजनृपः* - 'हे प्रभो ! एतेषु कीटेषु तव रणे किं प्रयोजनम् ? । वीक्षस्व तावत् कौतुकं, ममैषां चाऽन्तरं पश्य' । इति भणन् शपथैस्तं निजां च सेनां निवार्य रथेनैकाक्यसौ

1. मेघसमूहैः । 2. अष्टापदः । 3. सिंहमपि । 4. श्वानः ।
5. पक्षिभिः । 6. टकराना ।

रणे स्थितः । ततः सामर्षैर्*विदुरादि*भिर्नृपैः *पद्मोत्तरः* प्रोक्तः - 'भो मदाध्मात निःसैन्य ! द्रुतं रणादपसर, वयं त्वयैकाकिना सार्धं कथं युध्यामहे ?' । तदा लीलया *पद्मोत्तरः* प्राह - 'भो नृपाः ! खर्वगिरा किं ? स्थितोऽहं प्रकटो युष्माकमग्रे, स्वं पौरुषं दर्शयत'। इत्युक्तास्ते परिपन्थिनः प्रहर्त्तुं प्रवृत्ताः । तदा कुमारेण सिद्धवेतालिनी विद्या स्मृता, तत्प्रभावेण वैरिभिः कुमारे यानि यानि अस्त्राणि मुक्तानि तानि तानि पिशाचरूपाणि तान् नृपान् निर्दयं ताडयन्ति। ततः सर्वे भटा दीनास्या जीविते निराशा जाताः । ततस्तादृशं महाद्भुतं पश्यन् भिया कम्पमानवपु*र्विदुरो* गर्वपर्वतादुत्तीर्य *पद्मोत्तर*कुमारपादयोर्लग्नः, कुमारेण च निवारितः । ततस्तेन सिद्धविद्योपसंहृता । अथस्थैः सर्वैः कुमारः प्रणतः क्षामितश्च । वर्द्धापनं प्रवृत्तं कुमारसैन्ये *चन्द्रध्वज*नगरे च । तत*श्चन्द्रध्वज*-महीभुजा *विदुरादयः* संमान्य विसृष्टाः । निर्वर्त्तितं महाविभूत्या तयोर्विवाहमङ्गलम् । विश्ववल्लभः कुमारस्तत्र कियत्कालं स्थितः।

अन्यदा राज्ञाऽनुज्ञातः *पद्मोत्तरो* महता सैन्यभरेण भुवमाच्छादयन् क्रमेण निजनगरं गतः । पितरावानन्दितौ । प्रवेशमहोत्सवो महताडम्बरेण कृतः । ततो राज्ञा मन्त्रिसामन्त-सम्मतो युवराजः कृतः । पुण्यस्य फलं भुञ्जानस्तस्थौ *पद्मोत्तरः* सुखम् ।

अथ *वैताढ्य*पर्वतस्योपरि विद्याधराणां दक्षिणोत्तरे द्वे श्रेण्यौ। तत्रोत्तरश्रेणिशृङ्गारे *गगनवल्लभे* पुरे विद्याधरशिरोमणिः *कनक-केतु*र्नाम महीपती राज्यं करोति । तस्य द्वे पत्न्यौ *कनकवती*-

*रत्नवती*नाम्न्यौ । तयोर्द्वे सुते, प्रथमा *कनकावली* द्वितीया *रत्नावली*। तयोर्जन्मदिने नैमित्तिकेन समादिष्टम् - 'यः कोऽपि भाग्यवान् पुमान् अनयोर्मध्ये एकां कनीं परिणेष्यति स ह्येकश्रेण्या अधिपो भविष्यति, यो द्वे परिणेष्यति स द्वयोरपि श्रेण्योर्भाविकाले भोक्ता भविष्यति' । तयोः सर्वातिशायि सौन्दर्यं वीक्ष्य पित्रा प्रवरः स्वयंवरमहः प्रारेभे । तदा च -

कलाकलापसम्पन्ना, मिलिताः खेचरा नृपाः ।
विद्योन्मत्ता महारूपाः, स्वस्वसंपत्समन्विताः ॥१६॥

तस्मिन् स्वयंवरे ताभ्यां *हरिवेग*कुमारो वृतः । ततः *कनककेतु*नृपेण महामहेन विवाहो विहितः । कियन्ति दिनानि तत्र स्थित्वा *हरिवेगः* श्वशुरानुमतिमादाय प्रचलितः, अनुक्रमेण च निजनगरं समागतः । अथ *हरिवेग*पिता *तारवेगो* नितरां हृदि प्रमुदितो दध्यौ - "नरभवेऽपि विद्याधरत्वं पुण्येन प्राप्यते, विद्याधरेष्वपि मत्पुत्रो भाग्याधिकोऽस्ति, यतः श्री-कीर्त्तिभ्यामिवैताभ्यां वृतोऽसौ, कथमन्यथा लक्षशः क्षोणिपान् शक्तानपि उपेक्ष्य इममेव वृत्ते ? । अयं च श्रेणिद्वयस्य भोक्ता भावी, यतो ज्ञानिनो वचो नाऽन्यथा भवेत् । ततोऽमुना प्राग्भवे किं सुकृतं कृतं भविष्यति? इति ज्ञानिनं प्रक्ष्यामि" । इति यावन्नृपः स्वचेतसि चिन्तयति, तावद् ज्ञानभानुर्विश्वतमोहर्त्ता *श्रीतेजा* नाम केवली भगवान् नन्दननाम्नि वने समवसृतः । तदुदन्तं श्रुत्वा हर्षभरप्रफुल्लगात्रो महीपतिर्*हरिवेग*कुमारान्वितोऽनेकसामन्त-मन्त्रीश्वरपरिवृतश्चतुरङ्गचमूचक्रकलितस्तत्र गत्वा केवलज्ञानिनं नत्वा यथोचितस्थाने

स्थित्वा धर्मदेशनां शुश्राव । प्रस्तावं च प्राप्य कुमारस्य प्राग्भवं पप्रच्छ । ततः केवलिना *शङ्ख*नृप*कलावती*-राज्ञीभवादारभ्य *पद्मोत्तर-हरिवेग*पर्यन्ता धर्मनिर्मला भवा वर्णिताः। उक्तं च - 'धर्मसेवनया यत् पुण्यानुबन्धि पुण्यं बद्धं, तत् तारतम्येन द्वयोर-प्यनयोः सम्प्रति स्फातिमागमत्'। तच्चरित्रं श्रुत्वा चारुपरिणामा-ऽन्वितो नृपो *हरिवेग*कुमारं राज्यपदे संस्थाप्य केवलज्ञानिसमीपे चारु चारित्रमङ्गीचकार ।

अथ *हरिवेगः* स्मृतप्राच्यभवो जिनमतप्रियः श्रावकधर्मं प्रपद्य प्राच्यप्रेम्णा गुरूनिति पप्रच्छ - 'हे भगवन् ! स *सूरसेनस्य* जीवः *पद्मोत्तरः* क्वाऽस्ति ? । किं सुलभबोधिः किं वा दुर्लभबोधिकः? प्राप्तधर्मोऽस्ति किं वा मिथ्यादृक्?'। ततः केवलिना प्रोक्तम् - ''हे पुण्यात्मन् ! शृणु । दक्षिण*भरतार्द्ध*मध्यखण्डे *गर्जनपुरा*ऽधिपस्य *पद्मोत्तराभिधः* कुमारः साम्प्रतं वर्त्तते । स च जिनधर्मं प्राप्तो नास्ति, किन्तु प्राप्तुं योग्योऽस्ति । सामग्र्यभावेन जीवो धर्मयोग्योऽपि धर्मं न लभते । यतः -

[1]जोग्गा वि धम्मरयणस्स, पाणिणो न हि लहन्ति संबोहिं ।
सुविसुद्धधम्मचरियं, धम्मायरियं अपावेंता ॥१७॥

[2]सुद्धे वि दले पडिमा, न होइ खलु सुत्तहारविरहेण ।
सुद्धे वि जीवदव्वे, न गुणुप्पत्ती गुरुविओगे ॥१८॥

1. योग्या अपि धर्मरत्नस्य, प्राणिनो नहि लभन्ते सम्बोधिम् ।
सुविशुद्धधर्मचरितं, धर्माचार्यम् अप्राप्नुवन्तः ॥

2. शुद्धेऽपि दले प्रतिमा, न भवति खलु सूत्रधारविरहेण ।
शुद्धेऽपि जीवद्रव्ये, न गुणोत्पत्तिः गुरुवियोगे ॥

हे नृप ! तत्र पुरे विप्रभिया मुनयो न विहरन्ति, तेन गुरुसामग्र्यभावतः *पद्मोत्तरेण* सम्यक्त्वं न प्राप्तम्, परं द्विजातिभिरपि शैवधर्मेऽपि न वासितोऽस्ति । काचमणीनां मध्ये अविद्ध-मरकतमणिरिव संस्थितः, किन्तु त्वत्तो जिनमतं लात्वा *पद्मोत्तरो* बोधिं लप्स्यते" । इति निशम्य *हरिवेगो* हर्षवान् केवलिनं भगवन्तं नत्वा स्वस्थाने गतः । स क्रमादतुलतेजसा महर्द्धिक उभयश्रेणि-विद्याधराऽर्चितो विद्याभृतां चक्री अभूत् ।

अथैकदा स *हरिवेगः* केवलिवचनं मनसि निधाय *पद्मोत्तर*-प्रतिबोधनकृते मन्त्रिणं राज्ये नियोज्य अञ्जन-घनच्छायं पिङ्ग-वर्तुललोचनं वराटिकाऽलङ्कृतोरुभाल-ग्रीवं, महोदरं, सुन्दर-करपादं, शूकरस्थूलदेहं, लसत्किङ्किणीशृङ्खलायुतं वैक्रियमार्जारं करे कृत्वा अत्युत्सुकतया स्वमित्र*पद्मोत्तर*स्य नगरे *गर्जनपुरे* आगत्य राजमार्गे स्थितः । तदा मिलितैर्नागरैस्तत्समीपे स्थूलाङ्गं मार्जारं दृष्ट्वा स खेचरः पृष्टः - 'भोः पान्थ ! मूल्येनाऽसौ मार्जारो दीयते न वा ?' । तेनोक्तम् - 'दीनाराणां लक्षमस्य मूल्यम्'। नागरिकैः प्रोक्तम् - 'भोः ! इयानर्थोऽस्य नोचितः' । तदा सोऽवदत्- "भो लोकाः ! मूल्यं गुणानां लभ्यते, न हि वस्तुनः । [1]दारु चारुगुणैर्लक्षं लभते मूल्यम्, [2]उपलो गुणैः कोटि-मूल्यमर्हति; गुणहीनास्तु किमपि न लभन्ते । उक्तं च -

गुरु-देय-ब्राह्मणर्षि-हयेभ-वृषभा-ऽश्मनाम् ।
वस्त्रादीनां विशेषोऽस्ति, गुणा-ऽगुणभवो महान् ॥११॥

1. काष्ठम् 2. पाषाणः ।

मार्जारमार्जारेष्वपि महान् भेदोऽस्ति । यतः-

याजि-वारण-लोहानां, काष्ठ-पाषाण-वाससाम् ।
नारी-पुरुष-तोयाना-मन्तरं बहुधान्तरम् ॥२०॥

तथा-

देवाण[1] य धम्माण य, समणाण य बंभणाण भुवणम्मि ।
अत्थि विसेसो गरुओ, नज्जइ नवरं खु विरलेहिं ॥२१॥

तन्निशम्य विप्रैः प्रोक्तम् - 'सुष्ठु भो उक्तं भवता, परमस्य के गुणाः सन्ति ? इति कथ्यताम्' । विद्याधरेण प्रोक्तम् - "कोटिशो गुणाः सन्ति, परं भवतामग्रे कथिताः किं फलं दास्यन्ति?। ततोऽहं राजकुले गन्तुं समुत्सुकोऽस्मि। भवादृशा मूल्यदाने समर्था न भवन्ति । यतः -

लुम्बिका नालिकेराणां, नाऽदन्ति[2] क्षुधिता द्विकाः[3] ।
निष्फलः शक्तिमुक्तानां, रत्नग्रह-मनोरथः ॥२२॥

वणिजः काकिणीमात्रमपि लेखकेऽन्वेषयन्ति, विप्रास्तु आजन्म भिक्षवः, तेषामग्रे स्वरत्नं दर्शयन् किं भो ! अहं ग्रथिलो भवामि?" । इति जल्पन् द्विजैः सहितः [4]सौतुर्नृपगृहं गतः । पूर्वभवाऽभ्यासात् *पद्मोत्तरेण* स स्निग्धदृष्ट्या दृष्टः । समुल्लसितनेत्रेण तेन स पृष्टः स्वागतम् । ततः स्थूलौतुं वीक्ष्य नृपेण प्रोक्तम् - 'भो भद्र ! क्व प्राप्तस्त्वया-ऽयम् ?' । तेनोक्तम्-

1. देवानां च धर्माणां च, श्रमणानां च ब्राह्मणानां भुवने ।
अस्ति विशेषो गुरुको, ज्ञायते नवरं खलु विरलैः ॥
2. भक्षयन्ति । 3. काकाः । 4. ओतुना-बिडालेन सहितः ।

'भक्तिभररञ्जितेन देवेन मे दत्तः । नास्त्यस्य मार्जाररत्नस्य मूल्यं, न चाप्यते चेदृग् रत्नं, परं धनहीनत्वेन लक्षदीनारमूल्येन ददामि' । ततो राज्ञा *सुरपतिना* प्रोक्तम् - 'मार्जारस्याऽस्य के के गुणाः सन्ति ?' । खेचरेण प्रोक्तम् - ''निशम्यताम् । एकस्तावद् गुणः-महाप्रमाणोऽयम्, द्वितीयो गुणः-अन्यमार्जारैरजेयोऽयम्, तृतीयोऽस्य गुणः-यत्रैष निशायामपि वसति तस्मात् प्रदेशाद् द्वादश योजनानि यावद् मूषका दूरे वसन्ति; एते बाह्या गुणाः प्रकटाः। आभ्यन्तरास्तु बहवो गुणाः सन्ति । ततो विदुषां विप्राणां दर्शयित्वा मूल्यं कार्यतां, यथा क्षणाद् विक्रीय स्वस्थाने गच्छामि''। ततो राज्ञाऽऽदिष्टैर्विप्रैः पश्यद्भिस्तद्वामकर्णम् ईषत्खण्डितं वीक्ष्य पृष्टम् - 'किं खण्डितकर्णोऽसौ?'। ततो *हरिवेगेण* प्रोक्तम् - ''दूराद् वनात् समागच्छन् क्वचिद्देवकुले रात्रौ सुप्तोऽहम् । अयं मार्जारोऽपि मार्गश्रमात् [1]प्रमीलायितः, तदा च निश्यदृष्टो [2]वृषाक्षः समागतः, तेनाऽस्य कर्णः खादितोऽस्ति'' । ततो हसित्वा तेऽवदन्- 'भोः! तृतीयोऽस्य गुणः क्व गतः ?' । खेचरः प्राह - 'भो भद्राः ! तथाभूतेनैकेन दोषेण रत्नं न दुष्यति, यतो देवेष्वप्येवं दर्शनाद्, मार्जारे तु का कथा ?' । ततो विप्रैः प्रोक्तम् - 'देवेषु दूषणं नास्ति' । तदा सोऽवक् - 'यद्येवं ततो भो द्विजा! वः पृच्छामि, यो विप्रं बालं महिलां गां च हन्यात्, सोऽत्र कीदृशो भण्यते ?' । भट्टैः प्रोक्तम् - 'महापापिष्ठोऽद्रष्टव्यमुखश्च भवेदसौ' । ततो *हरिवेगेण* भणितम् - ''यद्येवं तर्हि वो वैश्वानरः प्रज्वलितो ब्राह्मण-गो-बाल-स्त्रीणां मध्यादेकमपि न मुञ्चति, स देवधिया कथं पूज्यते ? । अत्र

1. तन्द्रायितः । 2. मूषकः ।

यदि कथयिष्यथ - 'त्रयस्त्रिंशत्कोटीनां देवानां मुखमसौ, तेषां तृप्तयेऽसौ मधु-घृतादिभिः पूज्यते' । किन्तु नेदं क्षोदक्षमं, यस्मात्सुराणामेष चेद् मुखं, तर्हि अनिष्टमृतककलेवराद्य-शुचिवस्तुग्रसनं कथं करोति ? यूयं पुनरशुचिभोजिनो देवान् पूजयन्तः कथं शुचीभूताः ? । भोः ! यूयं स्वमतोद्भवं विरोधं कथं न लक्षयथ ? । एवमुदकमपि विष्णुमूर्त्तिं कथयित्वा गुदा-पादादिधावने योजयन्तो यूयं विरुद्धव्यवहारिणः कथं न ? । अथ 'अनेन विना विश्वं न जीवति, ततो देवो जलम्' इति चेत्, कार्यकारित्वात् कुम्भकारादयोऽपि देवा भविष्यन्ति, यतस्तेऽपि लोकोपकारिणः सन्ति । अथ [1]विप्राणां बोत्कटमूत्रेण विना सूतकं नैव शुध्यति, तथा जलेन विना देहस्य शुद्धिर्न भवति, एतावता तौ किं द्विजन्मनां देवौ भवेताम् ? । अथोच्येत 'एतदर्थं जला-ऽग्न्योः सृष्टिर्धात्रा कृता घटपटादिवत्' । हन्त तर्हि जला-ऽग्न्योरुपकारित्वं सिद्धं, परं देवकल्पना कर्त्तुं न युक्ता । यतो राजानं परिकल्प्य तं कः कर्मकरणे नियोजयेत् ?, तद्वद् 'देव' इत्युक्त्वा नैवाऽशुचिनिवारणे प्रेर्येत । एवं 'महादेवेन कामो दग्ध' इति मन्यध्वे, पुनस्तमेव हरं गङ्गा-गौर्यासक्तं कथयन्तोऽपि निर्दोषं प्रादुष्कुरुथ, तर्हि मूषकघ्नमपि तेनैव खण्डितकर्णमेतं बिडालं कथं दूषितं कथयथ ?" । एवं सावष्टम्भं *हरिवेगोदितं* श्रुत्वा वाडवा निरुत्तरा निश्चेष्टाश्च लेप्यप्रतिमासमाना जाताः । भूपतिरपि तस्योक्तीर्निशम्य भट्टोदिते मते मन्दादरोऽभूत् । ततः *पद्मोत्तरकु*मारो

1. इस स्थान पर प्राकृत चरित्र में निम्न श्लोक है -

वच्छीपुत्तेण विणा सुज्झइ न हि सुययं दियाणं पि ।
अंगं व जलेण विणा ता भन्नउ सो वि किं देवो । ॥१६३ ॥

दध्यौ - 'नाऽयं मार्जारविक्रेता, किन्तु कोऽपि महान् पुरुषः, ततो धर्मस्वरूपमेनं पृच्छामि' । इति विचिन्त्य तेन प्रोक्तम् - 'भो मित्र! राजहंसो यथा पद्मवने क्रीडति, तथा त्वन्मनः कुत्र देवे गुरौ धर्मे च रमते ?' । ततो *हरिवेगेण* प्रोक्तम् - "सर्वेषां दर्शनिनां शासनानि वेद्म्यहं, तत्रैकं जिनमतं विना परं सविवेकं दर्शनं नास्ति । सर्वेऽपि दर्शनिनोऽहिंसा-सूनृता-ऽस्तेय-ब्रह्म-सन्तोषसंयुतं धर्मं कथयन्ति, परं नैव कुर्वते । केऽपि दर्शनिनः सपरिग्रहवाणिज्या भूत्वा कीटादिकान् जीवान् घ्नन्ति, पचन-पाचनाद्यारम्भांश्च कुर्वन्ति । केऽपि कन्द-मूल-फलाहारा मुधा तपःकृशा दयाधर्मं प्रलपन्तोऽपि वनस्पतिषु जीवत्वं नैव जानन्ति। केऽपि जडा धर्मार्थं यज्ञकर्मणि पशून् जुह्वति, धर्मं च कथयन्ति, परं पुत्रादिकं न जुह्वति । ये दयाधर्मं कथयन्तोऽपि हिंसां कुर्वन्ति, ते दधिमाषाशनैः कलुषितमन्नमिव धर्मा-ऽधर्म-मिश्रितं कलुषितं धर्मं सेवन्ते । निर्दोषस्तु धर्मो जिनोदित एवाऽस्ति । कष-ताप-च्छेदशुद्धस्वर्णवद् विश्वसम्मतं तं धर्मं शुद्धं जानीहि, यत्र देवो जिनेन्द्रोऽष्टादशदोष-विवर्जितः । तद्यथा -

अन्तराया [१]दान-[२]लाभ-[३]वीर्य-[४]भोगो-[५]पभोगकाः ।
[६]हासो [७]रत्य-[८]रती [९]भीति-[१०]र्जुगुप्सा [११]शोक एव च ॥२३॥

[१२]कामो [१३]मिथ्यात्वमज्ञानं[१४] [१५]निद्रा [१६]चाऽविरतिस्तथा ।
[१७]रागो [१८]द्वेषश्च नो दोषा-स्तेषामष्टादशाऽप्यमी ॥२४॥

गुरुः - अहिंसा-सूनृता-ऽस्तेय-ब्रह्मा-ऽकिञ्चनभेदात् पञ्चमहाव्रतधरः, पञ्चसमिति-त्रिगुप्तिमान्, षड्जीवनिकायरक्षणपरो, निरीहो, निःस्पृहश्च मुनिर्गुरुः प्रोच्यते । धर्मोऽपि स उच्यते, यो

दुर्गतिपतत्प्राणिगणं रक्षति । यतः -

कनीनिकेव नेत्रस्य, कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः, सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥२५॥

तत्त्वश्रद्धानमेतच्च, गदितं जिनशासने ।
सर्वे जीवा न हन्तव्याः, सूत्रे तत्त्वमितीष्यते ॥२६॥

स हि हितार्थशिवप्रदो धर्मः" । इति अर्हन्मतगुणस्तुतिं शृण्वन् *पद्मोत्तरः* परमानन्दमापन्नः ।

ततो *हरिवेगेण* भाषितम् - "हे *पद्मोत्तर* ! जिनधर्मानुभावतः प्राप्तं चिरं भुक्तं ग्रैवेयकोद्भवं सुखं किं न स्मरसि?। मणिरत्नाढ्यं विमानम्, अहमिन्द्रत्वं, प्रतिमाऽष्टशतान्वितं च सिद्धायतनं त्वं किं न स्मरसि ? । हे मित्र ! धर्ममाकर्णयन्नपि किं न कुरुषे ?"। इति *हरिवेगो*क्तमाकर्ण्य जातजातिस्मृतिः *पद्मोत्तरो* जगौ - "अहो! ज्ञानम्, अहो! स्नेहः, अहो ! परोपकारिता । अहमेवं जाने, त्वं तु *मुक्तावली*जीवोऽधुना विद्याधरो जातः, मद्बोधाय च त्वमायातोऽसि। ततो मायां विमुच्य स्वस्वरूपं प्रदर्शय" । ततो *हरिवेगः* स्वाभाविकं स्वं रूपं प्रकटीकृत्य *पद्मोत्तर*मालिलिङ्ग। कुमारेणाऽपि स्वागत-प्रश्नपूर्वकमर्द्धासने निवेशितः । ततो *हरिवेगे*णोक्तम् - "हे मित्र ! तव मिलनार्थं मम चित्ते महानभिलाषोऽभूत् । तव ध्यानं क्षणमपि मनसो नोत्तारितम् । यथा -

तत्त्वं ब्रह्म यथा स्मरन्ति मुनयो हंसा यथा मानसं,
यद्वत् [1]पल्लयसल्लकीयनयुतां ध्यायन्ति रेवां गजाः ।
युष्मद्दर्शनलालसा अनुदिनं तद्वत् स्मरामो वयं,

1. गजभक्ष्यवनस्पतिविशेषः

धन्यः सम्प्रति वासरोऽत्र भवतां जातो हि यत्सङ्गमः॥२७॥

ततः कुमारेणोक्तम् - "भो मित्र ! भवादृशां सज्जनानां सौजन्यं केन वक्तुं शक्यम् ? । परम् -

अद्यैव सुदिनं जातं, वेलेयं सुखशालिनी ।
सङ्गमो यत्र भवतां, शेषं जन्म निरर्थकम् ॥२८॥

आर्त्ति-शोक-भयत्राणं, प्रीति-विश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ? ॥२९॥

वरमसौ दिवसो न पुनर्निशा, ननु निशैव वरं न पुनर्दिनः ।
उभयमप्यथवा व्रजतु क्षयं, प्रियतमेन न यत्र समागमः ॥३०॥

भुंजउ[1] जं वा तं वा, निवसिज्जउ पट्टणे व रण्णे वा ।
इट्ठजण जत्थ जोगो, तं ठाणं चेव रमणिज्जं ॥३१॥

एवं तौ सस्नेहौ दृष्ट्वा विस्मितेन *सुरपति*नृपेण पृष्टम् - 'भोः ! केयं वार्त्ता श्रवणसुखदा ?' । ततो *हरिवेगेण* समग्रं पूर्वभवचरितं कथितम् । कुमारोऽपि तथेत्यवक् । ततो लोकैरुद्घोषणा कृता यथा, जैनो धर्मः पृथिव्यां जयति। राजाऽपि द्विजादिसंयुक्तोऽर्हद्धर्मेऽभिरतोऽभवत् ।

इतस्तच्चरितं ज्ञात्वा ग्रामानुग्रामं विहरन्, केवलज्ञान-भास्करः, सुरा-ऽसुर-नरनिकरसंसेवितचरणकमलः, *श्रीगुणसागरः* केवली समवसृतः । तच्छ्रुत्वा हर्षिता नृपादयो वन्दनार्थं गताः, केवलिभगवन्तं च नमस्कृत्य धर्मदेशनां श्रोतुमुपविष्टाः । भगवतापि पापाऽपहारिणी देशना प्रारब्धा -

1. भुङ्क्त्वा यद्वा तद्वा, निवसतु पत्तने वाऽरण्ये वा ।
इष्टजनस्य यत्र योगस्तत् स्थानमेव रमणीयम् ॥

"भो भो भव्याः ! जन्म-जरा-मृत्युतरङ्गभङ्गैर्भीमे भवाब्धौ नानाविधाऽऽपन्मकरार्दितानां युष्माकं त्राणाय सर्वज्ञोक्त धर्मपोत एव समर्थः । यतः-

चिन्तामणेर्वा किल कल्पवृक्षात्, [1]स्वर्धामधेनोरपि कामकुम्भात् ।
एतद् दुरापं च ततो भवद्भि-र्यत्नेन कार्यं सुग्रहीतमेव ॥३२॥

कल्पद्रुमुन्मूल्य वपत्यसौ [2]स्नुहिं,
चिन्तामणिं प्रोज्झ्य च लाति कङ्करम् ।
[3]पीयूषमुत्सृज्य विषं पिबेत् सको,
योऽर्हन्मते सत्यपि दुर्मते लगेत् ॥३३॥

परं गुरुं विना तस्य धर्मस्य प्राप्तिः कदाचिदपि न सम्भवेत्। तत्त्वत्रयप्रवर्त्तको मध्यस्थो गुरुः प्रोच्यते । यतः-

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते,
प्रवर्त्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः,
स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ॥३४॥

यथा नीरं विनाऽब्जिनी न स्यात्, यथा च भानुं विना दिनं न स्यात्, तथा स्वर्गापवर्गदो धर्मो गुरुं विना न स्यात् । एवं च दुर्लभं जैनधर्मं संसारनिस्तारकारकं प्राचीनपुण्येन लब्ध्वा भो भविकाः ! तदाराधने सदा यतध्वम्" ।

ततो *हरिवेग*विद्याधरचक्रिणा प्रोक्तम् - 'हे भगवन् ! सत्यं, न धर्माप्तिर्गुरुं विना, अन्यथा ***पद्मोत्तरो*** गुणी धर्मात्कथं

1. देवधेनोः-कामधेनोः । 2. भाषायाम्- 'थोर' । 3. अमृतम् ।

वञ्चितः ?' । *सुरपति*नृपेणाऽपि विज्ञप्तम् - "हे भगवन् ! मया हृदि निश्चितं, यथा सर्वदेवशिरोमणिर्वीतराग-परमात्मैव महादेवः, नाऽन्ये देवाः । गुणगणाधारभूतः सदाचारप्ररूपको गुरुः । षड्जीवनिकाय-रक्षणधौरेयो धर्मः । परं सतीदृशे धर्मे लोकास्तथा राजादिकास्तथा सर्वे पाखण्डिनोऽन्यान्यदेवसेवनतत्पराः कथमात्मानं निष्फलक्रियया वृथा क्लेशयन्ति ?" । केवली प्रोवाच - "हे भूप ! फलानुगः सर्वेषां व्यवसायः । केऽपि चक्रिणं सेवन्ते, महामाण्डलिकं कति, केचन खण्डमाण्डलिकं, तथाऽन्ये ग्रामाधिपं, केऽपि क्षेत्राधिपं, केऽपि धिग्जातिं, केऽपि नटं, केऽपि भटं, केऽपि भिक्षुकमपि सेवन्ते । परं ते सर्वेऽपि जना अर्थार्थिनो यादृशानां सेवां कुर्वते, फलमपि तादृशं लभन्ते । एवं देव-गुरु-धर्मास्तेन तादृशाः सेव्यन्ते येन परभवे यादृशमधमं मध्यममुत्तमं च फलं प्राप्यम् । हे राजन्! दुःशास्त्रकारकैर्धूर्तैः सुखावहं धर्मं कथयित्वा वराको लोको मोहितः। यथा-स्नानं, कन्द-मूलादिभक्षणं, रात्रिभोजनं, कन्यादानं, कूप-तटाक-वाप्यादिकारापणं, धिग्जातिभोजनादिकं च बाललीलासमानं धर्मं शृण्वताम् अविवेकिनां मतिर्जैने धर्मे न रमते । घोरं पञ्चमहाव्रतभारमङ्गीकर्तुं येऽसमर्थाः, ते विषयामिषलुब्धा गृह-स्थाश्रममेव प्रवरं धर्मं प्रवदन्ति । वापी-कूप-तटाक-तटिनी-द्वित्रितटिनीसङ्गमस्थान-गङ्गा-यमुना-सरस्वती-त्रिवेणी-नर्मदा-गोदावरी-सेतुरामेश्वरादौ स्नानाद् महत् पुण्यं मन्यन्ते । तथा त्रिपुरा-तोतला-महामाया-लक्ष्म्य-म्बिका-काली-महाकाली-भद्रकाली-चण्डी-दुर्गा-भवानी-व्याघ्रेश्वरीप्रभृतिदेवीपूजातो जापाच्च, यजुर्वेदादिमन्त्रजापात्, तथाऽपरे होमकरणाच्च पापशमनं वाञ्छन्ति।

केचन पथि वृक्षारोपणाद् धर्ममभिलषन्ति । केचित् *शून्यध्यानात् पापस्य प्रलयं मन्यन्ते* । केचन पुनरात्मपूजनाद्धर्मं कथयन्ति । 'आत्मैव परमात्मा, तस्य क्षणमपि दुःखं न देयं, स्वेच्छापूर्तिरेव महान् धर्म' इति बालिशा मन्यमाना हे राजन् ! तीर्थङ्करप्रणीते रम्ये शुद्धधर्मे कथं रमेरन् ? । *धर्मशब्दसाधर्म्येण धर्मं मन्यन्ते मिथ्यात्वग्रथिलाः* । ततः -

मिथ्यात्वं दुःखदं घोरं, मिथ्यात्वं परमो रिपुः ।
विषमुत्कटं मिथ्यात्वं, ततो भूप ! विमुच्यताम् ॥३५॥

यतः-

विषा-ऽहि-रुग्-वह्नि-रिपुव्रजेभ्यो,
मिथ्यात्वमत्यन्तदुरन्तदुःखम् ।
एकत्र जन्मन्यहितं विषाद्यं,
मिथ्यात्वमाहन्ति नृणामनन्तम् ॥३६॥

इति केवलिवचनं निशम्य भिन्नमिथ्यात्वग्रन्थिः प्रादुर्भूत-सुदर्शनः[1] क्रमेण जातचारित्रपरिणामो नृपतिः *सुरपतिः* केवलिनं नमस्कृत्याऽभणत् - 'हे भगवन् ! यथा मिथ्यात्वगर्ते ब्रुडतो मेऽनुग्रहः कृतः, तथाऽधुना [2]दीक्षानगारोहेऽनुग्रहः कार्यः' । इति भणन् केवलिनाऽसौ दीक्षितः । स *सुरपति*साधुः विशुद्धचारित्रं पालयन् क्रमेण क्षपकश्रेणीमारुह्य केवलज्ञानं केवलदर्शनं च समुत्पाद्य चिरकालं भूपीठे विहृत्य भवोपग्राहिकर्माणि क्षिप्त्वा परमं पदं प्राप्तः ।

अथ प्रपन्नश्राद्धधर्मः *पद्मोत्तर*कुमारो *हरिवेगा*दिभिर्नृपैः पितुः

1. दर्शनम्-सम्यक्त्वम् । 2. नगः पर्वतः ।

पट्टेऽभिषिक्तो महामाण्डलिकोऽभवत् ।

अन्यदा *हरिवेगेण पद्मोत्तरो* राट् *वैताढ्यो*परि *सुभौम*नगरे नीतो बहु सन्मानितः । भणितश्च - 'हे मित्र ! मम श्रेणिद्वयराज्यं विद्यां च गृहाण' । तदा *पद्मोत्तरो*ऽवक् - "हे मित्र ! नाऽऽवयोरन्तरं, ततस्ते राज्यं ममैव । दुर्लभं जिनधर्मं दत्त्वा त्वयाऽखिलं मोक्षराज्यं मे दत्तम् । धर्मोपदेशकाः पुरुषाः पृथिव्यां दुर्लभाः । यतः -

ये द्रव्यव्ययकारिणः शुभकृते ते सन्त्यहो कोटिशो,
ये कष्टाभिनिविष्टलष्टवपुषः स्तोका न तेभ्योऽपि ते ।
नानाशास्त्रविचक्षणा भुवि तु ये ते चाऽपि नो दुर्लभा,
ये जैन्युक्तिविधायिनः प्रशमिनो द्वित्राः पुनस्तेऽधुना ॥३७॥

ततो भो मित्र ! आवामवियुक्तौ उभे राज्ये भुञ्ज्वः । यावद् राज्यभारधुरन्धरौ तनयौ जायेते, ततस्तयो राज्ये दत्त्वा दीक्षां कक्षीकरिष्यावः" । ततो *हरिवेगेणोक्तम्* - 'हे मित्र ! त्वया मन्मनोगतं प्रत्यपादि' । इति तौ निर्भरस्नेहौ मुदितौ महाविदेहादौ श्रीजिनान् वन्देते, धर्मोपदेशं शृणुतः, शाश्वताऽर्हच्चैत्येषु यात्राः पूजाश्च बहुभक्तितः कुरुतः । जगदाह्लादकारकौ द्वे राज्ये पालयतः । चैत्यानां साधूनां च प्रत्यनीकनिवारणात् परमा प्रभावना ताभ्यामकारि । साधर्मिकवात्सल्यकरणेन श्रावकाः समुद्धृताः । ताभ्यां प्रजा अप्यकरीकृताः, यथा जने महानन्दो जातः । प्रायो द्विजन्मानोऽपि जिनधर्मे परमादरा जाताः, *जानपदा* अपि जिनधर्मपरा जाताः । अन्येऽपि तयोर्धर्मानुमोदनां कुर्वाणा आसन्नबोधिलाभा अमत्सराश्च जाताः ।

अन्यदा राज्यभारं धरन्तौ तौ *पद्मोत्तर-हरिवेगौ* ध्वजा-पताका-तोरणाद्युत्सवसमन्विते *गर्जनपुरे* प्राप्तौ। तत्र श्राद्धैर्जिनेन्द्र-प्रासादेषु गीत-वादित्र-नाट्यादिभिः समं महाभक्त्या परमोत्सवः कर्त्तुं प्रारब्धः, पूजा च विविधवर्णकैर्विरचिता। तस्मिन्नुत्सवे सर्वे लोकाः परमानन्दं प्राप्ताः। तदा च *पद्मोत्तर-हरिवेग*नृपावपि सहर्षौ महद्धर्या जिनभवने समागतौ, भगवत्पूजां च विलोक्य परम-प्रमोदकलितौ तुष्टुवतुः। यथा -

नेत्रानन्दकरी भवोदधितरी श्रेयस्तरोर्मञ्जरी,
श्रीमद्धर्ममहानरेन्द्रनगरी व्यापल्लताधूमरी।
हर्षोत्कर्षशुभप्रभावलहरी भावद्विषां जित्वरी,
पूजा श्रीजिनपुङ्गवस्य भवतु श्रेयस्करी देहिनाम् ॥२८॥

चेतः पुनाति घनकर्मचयं लुनाति,
स्वर्गं ददाति शिवसम्पदमादधाति।
पुण्योदयं वितनुते तनुते सुसौख्यं,
सज्जैनपूजनमिदं किमु यन्न धत्ते ? ॥३०॥

इत्यादिं भगवत्स्तुतिं विधाय द्वौ पार्थिवौ चैत्याद् निजं भवनं व्रजन्तौ राजमार्गेऽभ्यायान्तं, जटिलं, धूलिधूसरं, लसत्ताम्बूलरक्तौष्ठं, सेटिकाश्वेतपाणिकं[1], कच्छोटिकाधरं, पृष्ठौ संयन्त्रित-भुजद्वयम्, आक्रोशकृद्द्यूतकारवृन्दान्तःस्थं, लेष्ट्वादिभिश्च हन्य-मानं कञ्चिद् द्यूतकारं नरं ददृशतुः। ततो दयालुना *पद्मोत्तर*नृपेण 'रे ! किमेवं को मद्राज्ये पीड्यते ?' इति भणता स्वसमीपे

1. सफेद मिट्टी से सफेद है हाथ जिसके।

आनायितः । ततः पृष्टाः कदर्थकाः – 'रे ! किं वराकोऽयं कदर्थ्यते?'। ततो नगरपुरुषैर्भणितम् – "हे राजन् ! मा कृपां कुरु, एष भवत्कृपायोग्यो नास्ति। यत एषोऽत्रैव पुरे नवकोटीश*वरुण*श्रेष्ठिनन्दनः पित्राद्यैर्वार्यमाणोऽपि स्वकर्मतो द्यूते रन्तुं लग्नः । सर्वस्वे हारिते पित्रा गृहान्निष्काशितो ज्ञातेश्च बहिष्कृतः, तथापि द्यूतं नोज्झति। असौ हस्त-पादानामपि पणकरणेन रमते, तस्माद् द्यूतकारैः पीड्यते। अस्य दयालुना जनकेन तु सप्त वारान् मोचितः, तथापि कारिताऽनेकशपथोऽपि द्यूतान्न विरमत्येषः। यदाऽयं जितस्वस्तदा न कस्यापि समीपात् कपर्दिकामपि मुञ्चति, यथेच्छं च वेश्याभिः सह विलसति । यदा तु हारयति तदा न देयं ददाति । यतः –

प्रायो भवन्ति पञ्चाऽमी, द्यूतस्य सहचारिणः ।
चौर्यं वञ्चकताऽलीकं, दारिद्र्यं लाघवं तथा ॥४०॥

परोपकाराय न कीर्त्तये न, न प्रीतये नो सुकृताय लक्ष्मीः ।
सुखाय न स्यात् खलु बान्धवानां, द्यूतागता केवलपातकाय ॥४१॥

हे राजन् ! अनेनाऽद्य द्यूते लक्षद्रव्यं हारितं, ततो नष्टः, अस्माभिश्च महता कष्टेन गृहीतः । ततो हे देव ! दुराचारमिमं भवान् ददातु" । तदा नृपेण चिन्तितम् – 'अहो ! कर्मपरिणामः, अहो ! अज्ञानजृम्भितम्, अहो ! व्यसनतात्पर्यम्' । इति ध्यायन् कृपापरो नृपतिः कथयामास – 'योऽमुना सार्द्धं क्रीडिष्यति, तस्य महादण्डो, भविष्यति' । इति कथयित्वा दीनारलक्षेण तं विमोच्य *हरिवेगेण* सह स्वगृहे गतः ।

अथ वैराग्यवान् *पद्मोत्तरो हरिवेगं* विद्याधरेन्द्रं कथयामास–

"हे सखे ! अयं द्यूतकारो मूढः, यो व्यसनार्त्तोऽपि द्यूतं न मुञ्चति। किन्तु स किं शोच्यः ? यथाऽन्धः स्खलन् । परम् एतस्मादप्यावां बहुशोच्यौ, यतः संसारस्याऽसारतां जानन्तावपि प्रमादतोऽशुचिरूपे भोगेऽद्य यावद् रतिं कुर्वः । यथा द्यूतं नीचकर्म विद्वद्भिः सदा निन्दितं, तथा ज्ञाततत्त्वैः सत्त्वैर्विषयसेवनमपि निन्दितमेव । यतः-

पुंसो विषं च विषयाश्च निरूप्यमाणाः
श्रेयो विषं न विषया विषमस्वभावाः ।
एकत्र जन्मनि विषं विनिहन्ति जन्तुं,
जन्मान्तरेऽपि विषया विषतां प्रयान्ति ॥४२॥

यथा महता कष्टेन महता कालेन च समुपार्जितं द्रव्यं सद्यो द्यूतेन हार्यते, तथा पुरा जीवेनोपार्जितं सुकृतं विषयसङ्गेन क्षणेन हार्यते । यथाऽसौ पुमान् शिक्षासहस्रतोऽपि द्यूतान्न विरतः, तथा आवां गुरुधर्मोपदेशस्य बहुशः श्रवणेऽपि विषयजात् सौख्याद् न विरतौ । उक्तं च -

अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्,
परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाऽङ्गनायाः ।
इति यदि शतकृत्यस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥४३॥

यथाऽस्य द्यूतकारस्याऽत्र बन्धाद्यभूत् तथाऽऽवयोर्नरके भविता । ततो हे मित्र ! दुःखभरे स्वात्मानं पातयितुं न युक्तम्"। इति *पद्मोत्तर*नृपोक्तिं श्रुत्वा *हरिवेग*विद्याधरेन्द्रोऽवक् - 'हे मित्र !

मन्मानसेऽपि चिरकालीना संयमेच्छा-ऽस्ति, परं त्वयि पुरा प्रेमप्रतिबन्धो मां निरुद्धवान् । यतः -

मोक्षमार्गप्रपन्नानां, स्नेहो वज्रस्य शृङ्खला ।
जीयति वीरनाथेऽङ्गाद् गौतमः केवलं न हि ॥४४॥

साम्प्रतं तु प्राज्यराज्यभारधुरीणयोः पुत्रयोरावां स्वस्वराज्य-सम्पदं दत्त्वा श्रीगुरोः समीपे प्रव्रजावः' । एवं तयोर्मन्त्रयतोः वनपालकेन समागत्य विज्ञप्तम् - 'हे स्वामिनौ ! कुसुमाकरकानने *श्रीगुणाकरसूरिशिष्याः श्रीरत्नाकरसूरयः* समागताः' । इति श्रुत्वा परमप्रमोदेन तस्मै महादानं दत्त्वा अन्तःपुर-परिवारसमन्वितौ गज-रथ-तुरग-भटलक्षैः सहितौ सामन्त-सेनापति-श्रेष्ठि-सार्थवाहवृन्दान्वितौ सर्वर्द्ध्या तौ गुरुवन्दनार्थं कुसुमाकरोद्याने गतौ । दृष्टिगोचरं गुरुं विज्ञाय राजचिह्नानि त्यक्त्वा पञ्चाभिगमं कृत्वा चञ्चद्रोमाञ्चकञ्चुकौ गुरुं वन्दित्वा यथास्थाने स्थितौ । ततो गुरुणापि सुधारसकिरा गिरा देशना दत्ता - "भो भव्याः !

दुष्प्रापं प्राप्य मानुष्यं, कार्यं तत् किञ्चिदुत्तमैः
मुहूर्त्तमेकमप्यस्य, नैव याति यथा वृथा ॥४५॥

अर्जनीयं कलावद्भि-स्तत्किञ्चिज्जन्मनाऽमुना ।
ध्रुवमासाद्यते येन, शुद्धं जन्मान्तरं पुनः ॥४६॥

त्यज दुर्जनसंसर्गं, भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यताम् ॥४७॥

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,

यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
[1]आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः? ॥४८॥

मूर्खः कामसुखाभिलाषमुखरो नो धर्मकर्मेहते,
शुद्धं श्राद्धविधिं विधित्सति पुनः पुण्योन्मुखो मध्यमः।
एकान्तेन भयोद्भवं भयमपोह्याऽसौ च निर्वाणजां,
शर्मोर्मिं स्पृहयंस्तु धन्यपुरुषश्चारित्रमादित्सति ॥४९॥

श्राद्धधर्मस्तालवृक्ष, इव दूरफलप्रदः ।
यतिधर्मः पनसवत् प्रत्यासन्नफलप्रदः ॥५०॥

नो दुष्कर्मप्रयासो न च युवति-सुत-स्वामिदुर्वाक्यदुःखं,
राजादौ न प्रणामोऽशन-वसन-धन-स्थानचिन्ता न चैव ।
न ज्ञातिर्लोकपूजा प्रशमसुखरतिः प्रेत्य मोक्षाद्यवाप्तिः,
श्रामण्येऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतयः! किं न यत्नं कुरुध्वम्?॥५१॥

इति गुरुगिरा तौ नृपती संसाराऽसारतां मत्वा, सर्वसुखं मोक्षं ज्ञात्वा, तदुपायत्वेन च संयमं विभाव्य, तीव्र-वैराग्यवन्तौ मुदा तं गुरुं व्यजिज्ञपताम् - 'हे भगवन् ! भवकूपनीरे निपतन्तौ आवां दीक्षाकराऽवलम्बनाद् निर्विलम्बं समुद्धर' । ततः सूरिणा प्रोक्तम् - 'एतन्निमित्तं मद्गुरुणा *श्रीगुणाकरसूरिणा* प्रेषितोऽस्मि, ततः कालक्षेपाऽपहारतश्चरणं प्रतिपद्येथाम्' । गुरुणा एवमुक्तौ

1. 'तावच्छ्रेयसि सत्वरं हि०' इति खपुस्तके, 'तावद्धर्मविधान एव०' इति च गपुस्तके पाठान्तरम् ।

प्रहृष्टौ तौ स्वस्वपुरे गतौ । पुत्रप्रदत्तराज्यौ तौ दीक्षाग्रहणोद्यतौ जातौ । श्रीमदर्हतां चैत्येष्वष्टाह्निकामहं कारयित्वा, चतुर्विध-सङ्घस्य यथार्हं भक्तिं विधाय, ज्ञानकोशे ज्ञानभक्तिं विधाय, पौषधशालायोग्यं धनं दत्त्वा, अमारीघोषणां कारयित्वा, दीनाऽनाथे-भ्योऽनुकम्पादानं दत्त्वा श्रीगुरूणां समीपे प्राप्तौ । गुरुणापि विधिना प्रव्राजितौ । क्रियाः सेवमानौ तौ क्रमेणैकादशाङ्गधरौ जातौ । महर्षीणामपि चारित्रदृढताहेतूभूतौ जातौ । तौ निरतिचारचारित्रौ षष्ठा-ऽष्टम-दशम-द्वादशा-ऽर्धमास-मासक्षपणादितपः-शोषिताङ्गौ क्रमेण संलेखनामाराध्याऽनशनं चक्रतुः ।

शुष्काङ्गकौ तीव्रतरैस्तपोभि-र्विमुच्य काले विधिना शरीरम् ।
जातौ ततस्तावहमिन्द्रदेवौ, ग्रैवेयके मध्यममध्यमाख्ये ॥५२॥
तयोरगाधेऽद्भुतभोगवारिधौ, निमग्नयोर्वैक्रियलब्धिलग्नयोः ।
प्रकाशभाजोः सहसा निशावद्, वेगादगात् सागरसप्तविंशतिः ॥५३॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते श्रीपृथ्वीचन्द्र-चरित्रे
गद्यबन्धे श्रीपद्मोत्तरनृप-हरिवेगविद्याधरेन्द्रभववर्णनो नाम
सप्तमः सर्गः ॥

अष्टमः सर्गः

श्रीबलः	- पुण्ड्रपुरस्वामी, गिरिसुन्दर - पिता
शतबलः	- श्रीबलभ्राता, रत्नसार - पिता
सुलक्ष्मणा	- श्रीबलभार्या
लक्ष्मणा	- शतबलभार्या
गिरिसुन्दरः	- श्रीबल-पुत्रः (पृथ्वीचन्द्र-जीवः)
रत्नसारः	- शतबल-पुत्रः (गुणसागर-जीवः)
सुभद्रा	- ईश्वरश्रेष्ठि-पुत्री, गिरिसुन्दर-पत्नी

श्री जयनन्दन-सूरिणा श्रीबलादि-नृपाणाम् कथितः
पूर्वभववृत्तान्तः पृ. ३२६-३३३

सुमेघः	- कुलपुत्रः
विन्ध्यः	- सुमेघ-पुत्रः (श्रीबल-जीवः)
शम्बरः	- सुमेघ-पुत्रः (शतबल-जीवः)
ऋद्धिसुन्दरी	- राजकन्या (सुलक्ष्मणा-जीवः)
बुद्धिसुन्दरी	- राजकन्या (लक्ष्मणा-जीवः)

अष्टमः सर्गः

पञ्चदश-षौडशौ भवौ

वर्द्धमानजिनो जीयाद्, वर्धमानगुणान्वितः ।
वर्त्तते साम्प्रतं यस्य, शासनं पापनाशनम् ॥१॥

अथ पृथ्वीभामिनीभालभूषणे पुण्ड्रविषये [1]प्रौढपुण्ड्रोपमं *पुण्ड्रपुराभिधं* पुरमस्ति । तस्मिन् पुरे विवेकी *श्रीबलो* नाम नृपो राज्यं करोति । तस्य भ्राता राज्यभारधुरन्धरः प्रबलः *शतबलाह्वो* युवराजो विराजते । तौ च *राम-लक्ष्मण*-वद् अन्योन्यं स्नेहेन निर्भरौ पित्राऽर्पितं राज्यं ध्रुवं पालयतः । तयोः क्रमात् *सुलक्ष्मणा-लक्ष्मणाह्वे* उभे भार्ये । तेषां सम्प्राप्तकामानां सुखेन समयो ययौ।

अथाऽन्यदा *पद्मोत्तरदेवो* मध्यमग्रैवेयकात् च्युत्वा *सुलक्ष्मणा*कुक्षिभूमौ कल्पद्रुरिव सौख्यदः पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । सा *सुलक्ष्मणा* राज्ञी स्वप्ने तुङ्गं मेरुगिरिं निरीक्ष्य प्रातस्तूर्यरवैः प्रबुद्धा राज्ञे कथयामास । तदा नृपेण प्रोक्तम् - 'प्रिये ! मेरुतुल्यस्ते पुत्रो भविष्यति' । तन्निशम्य परमानन्दं प्राप्ता सती शुभं गर्भं पालयन्ती पूर्णदोहदा काले हृदयानन्ददं सुतं प्रसूता, यथा रत्नखा-निर्मरुन्मणिम्[2] । राज्ञा महताडम्बरेण सुतस्य जन्ममहोत्सवः कृतः । पूर्णे मासे स्वप्नानुसारतः सूनो*र्गिरिसुन्दर* इति नाम कृतम् । क्रमेण प्रवर्द्धमानोऽसौ युवतिजनरमणीयं यौवनं प्राप्तः । अथ *हरिवेग*सुरोऽपि मध्यमग्रैवेयकात् च्युत्वा युवराजस्य स्त्रिया

1. उत्तमतिलकसमानम् । 2. देवमणि - चिन्तामणि ।

लक्ष्मणायाः कुक्षौ पुत्रत्वेन समुत्पन्नः, तदा च सा स्वप्ने रत्नौघं वीक्ष्य प्रबुद्धा। क्रमेण सा गर्भं पोषयन्ती अतुलगुणसंयुतं सुतं प्रसूता । राज्ञा जन्मोत्सवः कृतः । स्वप्नानुसारेण पित्रा *रत्नसार* इति नाम दत्तम् । क्रमेण वर्धमानो यौवनं प्राप्तः । तौ द्वावपि दृढस्नेहौ विरहाऽसहौ एकत्र क्रीडां कुरुतः, एकत्र शयाते, भोजनप्येकत्र कुर्वाते । उभावपि केनचिद्वियोजितौ क्षणमपि रतिं न लभेते । तयोः पितृ-पितृव्यौ प्रेमगाढतां पश्यन्तौ निजस्नेह-विलासितां स्मृत्वा त्रपानतौ बभूवतुः ।

अथाऽन्यदा षट्त्रिंशद्राजकुलसंश्रितायां सभायां संस्थितो नृपतिः पौरैर्विज्ञप्तः - "हे प्रभो ! त्वयि जयति सत्यपि वयं घनं व्यसनं प्राप्ताः स्मः । हे स्वामिन् ! केनचित् चौरेण निरन्तरं द्रव्यं तथाऽङ्गनाश्चोर्यन्ते । क्षात्रं न ज्ञायते, केवलं स्त्रीणां करुणारवः श्रूयते" । इति प्रजापीडां निशम्य कोपातुरो भूप आरक्षकं प्राह - 'रे ! त्वं स्त्रीवशो निश्चिन्तः शेषे निशि, पुरे न भ्राम्यसि' । तदा तलारक्षेण प्रोक्तम् - "हे देव ! अनया वार्त्तयाऽहं लज्जे । पुरद्वाराणि रक्षामि, भटानपि रहः स्थापयामि धावामि चाऽनुपुत्कारं, परं तं दुराचारं नाऽलभे । गतो ह्येष, गतो ह्येष, इति जनारवं च शृणोमि, तथापि सुरक्षितमपि मणि-स्वर्ण-कलत्रादि गृह्णाति । स हि नाऽऽगच्छन् ज्ञायते, न च गच्छन् ज्ञायते; ततः पुरं प्रयत्नेन रक्षणीयम्" । इति तलारक्षोक्तिं निशम्य महामर्षः किंकर्त्तव्यव्यामूढो यावद्राजा किमप्युत्तरं न प्राह, तावद् *गिरिसुन्दरः* कुमारोऽब्रवीत्- 'हे देव ! ममाज्ञा दीयतां, सप्तरात्रान्तस्तं दुराचारमहं लभेय' । ततो भूभुजाऽभाणि - 'हे पुत्र ! बाललीलोल्लापैरलम् । त्वत्पित्रा-

प्यसौ साध्यो न, किं पुनस्त्वया क्षीरकण्ठेन ? । यत्र कर्मणि अस्मत्सदृशाः प्रबलपुरुषा अपि मुह्यन्ति तत्र बालानां तु का कथा?' । *गिरिसुन्दरेणोक्तम्* - 'हे पितः ! तथापि मामाज्ञापय, यतो बाललीलोक्ताऽनिर्वाहेऽपि लाघवं न भवति' । एवं बहूक्तेऽपि राज्ञा तु तत्कर्मणि निषिद्धः तथापि प्रदोषसमये कस्याऽप्यनुक्त्वा खड्गवानसौ नगरान्निर्गतः ।

स *गिरिसुन्दरः* कुमारो गिरिकन्दरासु शून्यजीर्णोद्यानादिषु च परिभ्रमन् नाऽतिदूरे गिरौ ज्वलनं दृष्ट्वा पर्वतमध्ये गतः । तत्र तेन विद्यां साधयन् गुग्गुलगुटिकां च होमयन् कोऽप्येको विद्याधरो दृष्टः । तत्समीपे गत्वा 'सिद्धिरस्तु' इति भणन् स्थितः । तदा च दुःसाध्योऽपि क्षेत्रपालः कुमारस्य प्रभावात् क्षणेन प्रत्यक्षीभूय कथितवान् - "भोः साधक! तव विरूपं कर्त्तुकामोऽहम् । यद्ययं महापुरुषो नाऽऽगमिष्यत् तदा मत्कृताभिर्बिभीषिकाभिर्नूनं त्वं निधनं प्राप्तोऽभविष्यः, परमयं महाप्रभाववान्, ततो बिभीषिकाः कर्तुं न प्रभवामि । अधुनाऽस्य पुरुषस्य महिम्ना सिद्धोऽस्मि" । ततस्तेन विद्याधरेण परमहर्षेण पूजितो यक्षः । भणितं च - 'यदा स्मरामि तदा शीघ्रं समागन्तव्यम्' इत्युक्त्वा विसृष्टो यक्षः । पुनर्विद्याधरः कुमारं प्रोवाच - 'स्वागतं ते भो महासत्त्व ! त्वया मे महाननुग्रहः कृतः । भण तेन, अधुना ते किं कार्यं कुर्वे?' । तदा कुमारेण जल्पितम् - 'अहं नगरस्यारक्षको ज्वलनं दृष्ट्वा कौतुकादत्र समागतः । त्वन्मन्त्रसिद्ध्या सर्वं मे सिद्धम्' । इति कुमारस्य निरीहतां निरीक्ष्य विस्मितो विद्याधरः प्रत्युपकारं चिकीर्षुरभ्यधात् - 'भोः कुमार ! त्वमुदारोऽसि, तथापि किञ्चित्

प्रार्थयस्व' । कुमारोऽप्यवक् - 'मैवं वद, त्वं मे गुरुः, ततः प्रयोजनं कथय' । सोऽवक्- 'यदि गुर्वाज्ञा नैव खण्ड्या, ततस्त्वया सप्रभवा पाठसिद्धा च रूपपरावर्तनी विद्या ग्राह्या' । तदा ईषन्नतेन कुमारेण- 'यथा गुरव आदिशन्ति तथैव कार्यं करोमि' इति भणता सादरं सा विद्या गृहीता ।

अस्मिन्नवसरे नगरान्तः 'हा तात ! हा मातः ! मां रक्ष रक्ष' इति कस्याश्चित् स्त्रिया अतिविस्तृतः करुणशब्दो-ऽश्रावि । तदैव कुमारस्तं शब्दमभिधावितः, किन्तु तत्र न कञ्चनाऽपश्यत् । ततो 'बहुगुहेऽस्मिन्नद्रौ वसन् स पापी कथं ज्ञेयः ? परमसौ स्त्रीलोलुपोऽस्ति, ततोऽहं युवतिरूपं कुर्वे, यतोऽखिलं स्वरूपं ज्ञास्यते' । इति चिन्तयन्नसौ सौन्दर्यातिशायि स्त्रीरूपं कृत्वा प्रातः पर्वतस्थाः सर्वा दरीरपश्यत् । तत्र चैकस्मिन् वननिकुञ्जे देवकुलिकातो निःसृतं रक्षाखरण्टितं जटामण्डितं [1]कीकसमाला-ऽलङ्कृतहृदयम् अतुच्छपिच्छिकापाणिं चैकं कापालिकं ददर्श । तदा चिन्तितं कुमारेण - 'यद्यप्यसौ धूर्तो हन्तव्यः, तथापि वेषधारी दर्शनभृत्, अतः सहसा न वध्यः' । इति स्वचेतसि निश्चित्य कुमारस्त्री शिलातले निविश्य भृशं रुरोद । तदा स कापालिको रोदनं श्रुत्वा तत्रागतः । तां च नवयौवनां सुरूपां चन्द्रवदनां दृष्ट्वा दध्यौ - 'चेद् एषा *तिलोत्तमा*तुल्या मम वश्या भवेत् तदा सकलक्लेशवर्जितो रतिपतिसदृशो[2] भवामि । परं दिने हठो नाऽर्हः, साम्नेमां मठिकां नये' । इति ध्यात्वाऽवक् - 'हे सुलोचने!

1. कीकसानि अस्थीनि । 'कीकसं कुल्यमस्थि च' इत्यमरः ।
2. कामदेवतुल्यः ।

दुष्टेन धात्रा त्वमपि पीडिता ! । किन्तु हे सुभ्रु ! ब्रूहि, त्वं कथमेकाकिनी ?, किं च रोदिषि ? । त्वां खेदातुरां दृष्ट्वा मे मनो दूयते' । तदा कुमारसुन्दरी प्राह– "हे योगीन्द्र ! त्वमलङ्घ्यगीः, ततः सत्यं वच्मि । प्राच्यां सुशर्मनगरेशस्य सुतोऽ*पराजित*नामकः पित्राऽपमानितो नगरान्निर्गतः, अहं च तद्भार्या वारिताऽपि तमन्वगाम्। गतरात्रौ सुप्तावावाम् अत्रैव शिलायाम्, किन्त्वसौ निर्दयो मां सुप्तां मुक्त्वा रात्रावेव कुत्राप्यगात् । स च मज्जागरण–शङ्कया उच्छीर्षगम्[1] असिमपि नाऽलात् । तेन दुःखेन रोदिमि"। योग्याह – 'हे सुलोचने ! स हि वराको वञ्चितः, न तु त्वम् । कालेन ते निर्नाथत्वं गमिष्यति, त्वं पटुरसि, अतो मा रोदीः' । कुमारस्त्री प्रोवाच – 'नाथं विना स्त्रिया जीवितुं युक्तं न, ततो हे योगिन् ! तीर्थं किमपि दर्शय, यत्राऽसून् त्यजामि' । योग्यवक्– 'हे भद्रे ! यद्येवं तर्ह्यत्र *पूर्णमनोरथाभिधं* तीर्थमस्ति। यस्त्रिरात्रमत्र वसति, तस्य वियुक्तः प्रियमानुषो मिलत्येव । ततस्त्वं तीर्थसेवां कुरु, किं मरणेन ?' । तदा ज्ञाताऽभिप्रायेण कुमारेण तथैव प्रतिपन्नम् । गतौ द्वावपि देवकुलिकाम् । तत्र तेन राजपुत्रेण दीर्घदेहः, खेटका–ऽसि–कपाल–कृत्तिकाकरः पञ्चवर्णाढ्यसर्वाङ्गो दृष्टः काष्ठमयो देवः । ततः कुमारस्त्रिया प्रोक्तम् – 'किमिति निर्मानुषं दृश्यते ?' । तदा योगिना प्रोक्तम् – 'हे सुन्दरि! जनरञ्जनमात्रं हि देवरूपमिदम्, अग्रे समागच्छ, दर्शये पूर्णमनोरथं सत्यसुरम्' । इति तां ब्रुवन् निजबाहुभ्यां धृत्वा सुरपृष्ठतोऽगात्। तत्र तेन पद्भ्यां भूमिराहता । तावता एकया सुरसुन्दरीरूपया

1. मस्तक के नीचे रही हुई ।

उद्घाटितं गुप्तद्वारम् । ततः कुमारस्त्री कापालिकेन भणिता - 'त्वमप्यनया सह देवाराधनं कुरु, यावदहं कुसुमपत्रिकां गृहीत्वा-ऽऽगच्छामि' । इति भणित्वा स्त्रीरूपं राजपुत्रं तत्र प्रवेश्य द्वारे तालकं दत्त्वा गतो योगी । कुमारस्तु तद् गृहं प्राप्य भृशं चित्ते सन्तुष्टः, तावता द्वारोद्घाटिकया स्त्रिया भाषितः - 'हे सखि ! त्वमनेन दैत्येन कथं प्राप्ता ?' । कुमारस्त्रिया प्रोक्तम् - 'प्रौढा कथा मम । परं मे कथय, कोऽयं पुमान् ? का च हे सखि! त्वम्?' । ततः सा प्रोवाच - "हे सखि ! योगिवेषवान् अयं *दण्डपालनामा* महातस्करोऽस्ति । दिवसे कापालिकवेषेण पुरे हिण्डन् रात्रौ हेरकं कृत्वा हिरण्य-मणि-माणिक्य-प्रधानरूप-कनीरपहृत्य अस्मिन् पातालगृहे प्रक्षिपति । त्वया सममष्टोत्तरशतं राज-मन्त्रि-श्रेष्ठि-सार्थपतीनां कन्या इह समानीताः सन्ति । एतत्पुरनिवासी *ईश्वरश्रेष्ठी*, तस्याऽहं *सुभद्रा*नाम्नी कनी रात्रावनेन पापिनात्राऽऽनीतास्मि । अतुलबले भूपे *श्रीबले* युवराजे च *शतबले* भुवं रक्षत्यपि हा ! अहं कर्मक्लिष्टा परवशा यूथभ्रष्टा कुरङ्गीव पापा तिष्ठामि" । इति वदन्ती भृशं च रुदती सा कुमारेण आश्वासिता । उक्तं च - "हे सुभ्रु ! अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो नास्ति । यतः -

यद् भावि तद् भवति नूनमनिच्छतोऽपि,
यत्ने महत्यपि कृते न भवत्यभावि ।
एवं स्वभाववशवर्त्तिनि जीवलोके,
किं शोच्यमस्ति पुरुषस्य विचक्षणस्य ? ॥२॥

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो, देवो न तं लङ्घयितुं समर्थः ।

तस्मान्न शोचामि न विस्मये च, यदस्मदीयं न हि तत् परेषाम् ॥३॥

अवश्यं भाविनो भावा, भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य, महाहिशयनं हरेः ॥४॥

बध्यन्ते बलिनो नागाः, पन्नगा विहगाः स्थले ।
मीना जले निलीनाश्च, क्लिश्यन्ते कर्मभिर्जनाः ॥५॥

परं हे सुन्दरि ! पृच्छामि, कस्य बलादयं स्वेच्छं निर्भयो विचरति ?" । सा प्रोवाच – 'अस्य सम्यक् स्वरूपं न वेद्मि, परं त्रिसन्ध्यं स्वस्थः खड्गरत्नमर्चति' । कुमारेणोक्तम् – 'तर्हि तन्मे दर्शय' । 'तथा' इति तया स्वीकृते सोल्लोचं स्वर्णधान्यादिपूरितं मणिकुट्टिमं रमणीयं पातालगृहं द्वावपि गतौ । कुमारस्तस्या-ऽभिरामत्वं वीक्षमाणः खड्गरत्नस्य समीपे गतः, तं च चन्द्रहास-खड्गं दृष्ट्वा जहर्ष । ततो नमस्कारं कृत्वा स्तुतिं चकार –

चक्रि–केशव–रामादि–सुभटानां प्रभावयित् ।
प्रसन्नोऽभूर्यथा तद्वत्, चन्द्रहास ! प्रसीद मे ॥६॥

इत्युक्त्वा चन्द्रहासोऽमुना गृहीतः, तत्स्थाने च स्वखड्गो मुक्तः । तावत् कृतहाहारवाः सकला महिला जगुः – 'हे प्राघूर्णिके! सदृग्दुःखा त्वं, ततस्तव हितवचनं प्रोच्यते । स पापिष्ठ एतां वार्त्तां ज्ञात्वा त्वां यममन्दिरं नेता, तेन त्वं तं खड्गं पुनस्तत्र मुञ्च, अन्यथाऽस्माकमपि दुःखं भविष्यति' । कुमारोऽप्याह – 'स्वस्था भूत्वा यूयं कौतुकं वीक्षध्वम् । तमेव तस्करं कृतान्तस्याऽतिथिमद्यैव प्रेषयामि' । इत्युक्त्वा निजरूपप्रकाशनं कृतम् । तावता द्वारे

समागतो योगी । उद्घाटितमेकया द्वारम् । भीताः सर्वाः कुमारमुखं विलोकयन्ति स्म । चौरेणापि दृष्टः कुमारः, ततः स रोषारुण-लोचनोऽपवरके गत्वा खड्गं च गृहीत्वा धावितः । तदा कुमारेण हक्कितः- 'रे दुष्ट ! अनया कुचेष्टया नष्टोऽसि, पापद्रोः फलमद्य भुङ्क्ष्व । विषाशनः कश्चिरायुर्भवति ?' । इति कुमारोक्तिं श्रुत्वा रुष्टश्चौरो घातार्थं धावितः, तदा कुमारेण खड्गघातं वञ्चयित्वा तथा प्रहारो दत्तो यथा स योगी शीघ्रं पञ्चत्वं प्राप्तः । ततो दध्यौ कुमारो हृदि - 'हा हा ! रङ्कघातने कृतान्तेनाऽहं नियुक्तः । सुभटेष्टं यशस्तु दूरेऽस्तु, रणमपि न जातम् । परं पौरलोकः सुखी जातः'। अथ तच्चरित्रेण अनिमेषदृष्ट्या पश्यन्त्यः कन्यका विस्मिताः । ततः कुमारेण भाषिताः - 'कथ्यतां मम, यथा स्वस्वस्थाने वः प्रापयामि' । ततः श्रेष्ठिपुत्र्या *सुभद्रया* सूक्ष्मदृष्ट्या विलोक्य तं श्रीबलनृपाङ्गजं *गिरिसुन्दरकुमारं* ज्ञात्वा सर्वाभ्यः कथितम् । तच्छ्रुत्वा सप्रेमरागाभिर्नताङ्गीभिस्ताभिर्भाषितम् - "वयं सर्वाः स्वजनेभ्यो मुखं दर्शयितुं लज्जामहे । अस्माकं च सर्वासां ह्येष निश्चयो यत् त्वमेव शरणम् अथवाऽनलः, परमन्यं वरं न वरिष्यामः" । इति ताः कृतनिश्चया दृष्ट्वा कृपालुः कुमारो दध्यौ- 'विषमं विधिं धिग्, येनेदृशीनां स्त्रीणां व्यसनं कृतम् । इमा दीनानना म्रियमाणा द्रष्टुं न शक्नोमि, ततोऽनाथानामासां ननु नाथो भवाम्यहम्' । इति स्वचेतसि ध्यात्वा ताः स्वीकृत्य मासमेकं ताभिः समं विविधाः कामक्रीडाः कुर्वन्नास्ते ।

अन्यदा सुहृत्स्नेहं स्मृत्वा प्रियाः सर्वास्तत्रैव स्थापयित्वा बहिर्निःसृतः, रूपपरावर्तं च कृत्वा खड्गं लात्वा *पुण्ड्रपुरं* गतः ।

तत्र सशोकलोकम् अक्रीडद्बालकमश्रुतवाद्यकं नगरं दृष्ट्वा कुमारेण कस्यापि पृष्टम् - 'भोः किमिति नगरं सशोकम् ?' । तेन प्रोक्तम्- "भोः पान्थ ! दूरादागतो लक्ष्यसे त्वं, यद् व्यक्तमपि न वेत्सि । *श्रीबल*नरपतिपुत्रो *गिरिसुन्दर*नामा कुमारश्चौरग्रहणार्थं गतोऽस्ति । तस्यैकमासो जातः, तेन राजकुलादिषु शोकोऽस्ति। अद्य तु युवराजसुतो गुणश्रियाः सारभूतो *रत्नसार*नामा कुमारोऽपि क्वचिद्गतोऽस्ति, सर्वेषां तदर्थं दुःखमुल्बणं वर्त्तते" । वज्रघातसमं तद्वाक्यं श्रुत्वा हृदि परमदुःखितो *गिरिसुन्दरः* पुरान्निर्गत्य सर्वत्र शोधयितुं लग्नः । स च गिरि-वन-पाताल-देश-ग्राम-पुरोद्यान-प्रपा-सत्रगृहादिषु विलोकयन् न क्षुधां, न तृषां, नोष्णं, न च शीतं वेद । भ्रातृविरहेण निद्रामपि न लभते, परिश्रमं न वेत्ति, परं *रत्नसार*कुमारं क्वापि न दृष्टवान् ।

एकदा रात्रिसमये क्वचिन्नगरसमीपे देवकुले स्थितः, तत्र नानादेशीयाः पान्था मिलिताः परस्परं वार्त्तां कुर्वन्ति। तत्रैकेन पथिकेनोक्तम् - "भोः पान्थाः ! अतीतकालीनायाः कथायाः किं प्रयोजनम् ?, प्रत्यक्षदृष्टं कथानकं शृणुत-

"एकदाऽहं देशकौतुकविलोकनार्थं स्वगृहान्निर्गतः । दृष्टा मयाऽनेके देशाः, विलोकितानि च बहूनि कौतुकानि, परं तृप्तिर्न जाता । क्रमेण दर्शनकौतुकी अहम् एकमुद्वसं देशं प्राप्तः, श्वापदाकुलायां चाऽटव्यां पतितः । तत्रैको महारूपवान् राजपुत्रो मे मिलितः । तेन सार्द्धं गच्छन् क्रमेणैकमुद्वसं नगरं दृष्टवान् । कौतुकं विलोकयन्तौ राजसौधे द्वावपि गतौ, निशायां च तत्रैव स्थितौ । सुप्तोऽहं, राजपुत्रो जागर्ति । तस्मिन्नवसरे तत्रैकः सिंहः

समागतः। स च बुभुक्षाक्षामकुक्षिः कुमारं प्रत्याह - "भो राजपुत्र! बहुकालीनोऽहं क्षुधातुरः। वने वनचरा बहु विलोकिताः, परं कोऽपि मया न प्राप्तः। ततोऽहं शून्येऽस्मिन्नगरे मनुष्यगन्धप्रेरितः समागतोऽस्मि, ततोऽमुं सुप्तं नरं देहि, येन मे प्राणरक्षा भवेत्, तव च धर्मो भविष्यति। यतः सन्तः सदया भवन्ति। क्षुधासमा परा वेदना नास्ति। उक्तं च -

अभिनयमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी,
पटुतरगुणग्रामाम्भोजस्फुटोज्ज्वलचन्द्रिका।
विततविलसल्लज्जावल्लीवितानकुठारिका,
जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनाम् ॥७॥

तदा कुमारेणोक्तम् - "भोः पञ्चानन ! एष मे शरणागतोऽस्ति, मयि जीवति नाऽऽप्योऽसौ। यतः -

कूटसाक्षी सुहृद्द्रोही, कृतघ्नो दीर्घरोषणः।
चत्वारः कर्मचण्डालाः, पञ्चमो जातिसम्भवः ॥८॥

ततो भोः सिंह ! त्वं मां भुङ्क्ष्व"। सिंहेनोक्तम्, - 'भोः सत्पुरुष ! स्वरक्षा सर्वथा कर्त्तव्या, एषा नीतिः। यतः-

शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात् स्रवते धर्मः, पर्वतात् सलिलं यथा ॥९॥

ततस्त्वं तिष्ठ, अमुं देहि'। कुमार उवाच - 'भोः सिंह ! अयं मम शरणागतः, त्वं पुनर्बुभुक्षापीडितो भोजनार्थी, अतः क्षणक्षयेण ममैव शरीरेण युवयोर्द्वयोरपि जीवरक्षाऽस्तु। ततो मामेव गृहाण। यतः -

[1]किं जीविएण किं वा, धणेण किं पोरिसेण पुरिसाणं ? ।
जायइ जओ न जीयं, सरणागयप्पाणदाणेणं ॥१०॥

शास्त्रं बोधाय दानाय, धनं धर्माय जीवितम् ।
वपुः परोपकाराय, धारयन्ति मनीषिणः ॥११॥

रत्नाकरः किं विदधाति रत्नै-र्विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति?।
श्री खण्डखण्डैर्मलयाचलो वा?, परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ॥१२॥

इति वाक्-प्रतिवाग्भिः कियत्कालं विलङ्घ्य कुमारस्य निश्चयं ज्ञात्वा सिंहः प्रोवाच - 'साध्वहो ! ते शरण्यता। परोपकारकरणं सतां मुख्यो गुणः । यतः -

प्रायः सत्यपि वैभवे सुरजनः स्वार्थी न दत्ते धनं,
तीर्थं नोद्धरति क्वचिन्न हरति व्याधीन्न हन्त्यापदम् ।
अस्त्यात्मम्भरिभिर्जनैर्युगलिभिर्धन्यास्तु केचिन्नराः,
सर्वाङ्गीणपरोपकारयशसा ये द्योतयन्ते कुलम् ॥१३॥

हे कुमार ! त्वद्गुणेन तुष्टोऽस्मि, ततो मनोऽभीष्टं प्रार्थयस्व'। कुमारेणोक्तम् - 'शेषं तिष्ठतु, परं त्वं कः ? । सिंहोऽपि च मनुष्यवाण्या कथं वदसि ?' । तदा सिंहोऽब्रवीत् - 'अहं देवोऽस्य नगरस्येशोऽस्मि'। कुमारेणोक्तम् - 'यद्येवं, तर्हि किमिति शून्यमिदं नगरम् ? मम महान् विस्मयः । यतः सामान्योऽपि पुमान् स्वपुरं वासयति, किं पुनर्महाशक्तिभाजो देवाः?' । तेनेति पृष्टः सन् देवो निजस्वरूपं प्रकटीकृत्य कुमारं कथयामास - "शृणु भोःकुमार!

1. किं जीवितेन किं वा, धनेन पौरुषेण पुरुषाणाम् ।
जायते यतो न जीवितं, शरणागतस्य प्राणदानेन ॥

गन्धारपुरं नामेदं नगरम् । *रविचन्द्रोऽत्र* नृपोऽभवत्, तस्य *रतिचन्द्र-कीर्तिचन्द्रा*भिधौ द्वौ तनयौ । अन्यदा नृपस्त्यक्तभोगो *रतिचन्द्राय* राज्यं *कीर्त्तिचन्द्राय* च यौवराज्यं दत्त्वा तपोवने गत्वा तापसोऽजनि । अथ *रतिचन्द्र*नृपः *कीर्त्तिचन्द्रं* राज्यचिन्तने नियोज्य स्वयं तु गान्धर्वादिविनोदेन दिनानि गमयति। तदा राज्यलुब्धेन *कीर्त्तिचन्द्रेण* सामन्ता-ऽमात्यादिमण्डलं स्ववशीकृत्य स्वयं राज्ये निवेष्टुं *रतिचन्द्र*नृपो गाढबन्धनेन बद्ध्वा मारणार्थ-मादिष्टः। ततो वैराग्यतो *रतिचन्द्र*नृपेणोक्तम् - "हे बन्धो ! ज्येष्ठभ्रातुर्विनाशतो निर्मले कुले त्वया मषीकूर्चो दातुं नोचितः । राज्यं दत्तं पुराऽपि ते, स्वेच्छया लक्ष्मीं वितरन् हरंश्च त्वं मया कदापि न वारितोऽसि । भूरिभिर्भूपैः भूर्भुक्ता, परं केनापि समं सा न गता। लक्ष्म्यर्थं महापापं केऽपि कुर्वन्ति, परं सा श्रीः कस्य स्थिराऽस्ति ? । स्वकृतानां शुभा-ऽशुभकर्मणां फलं को न भुङ्क्ते?। हे वत्स ! तुच्छसुखाऽन्वेषी मोहमद्येन च मोहितस्त्वं कुलं मा कलङ्कय । पापव्यापः शुभो न भवति, ततो मां मुञ्च, यथाऽहं तपोवने पितुः पथि गच्छामि"। एवं बहुधा प्रोक्तोऽपि यदासौ न प्रत्येति, न च बन्धविमोक्षं करोति, तदा नृपेणोक्तम् - 'हे भ्रातः ! माऽस्तु तेऽपयशः, त्वमेकां चितां कारय, यथाऽहं निश्चिन्तोऽग्नौ विशामि' । ततः *कीर्त्तिचन्द्रेण* चिन्तितम् - 'सम्यगुक्तमनेन । स्वयमसौ अग्नौ ज्वलिष्यति, मम च निष्कण्टकं राज्यं भविष्यति' । इति विचिन्त्य महती चिता विरचिता । तदा *रतिचन्द्रोऽपि* राज्ञ्या समन्वितश्चितां प्रविष्टः । *कीर्त्तिचन्द्रेण*

प्रलयाग्निसमोऽनलश्चतुर्दिक्षु प्रज्वालितः । ततो *रतिचन्द्र*नृप आर्त्तध्यानतत्परो मृत्वा *भूतरमणाभिधो* यक्षोऽभूत् । अहो ! संसारस्य वैचित्र्यम् । *बान्धवोऽपि राज्यार्थं यदि भ्रातरं हन्ति तर्हि शेषप्राणिनां का कथा ? ।* अथ यक्षेण विभङ्गज्ञानेन पूर्वभवव्यतिकरं ज्ञात्वा कोपेन मन्त्र्याद्या राज्यस्थानिकाः सर्वे गृहीत्वा दूरदेशे निक्षिप्ताः। राजा *कीर्तिचन्द्रो*ऽपि महोपद्रवं दृष्ट्वा क्वापि गतः । सर्वाः प्रजा अपि पलायिताः । सोऽहं यक्षो देशमुद्वसं कृत्वा हर्षभरमेदुरस्तिष्ठामि। युवां दृष्ट्वा क्रुद्धः क्षोभयितुं समागतोऽहं, परं तव सत्त्वतः शान्तोऽस्मि । इति स्वं वृत्तं मयोक्तम् । परं हे महासत्त्व! कमपीष्टं वरं वृणु, यतोऽमोघं देवदर्शनम् । उक्तं च -

अमोघा वासरे विद्यु-दमोघं निशि गर्जितम् ।
अमोघा ह्युत्तमा वाणी, अमोघं देवदर्शनम् ॥१४॥

ततो राजसुतो जगौ - 'हे देव ! दुर्लभं दर्शनं दत्त्वा त्वया मे सर्वस्वमर्पितम् । तथापि त्वद्गिरा याचे, देशमिमं त्वं वासय । हे देव ! रोषोऽपि तस्य राजते यः पश्चात् प्रसीदति' । तन्निशम्य देवोऽवक् - "चेत्त्वम् अस्य नगरस्य प्रभुत्वं मन्यसे तदा त्वदुक्तं कुर्वे, त्वां विनाऽन्यस्य दत्ते मम निर्वृतिर्न स्यात् । भ्रातुरन्वेषणार्थं त्वं निर्गतोऽसि, सोऽपि मासान्ते तवाऽत्रैव मिलिष्यति' । इति देववाक्यं श्रुत्वा परमप्रमोदेन कुमारेणाऽङ्गीकृतम् । यक्षोऽपि हृष्टस्तिरोऽभवत्, ममापि निद्रा गता । ततो मया प्रोक्तम् - 'भो मित्र ! त्वमधुना निद्रासौख्यं भज' । तदा मयि प्राहरिके सोऽथ सुप्त्वा क्षणाद् जागरितः । अथ देवप्रेरितैर्मत्ताश्वखुराघातो-

द्धूतरजोभिर्गर्जद्वादित्रैः सामन्ततनयैरेत्य नृपात्मजो राज्ये न्यस्तः, लोके च '*देवप्रसाद*' इति नाम्ना ख्यातो नृपोऽभूत्, सुस्थं च नगरं श्रुत्वा प्रजा अपि मिलिताः । ततो मन्त्रि- सामन्तै रूप यौवन-सम्पन्नानां बह्वीनां धन्यानां कन्यानां पाणिग्रहणं कारितम् । अथ स राजा ममाऽन्यदा प्रोवाच – 'भो मित्र ! तव संयोगत इदं राज्यं प्राप्तं, ततस्तम् एनद्राज्यं भुङ्क्ष्व' । ततो मया प्रोक्तम् – 'हे स्वामिन् ! मैवं वद । भाग्येन त्वया प्राप्तम् अतस्त्वमेवाऽस्य राज्यस्य योग्योऽसि। यक्षगिरा स्वार्थोऽप्यत्र सेत्स्यति, तेन त्वं स्वस्थचित्तोऽत्र तिष्ठ। त्वद्बन्धुमन्वेष्टुमहं, यामि, परं हे विदांवर ! तव भ्रातुः पूर्वोदन्तं नामादि च मे वद' । ततो राज्ञा सर्वो वृत्तान्तो मदग्रे उक्तः । तत्सर्वं दृढीकृत्य निर्गतोऽहम् । भूतले च भ्राम्यता मया मत्स्वामिभ्रातुः प्रवृत्तिरद्यपर्यन्तं नाप्ता, तेन भोः पान्था! भवतः पृच्छामि, यूयं नानादेशान्तरादागताः, केनचित् क्वाऽपि किं दृष्टो मत्स्वामिन उत्तमो बन्धुः ? । तं विना मत्प्रभोर्महती बाधा वर्त्तते, तस्य राज्यं रज्जुरिवाभाति, भोगान् रोगान् मन्यते, गीतानि विलापतुल्यानि जानाति, हास्यं लास्यं च तस्य न रोचते, '*गिरिसुन्दर! गिरिसुन्दर!* इति च जापं जपति । अपि च, चेद् मत्प्रभोर्बन्धुर्दैवयोगतो न मिलिष्यति, ततोऽहमेवं मन्ये, भ्रातृवियोगेण मत्स्वामी ध्रुवं मरणमङ्गीकरिष्यति । यतः कामरागादपि स्नेहरागो महान् । उक्तं च –

निशायिवृद्धिः किल दक्षिणायने, दिनस्य वृद्धिर्ध्रुवमुत्तरायणे ।
यत्र द्वयस्यापि हि वृद्धिरुच्चै-रेतत्तृतीयं विरहायनं सखे ! ॥१५॥

अवधिरपि पूर्णप्रायोऽभूत् । ममापि मित्रवियोगे पद्मवद् ग्लानिर्भविष्यति, तेनाऽहं वारं वारं पृच्छामि" ।

इति तस्य गिरं निशम्य *रत्नसार*कुमारवृत्तं च ज्ञात्वा *गिरिसुन्दर*कुमार उवाच - 'भोः पान्थ ! त्वमप्युत्तमोत्तंसोऽसि, यतस्त्वं मित्रार्थे भृशं क्लिश्यसे । उक्तं च -

[1]स्नेहं विमुच्य सहजं खलतां भजन्ते, गाढप्रपीडनवशान्नियतं तिलास्ते ।
अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां, येषां प्रचण्डमुशलैरवदाततैव ॥१६॥

भोः पान्थ ! तं *देवप्रसादभूपं* मां दर्शय, यथाऽहं तं भजे । मद्गुणै रञ्जितो नूनं बन्धुं न स्मरिष्यति' । परोऽवक्- 'यद्येवं करोषि तदा त्वयैवाऽहं हि जीवितः' । ततो द्वौ बाहुविलग्नौ प्रगे चलितौ, चन्द्रहासखड्गप्रभावतश्च शीघ्रतरं *गन्धारनगरे* गतौ । तत्र *रत्नसारस्य* दर्शनाद् *गिरिसुन्दरो* भृशं मुमुदे । राज्ञापि रागवता पृष्टम् - 'कोऽयं ते सहचरः?'। ततो मित्रेणोक्तम् - 'विद्यावानयमत्रागाद् देवदर्शनकौतुकी' । तन्निशम्य राज्ञा यथोचितं द्वयोरपि प्रतिपत्तिः कृता । राज्ञा *गिरिसुन्दर*कुमारो गुरुबुद्ध्या दृष्टः, परमस्नेहोऽजनि । परं रूपपरावर्तेन भ्रातरं नोपलक्षयति, तथापि तं प्रेक्ष्य नृपो दिनं घटीवद् गमयति । यतः -

[2]आलावणेण गुणकित्तणेण भोयणेण दाणेण ।
समाणेण तहच्चिय, पंचविहं वट्टए पिम्मं ॥१७॥

---

1. प्राकृत चरित्र में निम्न श्लोक है :-
सहजायं पि सिणेहं मुंचुंति खला तिलव्व पीलाए ।
दुगुणंति जललवा इव सुयणा तक्कालमिलिया वि ॥ ६४ ॥

2. आलापनेन गुणकीर्तनेन भोजनेन दानेन ।
सम्मानेन तथैव, पञ्चविधं वर्तते प्रेम ॥

मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः, समानशील-व्यसनेषु सख्यम् ॥१८॥

एवं स्नेहमये कियत्यपि काले गते नृपश्चित्ते व्यचिन्तयत्- 'मासान्तोऽगात्, तथापि मया भ्राता नाप्तः । देववागपि किं कूटा स्यात् ? अथवा विचारेणाऽलं, मृत्युं विना न दुःखान्तः, ततोऽनलं साधयामि' । इति निजाभिप्रायस्तेन राज्ञा *गिरिसुन्दर*-मित्रयोः कथितः । ततो *गिरिसुन्दरे*णोक्तम् - "भवादृशां नेदृग् युक्तम् । शुभ्रैस्त्वद्गुणैराक्षिप्तोऽहं विधिवायुनाऽत्र क्षिप्तः । चिराऽऽयातनिज-ज्येष्ठबन्धुवत् सुष्ठु त्वयाऽहं दृष्टः । इत्थं च स्नेहसुधासिक्तो हे नृप ! अहं निर्वृतोऽभवम् । सम्प्रति तु कर्णशूलकरं किं भो ! इदं जल्पसि ? । स्वस्मै सुखं कृत्वा मे दुःखं दातुं तव नोचितम् । यद्येवं करणीयमभवत्, तर्हि स्नेहं दर्शयित्वा किमहं मोहितः ? निधौ समर्पिते किं कोऽपि मस्तकं छिनत्ति ?" । ततो *रत्नसारो*ऽवदत्- 'सुरोक्तोऽपि भ्रातृसंयोगो नासीत्, भ्रातरं विना प्राणान् धर्तुं न शक्तोऽहं, ततो मामनुजानीहि' । *गिरिसुन्दरो*ऽवक्- "देववाक्यं कदापि मृषा न भवति । देवेन निश्चितमहमेव तव भ्रातृत्वेनाऽऽदिष्टः, वल्लभं भ्रातरं द्रष्टुं भूयसीं भुवं भ्रान्त्वा तव दर्शनात्तुष्टोऽहम् । त्वमपि मां प्राप्य चिरं जीव । सतां स्नेहसारं हि तुल्यक्रियाप्रवृत्तित्वं मतम्" । तन्निशम्य *रत्नसारेण* चिन्तितम्- 'अहो ! गम्भीरता गिराम् । *गिरिसुन्दर*वदस्मिन् मे गुरुधीर्वर्त्तते, तथा तादृक्प्रसाददा देवाः कदाप्यनृतवादिनो न स्युः, अतः शक्त्या कृताऽन्यरूपोऽयं नूनं *गिरिसुन्दरो* मे प्रतिभाति, यतः

सत्त्ववतां सतां पुण्याद् विविधाः सिद्धयः स्युः' । इति निजे चित्ते निश्चित्य *रत्नसारो गिरिसुन्दरं* प्रोवाच - 'हे मित्र ! यदि स्नेहः समक्रियावृत्तिः, तर्हि त्वम् असद्भावः कथम् ? । यतः -

[1]सब्भावी सब्भाविय-जणम्मि उवयारयम्मि उवयारी ।
धुत्तेसु महाधुत्तो, वियक्खणो सव्वहा होइ ॥११॥

इत्युक्त्वा स्वमुपलक्षितं ज्ञात्वा *गिरिसुन्दरो* मूलरूपं प्रकटं चक्रे । तं दृष्ट्वा *रत्नसार*कुमारोऽनेकरससङ्कुलोऽभूत्। प्रच्छन्न-रूपोऽपि मया ज्ञात इति हर्षरसः, गौरवार्ह इति सम्भ्रमरसः, जीवितोऽमुना विना इति लज्जारसः, एवमनेकरसाकुलो *रत्नसारः* कमपि परमानन्दमनुभवन् बभौ । उभयोर्भ्रात्रोः सङ्गमे तदा वर्द्धापनं बभूव । मिथः प्रोक्तस्ववृत्तौ तौ कानपि वासरान् स्थितौ ।

अथाऽन्यदा पूर्वोदितं स्वमित्रं *महसेनाख्यं* सुरसम्मत्या *गन्धार*राज्ये संस्थाप्य ताभ्यामिति भाषितम् - "भो *महसेन* ! त्वमावयोस्तृतीयो भ्राता, ततो यथेच्छं भोगान् भुङ्क्ष्व । प्रजास्त्वया पुत्रवत्पालनीयाः, न्यायमार्गे च प्रवर्त्तनीयाः । पक्षपातो न कस्यापि कार्यः । मन्त्रिवर्गो नाऽपमाननीयः । सामन्ताः सम्माननीयाः, वशे च रक्षणीयाः । न्यायराज्यं कार्यम् । आवां तु माता-पितृसेवां कर्तुं शीघ्रं स्वनगरे व्रजिष्यावः" । *महसेने*नोक्तम् - 'युवयोः कार्यकारकः सेवकोऽस्मि' ।

ततश्च सर्वं सैन्यं सज्जीकृत्य द्वावपि भ्रातरौ चलितौ ।

1. सद्भावी सद्भाविक-जने उपकारके उपकारी ।
धूर्तेषु महाधूर्तो, विचक्षणः सर्वथा भवति ॥

मार्गस्थनृपैः पूज्यमानौ, खगैः सुरैश्च व्योम्नि वीक्ष्यमाणौ, ग्रामाऽऽराम-नदी-नगान् निरीक्षमाणौ क्रमात् *पुण्ड्रदेशे* गतौ । ततः शोभाभरलसत्पौरं *पुण्ड्रपुरं* प्राप्तौ तौ ज्ञात्वा *शतबला*दिभिः समं *श्रीबलो* राट् समागतः । कुमारयोः श्रियं दृष्ट्वा प्रशंसन्तौ पितरौ ताभ्यां नतौ । पितृभ्यामपि स्नेहनिर्भरं तौ गाढमालिङ्गितौ। तदा माङ्गल्यतूर्यनिर्घोष-गीतनृत्यादिसुन्दरं सन्मनोविस्मापनं वर्द्धापनं प्रवृत्तम् । ते सर्वे नवां मुदमनुभवन्तः पुरं प्रविष्टाः । कुमाराभ्यां मात्रोश्चिन्तातुरं मनो निर्वापितम् । समये राज्ञा विस्मयाद् *गिरिसुन्दरो* भणितः - 'हे वत्स ! 'कथं त्वया चौरो हतः ? पुरे च कथं क्षेमं कृतम् ?' । कुमारेणापि भ्रातृमिलनपर्यन्तः स्ववृत्तान्तः समग्रः कथितः । तन्निशम्य नृपतिः प्राह - ''पुण्यस्य नास्त्यसाध्यं किञ्चिज्जगत्त्रयेऽपि । यतः -

वने रणे शत्रु-जला-ऽग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि॥२०॥

अहो ! अमुना शिशुनाऽपि प्रौढं कार्यमादृत्य निर्व्यूढम् । ताः सर्वाः स्त्रियाः तत्रानीताः । *रत्नसारो* गेहाद् गतः, सोऽपि पुण्याद् यक्षेण नृपतिः कृतः । अनयोः स्नेहस्तु कोऽप्यद्वितीयः । तद् एतयोर्द्वयोः प्राग्भवौ ज्ञानिनो मुखाद् ज्ञातुमिच्छामि'' । एवं सकौतुकं भूपं मत्वा पुरोहितः प्राह - 'हे राजन् ! अत्रैव *कुसुमाकरोद्याने* गुणरत्नानामाकरो, लोकचक्षुषामुत्सवो, विमल-मुनिगुणाऽलङ्कृतो, रूपवान्, शान्तमूर्तिः, कृतकरणग्रामगुप्तिः, समुल्लसत्कनककान्तिः, अतिनिःस्पृहवृत्तिः, कुरुदेशाधिपनन्दनो

श्रीजयनन्दननामा सूरीन्द्रः समवसृतः । इति पुरोहितमुखाद् निशम्य हर्षपीयूषरसास्वादोल्लसन्मनाः सर्वद्धर्या सपरिवारो भूपतिर्वन्दनार्थं तत्रोद्याने गतः । श्री गुरून् परिवारं च वन्दित्वा यथास्थाने स्थितः । तैश्च तत्त्वसुधाकिरा गिरा धर्मकथा प्रारब्धा -

"भो भव्याः ! भावयत, संसारे शुभा-ऽशुभैः कर्मभिर्जन्तुर्निरन्तरम् उच्च-नीचकुलादिषु संसरति । यतः -

देवो नैरयिको राजा, रङ्को विद्वान् जडः पुनः ।
सुखी दुःखी भवेद् रुपी, कुरूपश्चित्रकर्मभिः ॥२१॥

जन्तुः काल-स्वभावाद्यै-र्हलिभिः कर्मराशिगः ।
वृषवद् बहुधान्यार्थं, भ्राम्यते भवकूपके ॥२२॥

सदैव सेवते साधु-लिङ्गमालिङ्गितव्रतः ।
शान्तो दान्तो दयालुश्चा-ऽश्नुतेऽसौ मोक्षमक्षयम् ॥२३॥

नाविर्भवन्ति यत्रैव, जन्म-मृत्यु-जरादयः ।
शुद्धं सैद्धान्तिकं धर्मं, कुरुध्वं भो बुधास्ततः ॥२४॥

इति गुरुगिरं निशम्य *श्रीबलो* राडुवाच - 'हे भगवन् ! एवमेवैतं यथोक्तं धर्ममाचरिष्यामि भवतां समीपे, परं कुमारयोः प्राग्भवश्रुतौ मे महत् कौतुकमस्ति' । ततो ज्ञानगुरुणा गुरुणा सर्वोऽपि पूर्वभवव्यतिकरः कथितः, यावद् ग्रैवेयके देवसौख्यानि भुक्तानि । ततोऽग्रे प्राह - 'हे राजन् ! शेषपुण्यतस्त्वत्कुले विश्वविख्यातावेतौ समुत्पन्नौ, तत् चारित्रस्य मनोज्ञं फलं जानीहि। अनयोर्मुक्तिदाद्धर्मात् राज्यादिप्राप्तौ न विस्मयः, यतः कणार्थिनः कृषीवलस्य तृणलाभेऽपि काऽपूर्वता ? । परमेतदाश्चर्यं यद् एकस्मै

मुनये शुद्ध आहारो दत्तः, तस्याऽनुभावेन भवद्भिश्चतुर्भी राज्यं प्राप्तम्" । ततो विस्मितेन राज्ञा पृष्टम् - 'हे भगवन् ! कथमिदं सञ्जातम् ?' । ततो जगद्धितैषिणा मुनिना *श्रीबल*-नृपादीनां प्राग्भवस्वरूपं कथितम् । तथाहि -

।।श्रीबलादिनृपाणाम् पूर्वभववृतान्तः।।

"*प्रतिष्ठानपुरे समेघ*नाम्नः कुलपुत्रस्य *विन्ध्य-शम्बरा*भिधौ द्वौ पुत्रौ । क्रमात् पित्रोर्विपन्नयोर्लाभान्तरायेण नरेन्द्रतो वृत्तिमप्राप्नुवन्तौ द्रव्योपार्जनार्थं तौ द्वौ बान्धवौ *काञ्चनपुरं* प्रति प्रस्थितौ। यतः -

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न च्छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं,
हिरण्यमेवाऽर्जय निष्फलाः क्रियाः ।।२५।।

अथाऽन्यदा भोजनावसरे क्वापि पुरे कान्दविकापणाद् मण्डकादि भोज्यं लात्वा वने प्रविशन्तौ ग्लानगात्रं मासोपवासिनं पारणार्थं च पुरे व्रजन्तं वाचंयममुख्यं मुनिं वीक्ष्य हर्षभरप्रफुल्लगात्रौ तौ बान्धवौ चिन्तयितुं लग्नौ - 'अहो ! मरौ सुरतरुः, रोरमन्दिरे[1] वा निधिः, यद् अस्मिन्नवसरेऽस्मिंश्च स्थानेऽसौ मुनिर्दृष्टः' । इति स्वचेतसि भावयन्तौ तौ परमादरेण मुनिं निमन्त्र्य मुदा तेन भक्तेन प्रत्यलाभयताम् । यतः -

देयं वात्सल्यमौचित्य-परिज्ञानमुदारता ।
धर्मास्तिक्यं च दानस्य, ज्ञेयं लक्षणपञ्चकम् ।।२६।।

1. दरिद्र मंदिर में निधि ।

चित्तं वित्तं च पात्रं च, सुक्षेत्रं कर्मलाघवम् ।
पवित्रपात्रदानस्य, मूलकारणपञ्चकम् ॥२७॥

अस्मिन्नवसरे तस्मिन्नेव वने यक्षपूजनार्थमागताभ्याम् *ऋद्धिसुन्दरी-बुद्धिसुन्दरीभ्यां* राट्कन्याभ्यां मुनये दानं दीयमानं वीक्ष्य हर्षेण जल्पितम् - "सुदत्तं दानं, सुलब्धं मनुजजन्मफलं, सुलक्षणौ भुजौ, पवित्रं च वित्तं, यदेष जङ्गमकल्पतरुर्महा-मुनिर्युवाभ्यां भक्त्या पूजितः । युवाभ्यां दौःस्थ्ये जलाञ्जलिर्दत्तः, स्वर्ग-मोक्षसौख्यानि शीघ्रं सत्यापितानि । या लक्ष्मीर्नैवोप-कुरुतेऽन्यान्, तया पुष्टयाऽपि श्रिया किम् ?" । इत्यनेकधा दानं स्तुत्वा ते राजकन्ये निजास्पदं गते । पुण्यं च दान-श्रद्धाभ्यां चतुर्भिरपि प्रौढमर्जितम् । यतः -

आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो, बहुमानः प्रियं वचः ।
किञ्चाऽनुमोदना पात्र-दानभूषणपञ्चकम् ॥२८॥

अथ तौ दानानुमोदनां कुर्वाणौ मार्गे गच्छन्तौ क्रमेण *काञ्चनपुरो*द्याने गतौ, तत्र च सहकारतरोस्तले विश्रान्तये स्थितौ। अस्मिन्नवसरे राज्ञो मदोद्धुरेण पट्टहस्तिना नगरे महानुपद्रवः कर्त्तुमारब्धः । पुरे कोलाहले जाते तौ द्वौ बान्धवौ कौतुकविलोकनार्थं गतौ । यावद् राज्ञः सिंहद्वारे प्राप्तौ, तावद् गृह-हट्टादिभङ्गकृद् गजोऽपि तत्रागतः । द्वारस्थिता लोकाः पलायिताः । द्वारे भग्ने खेदातुर*श्चन्द्र*नृपतिः प्रोवाच - 'भोः ! स कोऽप्यस्ति शूरो यो दुर्दममेतं गजं वशीकरोति ?' । परं कोऽपि भटो न शृणोति । तदा *विन्ध्य*स्तूर्णं गजग्रहणाय सज्जोऽभूत् । गजशिक्षाकुशलश्च स बद्धपरिकरो भूत्वा, चिरं गजं खेदयित्वा वशीकृत्य च आलाने

बबन्ध । गजबन्धेन लोकैर्जयारवे कृते राज्ञा स्वसमीपे समानायितः। तत आसने उपवेश्य तुष्टेन भूपेन प्रोक्तम् - 'भो महापुरुष ! तवाऽनेन कर्मणा सन्तुष्टान्मत्तो वरं वृणुष्व' । ततो नमस्कारं कृत्वा *विन्ध्येनो*क्तम् - 'हे देव ! भवद्दर्शनेन वरो लब्ध एव, यतो देवसेवनमेवाऽस्माकं परमो वरः' । ततो मुनिदानप्रभावेण तुष्टेन राज्ञा स्वसेवकीकृत्य वाञ्छाधिकां च वृत्तिं दत्त्वा तौ स्वसमीपे स्थापितौ । तत्र चिरकालं सुखं भुक्त्वा प्रान्ते समाधिना विपद्य तौ देवकुरुषु युग्मिनरत्वेन सञ्जातौ । ते नृपपुत्र्यौ अपि सुखं भुक्त्वा स्वायुषः प्रान्ते मृत्वा च मुनिदानाऽनुमोदनपुण्येन तयोरेव स्त्रियौ जाते । तत्र ते चत्वारोऽपि दशधाकल्पद्रुमदत्तमनोरथा ईषत्तोष-रुषः स्वस्था अहमिन्द्रसुरोपमास्त्रिपल्यजीविताः क्रमेण मृत्वा सौधर्मकल्पे देवा जाताः । तत्र देशोनं त्रिपल्यं देवायुष्कं परिपाल्य ततश्च्युत्वा *पुण्ड्रपुरे महाबल*नृपस्त्रियां *विलासवत्यां* युवां द्वौ पुत्रौ जातौ । पूर्वभवपत्न्योस्तयोरेका *पद्मखण्डपुरे महसेन*नरेन्द्रस्य *सुलक्ष्मणा*भिधाना सुता जाता । द्वितीया *विजयद्रङ्गे पद्मरथ*नृपस्य *लक्ष्मणा*नाम्नी पुत्री जाता । अथाद्या *सुलक्ष्मणा* मागधाद् गुणान् श्रुत्वा *श्रीबले* रक्ता जाता, द्वितीया *शतबले* रक्ताऽभूत् ।

इतश्च परोपकृतिरसिकः *श्रीबलः श्रीगुप्तेन* सिद्धपुत्रेण विद्यासाधने साहाय्यं कर्तुं प्रार्थितः । प्रोचे च -

मित्राणि तानि विधुरेषु भवन्ति यानि,
ते पण्डिता जगति ये पुरुषान्तरज्ञाः ।

त्यागी स यः कृशधनोऽपि हि संविभागी,
कार्यं विना भवति यः स परोपकारी ॥२९॥

ज्येष्ठः पुमर्थेषु सदैव धर्मो, धर्मे प्रकृष्टश्च परोपकारः ।
करोति यश्चैनमनन्ततेजसा, स धर्मकर्मण्यखिलेऽधिकारी॥३०॥

एतन्निशम्य *श्रीबलेना*ऽङ्गीकृतम् । ततः *श्रीगुप्तः* सर्वां विद्यासाधनसामग्रीं विधाय कृष्णचतुर्दश्यां *श्रीबलेन* सार्द्धं श्मशाने गतः.। रचितं मण्डलं, *श्रीबलो*ऽपि खड्गं करे कृत्वा स्थितः । प्रारब्धा साधकेन मन्त्राराधना । अत्रान्तरे *श्रीबलेन* प्रौढदंष्ट्रा-करालास्यो, विद्युल्लोहितलोचनः, कृत्तिका-खड्ग-नृकपालहस्तो, महोदरः, कज्जलकरालश्यामलो, रुण्डमालामण्डितः, केशैश्च *श्रीगुप्तमा*कृष्य हरन् पिशाचो दृष्टः । तदा तदभिमुखं *श्रीबलो* धावितः । अग्रे पिशाचः पृष्ठौ च राजा व्रजतः महावनमागतं, प्रभातं जातम् । गतो निजस्थानं पिशाचः, परं *श्रीबलः श्रीगुप्तं* कुत्रापि न पश्यति । तथापि वीक्षितुं लग्नो दूरं गतः, खेदं च प्राप्तः।

तस्मिन्नवसरे स्त्रिया रोदनं श्रुत्वा तत्समीपे गतः । तत्र शाखिशाखानिबद्धायास्तस्या इति वचोऽशृणोत् - "भो भो दिक्पाला वनदेव्यश्च ! मद्वचः शृणुत । मम पित्रा दत्तो मया दूरादपि हृदि स्थापितः, परं मया पापया पाणौ न प्राप्तः। तथापि स *श्रीबलो* भवान्तरेऽपि मम भर्ता भूयात्, भवद्भिश्च तस्य विघ्नो वार्यः"। इत्यालापपरा सा बाला तत्र सहसा स्वम् अमुचत । तदा निजाख्यया शङ्कितेन *श्रीबलेन* शीघ्रं गत्वा क्षुरिकया तस्याः पाशश्छिन्नः,

दत्तश्च चेलाऽनिलः । तदा मूर्च्छितायास्तस्या नेत्रमुन्मीलितम्, तं च वीक्ष्योत्तरीयं संवृत्य तया भणितम् - 'अरे ! सर्वसाधारणा मृतिरपि मे पापाया दुर्लभाऽभूत्' । तदा तेनाश्वास्य भाषिता - 'हे मुग्धे ! का त्वं कथं च निर्विण्णा ? येन स्वजीवितं हन्तुमुद्यतासि?'। ततस्तया चिन्तितम् - 'अहो ! अस्य सुभगस्य मुखदर्शनेन मधुरवचनश्रवणेन च मे मनस्तुष्यति । चलत्यभिमुखं दृष्टिः, स्पर्शाद्रोमाञ्चिता तनुः, ततोऽहं जानामि, निश्चितं मम पत्या भाव्यम्। परं तस्यागमनं कुतोऽत्र सम्भवेत् ?, अथवा वैचित्र्यं दैवस्य, ततोऽस्य सुभगस्य पुरः सद्भावं कथयाम्यहं, येन तत्त्वमवगम्यते'। इति ध्यात्वा सा गद्‌गदमाह -"हे सत्पुरुष ! स्वमुखेन स्वकथाकथनं न शोभनं, तथापि त्वं मान्यः, ततः शृणु । *पद्मखण्डपुरे महसेनस्य* राज्ञः *पद्मादेव्या* प्रसूता *सुलक्ष्मणा* नाम कन्या, सा स्वपित्रा *श्रीपुण्ड्रपुरभूपतेः* पुत्राय गुणाढ्याय *श्रीबलाय* दत्ता । अथ सा कन्या तद्गुणश्रवणाद् उद्वाहकालं प्रतीक्षमाणा कदाचिच्च कानने क्रीडां कुर्वती केनाऽपि विद्याधरेण नभसि हृता, तेन च पापिना रुदती अत्राऽरण्ये मुक्ता । सा *सुलक्ष्मणा* कन्याऽहम् । स विद्याधरो वनेऽपराजितां विद्यां साधयितुं गतः, ततो हे भद्र ! मयाऽप्यवसरं लब्ध्वा मृतिरारब्धा, यतोऽबलानां मरणमेव बलम् । ततो मां मुञ्च, यथा स्वेप्सितं कुर्वे । अन्यथा यमोपमाद् विद्याधरान्न मे मुक्तिः" ।

ततः *श्रीबलेन* चिन्तितम् - 'मां यदेयं वेत्ति तदा जीवति'। इति विचिन्त्य स स्वं प्रकाशितवान् । साऽपि तम् आत्मप्रतीतितो निर्णीय हृष्टा, लज्जिता च चेतसि चिन्तितवती - 'किमेककः

समागतः ?' । इति सवितर्का सा मधुरस्वरमभ्यधात् -

कच्चित् कुशलमार्यस्य, मम जीयितदायिनः ।
देवेन दैवसान्निध्यात्, कथं भ्रान्तं यनेऽत्र यै ? ॥३१॥

*श्रीबले*नोक्तम् - 'हे मृगनेत्रे ! स्वपुण्यस्य सकलेयं लीला'। एवं तौ प्रेम्णा परस्परं वार्तयतः । अस्मिन्नवसरे स *श्रीगुप्तः* साधकस्तत्र समागतः । तं दृष्ट्वा हृष्टेन *श्रीबले*नाऽप्रच्छि - 'हे सखे ! स पिशाचः क्व गतः ? कथं च त्वं मुक्तः ?' । ततः सिद्धपुत्रोऽवक् - "हे मित्र ! त्वं तेन मायया व्यामोहितः, न पुनरन्यत् किमप्यभूत् । त्वां तत्राऽदृष्ट्वा अहं दुःखभागभवं, ततो दृढोत्कण्ठस्त्वामत्र निमित्तेन ज्ञात्वा समागमम् । पुनर्निमित्तबलेनाऽहं जानामि यत्, त्वत्सत्त्वतस्तुष्टेन तेनैव देवेन एतां त्वत्प्रियां योजयितुं त्वमत्र मुक्तोऽसि । ततो हे मित्र ! गान्धर्वविवाहेन द्रुतमेनामुद्वह, यतोऽधुना मुहूर्तोऽतीव सुन्दरोऽस्ति" । एवं मनोऽनुकूलवार्तया तुष्टचित्तेन *श्रीबलेन* परिणीता सा । ततस्ते त्रयोऽपि सिद्धपुत्रस्य पटविद्यया क्षणेन *पुण्ड्रपुरं* प्राप्ताः । अथ पार्थिव इदमखिलं वृत्तं *महसेन*नरेशस्य ज्ञापयामास, तच्छ्रुत्वा हृष्टो *महसेनः* सचिवान् प्रेष्य तयोः पाणिग्रहमचीकरत् ।

इतश्च शतबलो बन्धुं वीक्षितुं ससैन्यो निर्गतः, क्रमेण च देशान्तकान्तारसंस्थितं तापसाश्रमं प्राप्तः । तत्र तापसक्रियासु शिथिलं शोकाकुलं तापसीवृन्दं ददर्श । ततस्तेन पृष्टम् -

[1]रण्णे कयवासाणां, तोडियधण-सयणनेहपासाणं ।

1. अरण्ये कृतवासानां, त्रोटितधन-स्वजनस्नेहपाशानाम् ।
कथयत तु भगवत्यः !, किं शोकनिबन्धनं युष्माकम् ॥

साहह उ भयवईओ !, किं सोयनिबंधणं तुम्ह ॥३२॥

ततस्ताः प्रोचुः - "हे सुन्दर ! शोकस्य कारणं शृणु । विजयपुराधिपतेः *पद्मरथस्य* लक्ष्मीसमानरूपा *लक्ष्मणा*ऽभिधा पुत्री, सा च *पुण्ड्रपुरा*धिपतिसूनौ *शतबले* गाढस्नेहाऽभवत् । ततः *शतबल*वरणोत्सुका सा सपरिवारा पित्रा प्रेम्णा प्रेषिता, गतरात्रौ चाऽत्रावासिता । अथ *किरात*देशाधिपस्याऽ*रिमथन*स्य *कुञ्जराभिधेन* सुतेन सा पूर्वं प्रार्थिता, परं नैव लब्धा । ततः सामर्षेण तेनाऽत्र वने ज्ञातागमा *लक्ष्मणा* नः पश्यन्तीनां बलात्कारेण हृता । सा वराकी भृशं *शतबले* रता *कुञ्जर*मनिच्छन्ती निश्चयेन मरिष्यति । इति शोककारणम्" ।

तत् श्रुत्वाऽसौ घृतसंसिक्तहुताशनवत् क्रुधाऽदीपि, यतः प्राणप्रियाहरणं मानिनः कदापि न सहन्ते । उक्तं च-

वैश्वानरः[1] करस्पर्शं, मृगेन्द्रः श्वापदस्वनम् ।
क्षत्रियश्च पराक्षेपं, न सहन्ते कदाचन ॥३३॥

विद्यातीर्थे विमलमतयः साधवः सत्यतीर्थे,
लज्जातीर्थे कुलयुवतयो योगिनो ज्ञानतीर्थे ।
गङ्गातीर्थे विगतवयसो दानतीर्थे गृहस्था,
धारातीर्थे धरणिपतयः कल्मषं क्षालयन्ति ॥३४॥

ततः *शतबलः* सिंहवत् तदनुमार्गेण गत्वा *कुञ्जरस्य* मिलितः, हक्कितश्च । ततस्तेन सह महारौद्रं सङ्गरं कृत्वा तं रिपुं जित्वा *लक्ष्मणां* लात्वा पश्चाद् वलितः । तावता नभोमार्गे समागतेन साधकेन

1. अग्निः ।

श्रीगुप्तेन बान्धववाप्त्या वर्धापितः। ततो द्विगुणितोत्साहः *पुण्ड्रपुर*पत्तने प्राप्तः, भ्रातरं च मिलित्वाऽतीव हृष्टः । ततः स सन्मुहूर्तेऽद्भुतानन्दं तां *लक्ष्मणां* पर्यणयत् । कालान्तरेण युवां द्वौ राज-युवराजकौ जातौ । एवं च चतुर्भिर्युष्माभिः सुपात्रदानतः सुखं प्राप्तम्" ।

।।इति श्रीबल शतबलयोः पूर्वभववर्णनम् समाप्तम् ।।

श्रुत्वेति देशनां शुद्धां, चतुर्भिरपि तैस्तदा ।
जातजातिस्मरैः प्रोक्तं, 'सत्यं भागवतं वचः' ।।३५।।

ततस्तैः प्रोक्तम् - 'अहो ! ज्ञानं मुनेः, येन वृत्तमस्माकं प्रोक्तमात्मवत् । परं हे विभो ! *सुलक्ष्मणा*ऽपहर्तुविद्याधरस्य का वार्त्ताऽभूत् ?' । मुनिना प्रोक्तम् - "असौ वराको विद्यासाधनरतो देव्या छलितः । तत उन्मादेन मतिभ्रंशं प्राप्तः स क्षुत्-तृट्-शीता-ऽऽतपार्दितः प्रभूतकालं वने भ्रान्त्वा क्रमेण *काम्पिल्यपुर*पत्तनं प्राप्तः । तत्राऽष्टाविंशतिमहालब्धिपात्रं *श्रीहरिषेण*महामुनिं वीक्ष्य तत्तपोबलात् क्षणेन नष्टदुष्टग्रहोऽभवत् । ततः पश्चात्तापी सचैतन्यः स 'मुनेः प्रभावादहं देवीच्छलान्मुक्तो जातः' इति विमृश्य परमादरेण नमस्कृत्य धर्मं श्रोतुमुपविष्टः । ततस्तेन दयालुना मुनिना धर्मदेशना दत्ता । यथा - 'दौर्गत्य-रोग-शोकादिदुःखलक्षाणि जन्तवस्तावल्ल-भन्ते, यावत् श्रीजिनोदितं धर्मं नाऽङ्गीकुर्वन्ति । यस्य पुनर्मानसे धर्मः स्थितस्तस्य स्वर्गो गृहाङ्गणं, मोक्षसौख्यं समीपगं, न च कल्याणं दुर्लभम् । तस्माद् भोः खग ! यदि त्वं परममात्मसौख्यं प्राप्तुकामस्तर्हि धर्ममङ्गीकुरुष्व' । इति महात्मनो वचोऽमृतं पीत्वा महामोहविषं वान्त्वा विवेकचैतन्यं लब्ध्वा असौ सर्वसंवररूपं चारित्रं

प्रपन्नवान् । क्रमेण च केवलीभूय परमं पदं प्राप्तः'' ।

इति धर्मफलं श्रुत्वा प्रमोदभरप्रपूरितचित्तो नृपतिर्गुरुं नत्वाऽब्रवीत् – 'हे मुनीन्द्र ! त्वत्प्रसादेन मयाऽधुना धर्मगुणो ज्ञातः, ततो राज्यसौस्थ्यं कृत्वा युष्मदन्तिके प्रव्रजिष्यामि' । तदा गुरुणा प्रोक्तम् – 'मा विघ्नस्ते भवतु, मा प्रतिबन्धं विधेहि' । ततो हृष्टो नरेन्द्रः स्वगृहे गतः । तच्च राज्यं यावद् लघुभ्रातुः *शतबलस्य* दातुं समुद्यतः, तावन्नत-मौलिना *शतबलेन* नृपायेति विज्ञप्तम् – 'हे देव ! मम प्रसद्य सद्यस्त्वं व्रतानुज्ञां देहि, यस्मादयं संसारसमुद्रो दुःखाम्भसा रौद्रो भयानकश्च वर्त्तते । दुरन्तः स व्रततरण्डं विना न हि तीर्यते' । ततो राज्ञोक्तम् – 'हे वत्स ! ज्ञाततत्त्वानामिदमेव वक्तुमुचितं, किन्तु क्रमागतं राज्यं कानपि वासरान् भुक्त्वा, प्रौढयोः कुमारयो राज्यभारं विन्यस्य त्वया प्रव्रज्यम्' । इत्युक्तोऽपि *शतबलो* यदा राज्यं नाऽगृह्णात्, तदा *गिरिसुन्दरे* कुमारे राज्य-धूर्न्यस्ता । यौवराज्यं च *रत्नसारे* संयोज्य, जिनप्रसादेष्वर्चनं कृत्वा, सत्पात्रेभ्यो महाभक्त्या दानं दत्त्वा, दीनाऽनाथानुद्धृत्य, सङ्घपूजां च विधाय *शतबलेन* भ्रात्रा सार्द्धं सामान्ता-ऽमात्य-सेनापति-सार्थवाहादिसमन्वितः श्रीगुरुपार्श्वे महाविभूत्या विधिपूर्वकं प्राव्राजीत्। सर्वे च ते महर्षयो निरतिचारसंयमा जाताः ।

अथ *श्रीगिरिसुन्दर-रत्नसारौ* द्वौ बान्धवौ गृहीताऽणुव्रतौ तीव्रतेजसौ राज्यं सुखेन पालयतः । यत्प्रतापेन निर्जिते वैरिवर्गे सर्वे भटा रणक्रीडोन्मुखाः स्थिताः । याभ्यामतिदानतो दारिद्र्यं मूलादुन्मूलितं, तेनाऽर्थ्यभावाद् दानव्यसनिजनेऽपि दानशब्दो

निरर्थकोऽभूत् । याभ्यां स्थाने स्थाने श्रीजिनानां सदाकाराः प्रासादाः कारिताः, येऽत्यौज्ज्वल्यच्छलात् किल सदा स्वर्गश्रियं हसन्ति । जिनशासनसाम्राज्ये विस्तृते सति सर्वजगज्जीवबन्धूनां साधूनां शमरसो वृथाऽभवत् ।

एवं सुखमये रमयेप्सिते समये याति सति अथाऽन्यदा *गिरिसुन्दर*भूमीन्दुः निशि शय्यासुप्तः प्रातररुणोदये जाते स्वप्ने सुराद्रिशिखरस्थितं स्वं वीक्ष्य वर्यतूर्यरवैः प्रबुद्धोऽभूत् । स च दिव्यस्वप्नेक्षणाद् हृष्टः 'श्रेयो मेऽद्य' इति चिन्तयन्, पञ्चपरमेष्ठि-नमस्कृतिपरः शय्यातः समुत्तिष्ठति, तावद् वैतालिकोऽलपत् -

प्रतापकृतदोषान्तो[1], [2]भूभृन्मौलिलसत्पदः[3] ।
आरोहति नभो [4]गोपो, युगपत् प्राप्तुमुन्नतिम् ॥३६॥

इति स्वप्नसंवादि वचः श्रुत्वा हृष्टमना नृपतिः सशृङ्गारो नगरबाह्योद्यानस्थितं जिनालयं जगाम । तत्र विधिपूर्वकं जिनान् अभ्यर्च्य स्तुत्वा च संवेगरङ्गतरङ्गितश्चैत्यतो बहिर्यावन्निर्गतस्तावत् सहकारतलासीनं, प्रशान्तचित्तं, नवयौवनं, रत्नत्रयाऽलङ्कृतं, पञ्चमहाव्रतधरणधीरं, धर्मध्यानतत्परं, नासाग्रन्यस्तलोचनं कञ्चिद् महामुनिं ददर्श । ततस्तत्र गत्वोचितस्थाने स्थितः । तदा महामुनिना धर्मलाभं दत्त्वा धर्मदेशना प्रारब्धा -

संसारे सहजाऽसारे, धत्तूरकुसुमोपमे ।
रतिं मा कुरु भो राजन् !, इन्द्रजालवदस्थिरे ॥३७॥

1. दोषा-रात्रिः, दोषः-दूषणम् । 2. भूभृतः पर्वता नृपाश्च । 3. पदाः-किरणाः, पदं-चरणः । 4. गोप'-सूर्यो महीपतिश्च ।

भवेद् मृत्युकृते जन्म, यौवनं च जराकृते ।
भोगा रोगकृते भूप !, का सुखाशाऽत्र देहिनाम् ॥३८॥

एकत्र रुद्यते गेहे, गीयते नृत्यतेऽन्यतः ।
आसन्नसद्मनोर्यत्र, किं सारं तत्र सम्भवेत्? ॥३९॥

तापयन्ति जरा-रोग-शोक-मृत्युभयाः सदा ।
आश्वासनास्पदं भूप !, भवे प्रायोऽत्र किं भवेत् ॥॥४०॥

भुज्यमानं च यद् भोग-सुखं कुर्यान्मुदं जने ।
स्वप्नोपभोगतुल्यं तद्, न तृप्तिं जनयेत्कदा ॥४१॥

भोगासक्ताश्च ये सत्त्वा, जिनधर्मं न कुर्वते ।
ते भृशं गर्भकुम्भीषु, पच्यन्ते हि पदे पदे ॥४२॥

तयेति ज्ञाततत्त्वस्य, स्थातुं नाऽत्रोचितं क्षणम्'' ।
शृण्वन्निति ससंवेगो, मुनिं नत्या नृपोऽयदत्- ॥४३॥

'हे भगवन् ! मोहनिद्राढ्योऽहं भवद्गिरा बोधितः *श्रीजयनन्दन*सूरिसमीपे निश्चितं प्रव्रजिष्यामि' । तदनन्तरं गृहे गत्वा भ्रातुरग्रे निजाभिप्रायमभ्यधात् । ततो *रत्नसारो*ऽवदत् - "हे बन्धो ! मूढा नराः स्वकार्ये शोचन्ति, आवां तु श्रामण्यसुखमुत्तमं स्मरन्तावपि मुग्धौ सौख्यलवेषु लुब्धौ ही ! कथं गृहे स्थितौ ? । तस्मात् कारागृहाभासे गृहावासे स्थातुं नोचितम् । धन्यास्ते ग्रामादयो यत्र *श्रीजयनन्दनसूरि*र्विहरति" । एवं तौ द्वौ भ्रातरौ भावनां भावयतः, तावता वनपालेन विज्ञप्तौ - 'हे स्वामिनौ ! यन्नाम श्रुत्वा वां चित्ते उल्लासो विलसति, स *श्रीजयनन्दन*-

मुनीन्द्रोऽत्रागात्' । इति वनपालकमुखात् श्रुत्वा ससम्भ्रमं सिंहासनादुत्तीर्य सप्ताष्टपदानि सम्मुखं गत्वा तत्र ताभ्यां महामुनिर्वन्दितः, परमप्रमोदेन च वर्धापकस्य चित्तपथातिगं वित्तं दत्तम् । ततो महताडम्बरेण श्रीगुरुसमीपे गत्वा त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य परमादरेण नत्वा यथायोग्यस्थाने स्थितौ । ततः श्री गुरुणा धर्मदेशना प्रारब्धा-

"भो भव्याः ! दुर्लभं मानुष्यं प्राप्य विवेकिभिः प्राणिभिर्धर्मे यत्नो विधेयः । यतः -

धर्मोऽयं पितृ-मातृ-बान्धव-सुहृत्-सुस्वामि-सद्भृत्य-सद्-
दारेभ्योऽपि विशिष्यते स्वयममी यस्मान्न दीर्घायुषः ।
नो जन्मान्तरगाः समं हितकृतौ नैव क्षमाः शाश्वतं,
जन्मान्ते सहयायिनं हितकरं सेवध्वमेनं ततः ॥४४॥

निर्दन्तः करटी हयो गतजवश्चन्द्रं विना शर्वरी,
निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायाविहीनस्तरुः ।
अन्नं निर्लवणं सुतो गतगुणश्चारित्रहीनो यति-
र्निर्देवं भवनं न राजति तथा धर्मं विना मानवः ॥४५॥"

इत्यादिं गुरुमुखाद्धर्मदेशनां श्रुत्वा निजाभिप्रायं तस्य कथयित्वा स्वमन्दिरे समागतौ । ततो राजलक्षणसंयुक्तं *सुरसुन्दरकुमारं* राज्यभारे न्यस्य जिनशासनस्य प्रौढप्रभावनां कृत्वा गुरोः समीपमायातौ । गुरुणाऽपि तयोर्दीक्षा दत्ता । अल्पैर्दिनैस्तौ एकादशाङ्गान्यध्यैयाताम् । परमसंवेगधरौ तौ क्रियापरौ, सदा साम्यधरौ, तीव्रतपश्चरौ, नृपव्रजैः पूज्यमानौ,

संलेखनया शोषितदेहौ, निर्मलनिजस्वरूपदर्शिनौ, निरपायाऽनुभवैकगोचरस्वपरस्वभावविलोकनरतौ, निर्ममौ, निरहङ्कारौ, चिरं चारित्रमासेव्य समाधिना मृतौ नवमग्रैवेयके सुरौ जातौ ।

ईर्ष्या-विषादरहितावहमिन्द्रदेवौ,
तौ दिव्यभोगसुख-लब्धिरतौ च तत्र ।
प्रक्षीणभूरिदुरितौ सवियेकमेक-
त्रिंशन्मितानि नयतो ननु सागराणि ॥४६॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे
गद्यबन्धे श्रीगिरिसुन्दरनृपति-
रत्नसारयुवराजपितृव्यपुत्रगुणगणवर्णनो नामाऽष्टमः सर्गः ॥

नवमः सर्गः

सुमङ्गलः	- ताम्रलिप्ती-नृपः, कनकध्वज-पिता
श्रीप्रभा	- सुमङ्गल-पत्नी
कनकध्वजः	- सुमङ्गल-पुत्रः (पृथ्वीचन्द्र-जीवः)
जयसुन्दरः	- सुमङ्गल-पुत्रः (गुणसागर-जीवः)
मतिसुन्दरः	- ताम्रलिप्ती-मन्त्री
सुरवेगः	- कनकध्वजश्वसुरः
सूरवेगः	- जयसुन्दरश्वसुरः
पुरुषोत्तमः	- साकेतपुराधीशः
कपिञ्जलः	- साकेतपुर-मन्त्री
केशवः	- कपिञ्जलमातुलः
सूरिभगवन्तः (गुणधरः)	- केशवदृष्टान्त-कथकः

श्रीगुणधरसूरिणा पुरुषोत्तम-भूपाय कथितं केशवस्य पूर्वभव-कथानकम्

पृ. ३४८-३६६

वीराङ्गदः	- वसन्तपुरनृपः	जिनप्रियः	- भावश्रावकः
मोहनः	- द्रव्यश्रावकः	शिवदेवः	- मोहन-मोहित-श्रावकः

पुरुषोत्तमादिनाम् पूर्वभवाः

१	२	३	५
पुरुषोत्तमः	सूरिभगवन्तः (गुणधरः)	कपिञ्जलः	केशवः
वीराङ्गदनृपः	जिनप्रियः	शिवदेव-श्रावकः	मोहनः
		किल्बिषिकदेवः	हस्ती, रत्नप्रभानरकः
सप्तम देवलोकः	सप्तम देवलोकः	चण्डालः	श्येनपक्षी
पुरुषोत्तम-नृपः	गुणधरः (सूरि भगवन्त)	धूम्रप्रभा-नारकः	वालुकाप्रभानारकः
		कपिञ्जलः	सिंहः, पङ्कप्रभानारकः
			सुमित्रः, केशवः

नवमः सर्गः

(सप्तदशाष्टादशौ भवौ)

जीयाज्जिनेन्द्रगीर्गङ्गा, स्वच्छसंवरदा हि या ।
साधुहंसैः श्रिता त्यक्ता, पङ्काकुलजडाशयैः ॥१॥

भुक्त्वाऽर्हद्गीःफलं च्युत्वा, ततः पुण्यावशेषवान् ।
गिरिसुन्दरदेवोऽयमुत्पन्नो यत्र तच्छृणु ॥२॥

तथाहि-*बङ्ग*भूस्वस्तिकोपमा मणिच्छविच्छटाकीर्णा सदा स्वस्ति-सुखप्रदा *ताम्रलिप्ती* नाम्ना नगर्यस्ति । यत्र नृप इन्द्रायते, सर्वाः सीमन्तिन्योऽप्सरायन्ते, नराश्च सुरायन्ते, ईदृशी सा पुरी स्वर्गसमा सदैवास्ते । तत्र समस्तद्विषत्कालः, सुहृज्जने कल्पशालः, साम्राज्याखण्डलोपमः *सुमङ्गलो* नाम राजासीत् । तस्य *श्रीप्रभाया* देव्या वरकुक्षिसरोवरे *गिरिसुन्दरदेवो* नवमग्रैवेयकात् च्युत्वाः हंसवदवतीर्णवान् । तस्यां रात्रौ तया स्वप्ने सिंहाङ्कः कुसुमाञ्चित रत्नमण्डित-दण्डस्थः, क्वणत्किङ्किणीनिःस्वनो ध्वजो दृष्टः । राज्ञा पुत्रोद्भवे प्रोक्ते *श्रीप्रभा* राज्ञी भृशं हृष्टा । ततो राज्या ये दोहदाः समुत्पन्नास्ते सर्वे नृपेण पूरिताः । समये जगज्जनमनोहरं पुत्रं प्रसूता । ततो राज्ञा पुरे गुप्तिमोचनपूर्वकं गीत-वाद्यादिसुन्दरं, जगज्जनानन्दनं वर्द्धापनं चक्रे । मासे गते राज्ञा पुत्रस्य *कनकध्वज* इति नाम कृतम् । चन्द्रवद् वर्द्धमानोऽसौ सकलाः कलाः पुपोष ।

अथ *रत्नसार*जीवदेवोऽपि नवमग्रैवेयकात् च्युत्वा तस्यैव भूभुजः *स्वयम्प्रभाया* देव्याः कुक्षौ पुत्रतयाऽजनि । क्रमेण जन्म

जातम् । पित्रा घनधनव्ययेन जन्मोत्सवः कृतः । तस्य *जयसुन्दर* इति नाम स्थापितम् । क्रमेण वर्द्धमानः सोऽपि यौवनं प्राप्तः । तौ प्राग्भवाभ्यासत एकत्र खेलतः । परस्परं प्रीतौ पापपराङ्मुखौ, शिष्टसम्मतौ, राधावेधविनोदेन नित्यं तिष्ठतः । अस्मिन्नवसरे *सुरवेग-सूरवेग*नामाभ्यां खेचराभ्यां स्वकार्यतः कुत्रचिद्गताभ्यां तत्र क्षितौ राधां विध्यन्तौ वीक्षितौ । स्थानदृष्टिनिवेशादेरेतयोर्विज्ञानं वीक्ष्य हृष्टौ पुष्पवृष्टिं कृत्वा तौ निजास्पदं गतौ । तद् दृष्ट्वा कुमारपरिवारो विस्मितः । 'अमू सुरार्चितौ' इति परिवादो जने विस्तृतः । तत् श्रुत्वा *सुमङ्गलो* नृपतिर्भृशं सन्तुष्टः ।

अन्यदा सभास्थे राज्ञि उत्तरस्यां दिशि गम्भीरस्तूर्यनिर्घोषो विस्तृतः । तच्छ्रुत्वा नृपादयः सर्वेऽपि विस्मिताः । 'परचक्रमागतं किमु ?' इति वितर्क्य भटाः क्षुब्धाः । ततो गगनगं ध्वनिं ज्ञात्वा सर्वे तदुन्मुखीभूय स्थिताः तावत् सद्वर्णौ द्वौ विद्याधरकुमारकौ तत्रौत्तीर्णौ। भुभूजा मानितो स्वस्थौ तौ विनयादूचतुः - "हे राजन् ! उत्तरस्यां दिशि बहुग्राम-नगरा-ऽऽराम-मण्डिते *वैताढ्ये* गिरीश्वरेऽपरापरमातृजौ *सुरवेग-सूरवेगा*भिधौ भ्रातरौ श्रेणिद्वय-खेचरवैभवं पालयतः। तयोः गुणश्रिया धन्यानां कन्यानां शतं शतमस्ति । अन्यदा ताभ्यां भवत्पुत्रौ राधावेधे वीक्षितौ, तत्कला-कौशल्येन च प्रीतौ पुष्पवृष्टिं कृत्वा स्वपर्षदि तौ बहु स्तुतौ । तदाकर्ण्य नैमित्तिकोदितं च स्मृत्वा खेचरेन्द्रयोरखिलाः कन्याः कुमारयोरुपरि उत्कटं रागं बबन्धुः । ततो ज्ञाताकूतौ खेचरेन्द्रौ नैमित्तिकेन प्रोक्तविवाहवासरौ सपरिवारौ स्वस्वपुत्रीभिः सह समेतः। ताभ्यां भवतो वर्धापनार्थं पुरक्षोभरक्षार्थं च द्रुतमावां प्रेषितौ ।

संप्रति देवः प्रमाणम्" । इति श्रुत्वा राजा यावत् किंकर्तव्यतयाकुलोऽभवत्, तावन्म*तिसुन्दर*-मन्त्रिणा प्रणम्य विज्ञप्तः- 'हे देव ! भवतः परं पुण्यमस्ति, तेन स्वचेतसि चिन्ता न कार्या । तयोः खेचरेन्द्रयोरभ्येत्य प्रतिपत्तिर्भृशं कार्या' । तन्निशम्य पुरशोभां विशेषेण कृत्वा ततो नृपतिः सर्वसामग्र्या सम्मुखं निर्गतः। खेचरेन्द्राभ्यां बहु मानितः । प्रतिपत्तिर्मिथोऽजनि। उत्तारका जाताः। ततः *सुरवेग*विद्याधरेन्द्रेण *कनकध्वजस्य सूरवेगेण* च *जयसुन्दरस्य* शतं शतं कन्या दत्ताः । अथ सन्मुहूर्ते वैवाहिकोत्सवः प्रारब्धः । तथाहि -

नृत्यत्खेचरसन्नारी-मणिकुण्डलभासुरः ।
उच्छलद्बहुकर्पूर-रेणुपूरितदिग्भरः ॥३॥

भट्ट-बन्दि-नटानन्दी, भुयनाश्चर्यकारकः ।
पक्षद्वयजनोल्लासी, वैयाहिकमहोऽजनि ॥४॥

अमन्दानन्दसागरे मग्नानां तेषां सुखभासुराः केऽपि वासराः क्षणलक्षिता इव गताः । अथाऽन्यदा *सुरवेग-सूरवेगौ सुमङ्गलभूपं* पृष्ट्वा गलद्बहलबाष्पौघौ कथञ्चित्स्वास्पदं गतौ । विश्वविश्वस्फुरत्कीर्त्तिभरौ कुमारावपि अप्सरोभिरिव एताभिर्नवोढाभिः समं सुरकुमारवत् क्रीडतः । गुणाकृष्टा अन्या अपि घना राजकन्याः स्वयंवरे दूरदेशतः समागताः, एवं चैतयोः प्रत्येकं क्रमेण वधूपञ्चशती जाता । भरतार्धनरेश्वरैः प्रेषितैर्हय-गजाद्यैर्वर्द्धमानमहोदयौ तौ कुमारौ भोगान् भुञ्जाते । इतः सुतप्रतापेन नतानेकनृपः *सुमङ्गलो* नृपतिरनिशं पुत्रर्द्धिं प्रेक्ष्य विस्मितः प्रभातकाले स्वचेतसि दध्यौ - 'अहो ! मम

पुत्रयोरगण्यः पुण्योदयः, यस्यानुभावतः सर्वेऽपि भूचरनृपाः खेचराधिपाश्च निरन्तरं भृत्यभावं भजन्ते । पुण्यमेव प्रधानं कारणं सर्वत्र । यतः -

मातङ्गपूगास्तुरगाश्च तुङ्गा, रथाः समर्था विकटा भटौघाः ।
बुद्धिः समृद्धिर्भुवने प्रसिद्धिः, पुण्यात्तनौ स्यादतुलं बलं च॥५॥

ततः प्राप्तसत्पुत्ररत्नस्य भुक्तभोगस्य मे परलोकहितं कर्त्तुं युक्तम्, तत्तु सद्धर्मसेवया भवति । सद्धर्मसेवकाश्च लोके दुर्लभाः। यतः-

सद्धर्मो दुर्लभो लोके, सर्वे पाखण्डिनो यतः ।
मिथो विरोधिभिर्ग्रन्थैः, स्वस्वधर्मं वदन्त्यहो ! ॥६॥

तेषु सत्यवाक् कूटवादी वाऽत्र कथं ज्ञायते ? । अलीकवादिनां शिक्षया प्रत्युत्ताऽनर्था भवन्ति" । इति ध्यात्वा नृपो *मतिसुन्दर*मन्त्रिणमपृच्छत् । सोऽवक् - 'हे प्रभो ! सकलान् पाखण्डिनो धर्मं पृच्छ, स्वचेतसि च चिन्त्यताम् । यः संसारविषयादिभ्यो विरुद्धोऽसौ सद्धर्मो विज्ञेयः । स परलोकहितैषिभिः सज्जनैः सेव्यः' । इति श्रुत्वा महोत्साहो नृपतिर्यावत् सदसि संस्थितः, तावन्नभसि भृशं देवैरध्वन्यत सुरदुन्दुभिः । जातो जयारवः, तत्र चलितश्च पुरीजनः । नृपोऽपि विस्मितः सन् यावद्विलोकयति तावद् वनपालकेन समागत्य विज्ञप्तम् - "हे देव ! देवरमणोद्याने मूर्त्तिमान् धर्म इव *श्रीस्वयंवरनामा* सूरिः समागतोऽस्ति, तस्य प्रातः केवलज्ञानमुत्पन्नमस्ति । तस्य शस्यश्रियाश्रिते पादपद्मे बद्धोत्कण्ठा अमी देवा भ्रमरा इव निलीयन्ते । ततो हे स्वामिन् !

तस्य भगवतो नतिं कर्त्तुं तत्त्वं च ज्ञातुं तवोचितम्। तच्छ्रुत्वा 'वाञ्छितं सिद्धं मे' इति मन्यमानो नृपतिश्चतुःसैन्यसमन्वितो गुरुपार्श्वे गत्वा गुरुं स्तुत्वा नत्वा च पृथ्वीपीठे निषण्णवान् । तावता भगवता तथ्यार्थकथा प्रारब्धा । यथा -

"भो भो भव्या ! अपारे महाभयङ्करे संसारकान्तारे सिद्धिं यियासूनां प्राणिनां शुद्धमार्गो दुर्लभः । कुपथास्तु बहवः सन्ति, यैश्च विमोहिता जीवाः शिवार्थिनोऽप्यत्र महोल्बणं दुःखं लभन्ते । यत्र भवारण्ये द्वेषो व्याघ्रः, राग उत्कटः सिंहः, मोहो राक्षसः, क्रोधो दावानलः, मानः शैलः, गूढा माया कुमार्गः, लोभश्च कूपः । सर्वैस्तैरखिला जन्तवः स्खल्यन्ते, विषयविषवृक्षेषु च विश्रामं कुर्वाणा अचैतन्या भवन्ति । मित्रधूर्तैस्ते मुष्यन्ते, कुपथान्तरं च नीयन्ते । अज्ञानाद् दिग्मूढा दुर्गदुर्गतिगह्वरे पतन्ति । विघ्नवंशाल्यां विलग्ना मृत्युकूपे पतिता भवकान्तारपारं ते मूढाः प्राणिनो जातुचिदपि न लभन्ते । ततो भो भव्याः ! कुमार्गं त्यक्त्वा शुद्धे सत्पथे लगत, येन परमं निर्वाणनगरं लभध्वम् । भो नृप ! शुद्धमार्गस्य स्वरूपं सर्वसावद्यवर्जनम् । पुनः शत्रुमित्रादिरूपेषु सत्त्वेषु समचित्तं कार्यम् । तीर्थनाथेन भगवता केवलज्ञानशालिनाऽयं मोक्षमार्गो निवेदितः । तस्माद् भो महाभाग ! सर्वथा मोक्षमार्गे त्वं प्रवर्त्तस्व" ।

इति देशनां श्रुत्वा भूपो भिन्नकर्मग्रन्थिर्व्यजिज्ञपत् - "हे भगवन् ! ज्ञातं मया, लौकिका देवा राग-द्वेषादिदूषिताः, स्त्री-शस्त्र-गीत-सन्नृत्य-रोष-तोष-च्छलादिकैश्च अस्मत्तुल्याः, ततो जन्तूनामेकान्ततः कथं हितैषिणः स्युः ? तदादिष्टश्च धर्मः कथं

शिवसङ्गमे पटिष्ठः स्यात् ? । तस्मात् श्रीजिनेश्वरप्रणीतो मार्ग एव नः प्रमाणम् । दुर्लभनिधिवत् तं धर्मं दृष्ट्वाऽपि येऽधमा जना अमुं न गृह्णन्ति, ते संसार-दुःख-दारिद्र्योपद्रवादिभ्यो न कदापि पारं लभन्ते । अथवा परचिन्तया किं मे प्रयोजनम् ? अहं तु भवत्समीपे चारित्रं ग्रहीष्यामि" । इति गुरुं विज्ञप्य नृपो निजं धाम जगाम। ततः प्रशस्ते मुहूर्त्ते *कनकध्वजं* राज्यपदे *जयसुन्दरं* च यौवराज्ये संस्थाप्य *सुमङ्गलो* नृपतिः सामन्ता-ऽमात्यैः सह महताऽऽडम्बरेण गुरोश्चरणमूले चारु चारित्रं जग्राह ।

अथ राज-युवराजौ राज्यं पालयन्तावपि पित्रात्तां प्रव्रज्यां सदा चित्ते ध्यायतः । तौ गुरुतरभोगान् भुञ्जानौ, खेचरीकिन्नरी-भिर्गीयमानगुणौघौ, भरतार्द्धमहीपतिभिश्च पूज्यमानपदावपि गुरुसंयोगमिच्छतः । गजा-ऽश्व-रथ-रत्नादिसन्दोहेन शोभितावपि शमसागरे निमग्नौ मोहपिशाचेन मनागपि न हि क्षोभितौ । यतः-

अरिशब्दो गतश्चक्रे, कटकं बाहुभूषणे ।
युद्धं मल्लोत्थमास्थाने, शारौ बन्ध-वधौ तदा ॥७॥

अथ कदाचित् *कनकध्वजो* भूपः प्रातः सुप्तोत्थितः मङ्गलपाठकेन प्रोक्तं श्रुतिसुखमिति शुश्राव । यथा -

त्रिजगद्व्यापकं वीक्ष्य, प्रतापं तेऽत्र तस्थुषः ।
स्वामिन्नुदयगिर्यन्तः, सूरस्तिष्ठति लज्जितः ॥८॥

इति श्रुत्वा मेदिनीपतिर्हृदि दध्यौ - 'कियतीयं मेदिनी ? कियती च मम वशेऽस्ति ?' । इति विचिन्त्य दिग्यात्रामनोरथमेवं चकार - "यदि दिग्यात्रा क्रियते, तदा पूर्वपुरुषैः कारितान्

जिनप्रासादादीन् जन्म-दीक्षा-ज्ञान-निर्वाणभूमिषु च विशदान् प्रासादान् वीक्ष्य हर्षभरेण जिनान् वन्दे । महद्भिः कारितान् जीर्णीभूतान् प्रासादान् उद्धरामि, तथा जिनमताऽरीन् वारयामि। श्रमणान् श्रमणोपासकांश्च सम्मानयामि । दीनादीन् दानतः समुद्धरामि" । इति ध्यात्वा नृपेण निजाभिप्रायो जयसुन्दराय लघुबान्धवाय कथितः । तेनाऽप्युक्तम् - "महाराज ! युक्तमेवैतत्। यतः -

कर्मायत्तं फलं पुंसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं, सुविचार्यैव कुर्वता ॥९॥

आलस्य हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महारिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धु-र्यं कृत्वा नाऽवसीदति ॥१०॥

तच्छ्रुत्वा भूपो दिग्यात्राभम्भामवादयत् । शुभेऽहनि *कनकध्वजभूपः* सामन्ता-ऽमात्य-सार्थेशा-ऽन्तःपुर-श्रेष्ठि-पत्तिभिः रथा-ऽश्वेभोष्ट्र-वेसराद्यैश्च सहितोऽचलत् । उच्चेभशिखरः, शस्त्रविद्युत्, तूर्यगर्जितः, छत्राभ्रभृद्, दानाम्बुतोषितयाचकचातक उत्कन्धरेण जनेन सोत्कण्ठं दृश्यमानो नव्यमेघवज्जगत्यां स जगन्मतो व्यचरत्। पार्थिवैः शस्त्र-वस्त्र-रत्ना-ऽश्वेभ-रथादिकैः पूज्यमानो, गिरि-सरिद्-ग्राम-पुरा-ऽऽराम-सरस्सु क्रीडन्, रम्यस्थानेषु तुङ्गानि जिन-चैत्यानि कारयन्, जीर्णानि चैत्यान्युद्धरन्, साधूनर्चयन्, श्रावकांश्च बहुमानयन्, सहस्रशो वर्षाणि भरतं भ्रान्त्वा *पुरुषोत्तम*भूपेनाऽऽहूतः *कनकध्वज*भूपः क्रमेण *साकेतपुर*मगात् । तत्रोद्याने महच्चैत्यं वीक्ष्य हृष्टः पुष्प-हेम-मुक्ता-मणिस्रग्भिर्जिन-मभ्यर्च्य चाऽस्तवीत्-

नमः क्रोधेभसिंहाभ !, नमो मानाद्रिसत्पवे ! ।
नमो मायोरगीमन्त्र !, नमो लोभाब्धिशोषक ! ॥११॥

एवमर्हन्तं स्तुत्वा स निष्क्रान्तो मधुरागमपाठिभिर्मुनिवृन्दैर्वृतं तरोश्चाऽधः स्थितं सूरिमपश्यत् । ततोऽतिहर्षभरेण तत्र गत्वा गुरुं नत्वा जङ्गमतीर्थं जानन् यावत्तत्समीपे स्थितस्तावद् भगवता धर्मदेशना प्रारब्धा -

'भो भव्या ! मनुजत्वादिसामग्रीं लब्ध्वा सदा धर्मे सर्वशक्त्योद्यमः कार्यः । यथाऽसौ वृथा न भवति तथा कार्यम् । यतः -

न्यग्रोधे दुर्लभं पुष्पं, दुर्लभं स्वातिजं पयः ।
दुर्लभं मानुषं जन्म, दुर्लभं देवदर्शनम् ॥१२॥

केऽप्याप्तमपि पुण्येन, तत् प्रमादपरायणाः ।
हारयन्ति नराः सुप्ता, इव चिन्तामणिं करात् ॥१३॥

अनन्तान्यपि रत्नानि, लभ्यन्ते विभवैःसुखम् ।
दुर्लभो रत्नकोट्याऽपि, क्षणोऽपि मनुजायुषः ॥१४॥

आयुषः क्षण एकोऽपि, नाप्यते रत्नकोटिभिः ।
तत्कथं हार्यते हन्त !, प्रमादरजसा नरैः ? ॥१५॥

पूज्यपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः ।
श्रुतं परोपकारश्च, मर्त्यजन्मफलाऽष्टकम् ॥१६॥

अर्थाः पादरजःसमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं,

मानुष्यं जलबिन्दुचञ्चलतरं फेनोपमं जीवितम् ।
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं,
पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाऽग्निना दह्यते ॥१७॥

॥जीवसिद्धिः वर्णनम् ॥

इत्यादिर्गुरुणा धर्मदेशना दत्ता । तस्मिन्नवसरे *पुरुषोत्तम*-नृपस्य पुरोहितः *कपिञ्जलनामा* गुरुं बभाण - "भोः सूरीन्द्र ! जीवसद्भावे सर्वमिदं सत्यं भवति, स च जीवः प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्न ज्ञायते । न चैष जीवो गृहचटक इव प्रवेश-निर्गमौ कुर्वन् दृश्यते, न च शङ्खशब्दवत् श्रूयते, न च तक्रादिद्रव्यवद् रसेन ज्ञायते; अतो नास्ति जीवः, पञ्चभूतान्येव सन्ति । नर-तिर्यक्षु यच्चैतन्यं तत्र भूतपरिणाम एव, गुडादिद्रव्ययुक्तायां सुरायां मदशक्तिवत्" । ततो गुरुः प्रोवाच - "भो भद्र ! जीवाऽभावस्य साधकं प्रमाणं किं विद्यमानम् अविद्यमानं वा ? । यदि विद्यमानं, तर्हि तदाधार आत्मैव । अथाऽविद्यमानमिति द्वितीयः पक्षः, तदा निषेध एव न भवति; निषेधकज्ञानस्यैवाऽभावात् । इति सिद्धो जीवः । तथा ये अन्ध-बधिरादिभिः पदार्थाः साक्षाद् नोपलभ्यन्ते तेऽपि यथा सन्त्येव, तदन्येषां सर्वेषामुपलम्भात्; तथा सदोषैश्छद्मस्थैरनुपलभ्यमानोऽपि जीवाख्यः पदार्थः सर्वथाऽस्त्येवात्र, कैवल्यवतां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। उक्तं च -

अनिन्द्रियगुणं जीव-मग्राह्यं मांसचक्षुषा ।
सिद्धाः पश्यन्ति सर्वज्ञा, ज्ञानसिद्धाश्च योगिनः ॥१८॥

किञ्च, भोः *कपिञ्जल !* यत्त्वया भूतपरिणामोऽङ्गीकृतस्तत्र पृच्छ्यते-भूतानि किं सचेतनानि उताऽचेतनानि?। यदि सचेतनानि तदा सिद्धा एकेन्द्रियादयो जीवाः, इति सिद्धं नः समीहितम् । अथाऽचेतनानि तानि, तर्हि कथम् अचेतनानां तेषां समुदायेऽपि चेतनापरिणामो घटते ? न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्तेषां समुदायेऽपि संभवति, सिकतासमुदाये तैलवत् । न च वाच्यं मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरविद्यमानापि जायते, तेषु प्रत्येकमग्रेऽपि सबलत्वादिको गुणो विद्यमानो दृष्टः" ।

इत्यादियुक्तिभिर्निरस्तः *कपिञ्जलो* मौनं कृत्वा स्थितः । ततः करुणासमुद्रेण भगवता प्रोक्तम् - 'भोः *कपिञ्जल !* स्वभावजस्ते कुबोधो नास्ति, किन्तु निजैः पापैर्जात्यन्धेन दृढमिथ्यात्वधारिणा *केशवाख्येन* मातुलेन त्वं मोहितोऽसि। यतः -

[1]मोहंधयारपडिया, पाविउकामा दुरंतदुक्खाइं ।
नट्ठा नासंति परे, तुच्छा मिच्छोवएसेहिं ॥१९॥

तन्निशम्य सवितर्कः *पुरुषोत्तम*भूपतिर्गुरुं प्रत्याह - 'हे भगवन् ! तेन *केशवेन* पूर्वजन्मनि किं कृतं येनेदृशं फलं प्राप्तम्?'। ततो गुरुणा गदितम् -

॥ केशव-कथानकम् ॥

'*वसन्तपुरे* नगरे *वीराङ्गद*नामा नृपोऽभूत्, यो मृगाङ्कवद् गुणाढ्योऽपि पापर्द्धिकलङ्कवान् । कदाचिदसौ तन्निमित्तं पुरासन्ने-

1. मोहान्धकारपतिताः, प्राप्तुकामा दुरन्तदुःखानि ।
नष्टा नाशयन्ति परान्, तुच्छा मिथ्योपदेशैः ॥

ऽरण्ये गतः । तत्र केषाञ्चित् प्राणिनां पृष्ठतो हयारूढो द्रुतं धावति । धावतः स्खलतः पततश्च प्राणिनो बाणैस्ताडयन् भृत्योक्तं साधुकारं च श्रुत्वा रोमाञ्चितोऽभवत् । एवं गिरिवने लीनमेकं शूकरबालकं दृष्ट्वा धनुराकृष्य स बाणं मुमोच । तत्पृष्ठे गच्छन् यावदग्रे व्यलोकयत् तावद् ध्यानस्थितसाधुपदान्तरे तं बाणं पतितं प्रैक्षत, न पुनस्तं शूकरं ददर्श । तदा सम्भ्रान्तचित्तो नृपतिश्चिन्तितवान्- 'महापापोऽहम्, यदि मुनेर्घातोऽलगिष्यत् तर्हि घोरातिघोरनरकेऽपि मे स्थानं नाऽभविष्यत्' । इति ध्यायन् साध्वङ्घ्र्योः पतित्वा इत्यक्षमयत् - 'हे कारुण्यामृतकूपार ! हे त्रिजगज्जनवत्सल! त्वाममत्वा मया [1]कोलवधार्थिना बाणो निक्षिप्तः, परं हे मुने ! भवत्प्रभावाद् वधपातकान्मुक्तोऽहं, पतितो नाऽयशःपथे, तत् प्रसीद प्रसीद । हे मुने ! अमुं पापिनं मानय मानय, यतः *सन्तो ज्ञाततत्त्वाः क्षमापरा भवन्ति ।* किं बहुना ? मया स्वात्मा तवाऽङ्के क्षिप्तः, ततः स्वोचितं कुरु' । इति ब्रुवन् ध्यानधरान्मुनेरुत्तरमप्राप्य भीतः सन् पुनराह भूपतिः - "हे भगवान् ! वसन्तपुरेश्वरं मां किं न वेत्सि ? । अकुर्वन्ननुकम्पां मे हे प्रभो ! प्रकम्पं कुरुषे, यतस्त्वादृशाः क्षणात् तेजसा तृणवल्लोकं दहन्ति, शापेनाऽमरेश्वरमपि स्वर्गसंसर्गाद् भ्रंशयन्ति । हे भगवन् ! यावद् यूयं दयालवस्तावदयं जीवो जीवति । हे मुनीन्दो ! चेत् क्षमाज्योत्स्नया मामधुना न प्रीणासि, तदा कृतापराधोऽहं न जीवामि इति निर्णयः" । इति चाटुवचनरचनापटुर्भूपः पूर्णध्यानेन साधुना भणितः - "हे भूपते ! भयं मा भज, यत *ऋषयो रोषणा न हि ।* कृतापराधेऽपि

1. कोलः शूकरः ।

साधूनां कोपो न भवेत्, तर्हि कृतपश्चात्तापे त्वयि तु कथं मम क्रोधः स्यात् ? । परं किञ्चिद् हितोपदेशं शृणु। भोगाः संयोगाश्च चञ्चलाः । यौवनं जीवितव्यं च करिकर्णवच्चपलं मत्वा पापेषु रतिः कर्तुं नोचिता । यतः -

दुग्धं न लकुटाघातं, मुग्धो मार्जार ईक्षते ।
पापासक्तो जनोऽप्येवं, न वेत्ति नरकापदम् ॥२०॥

गतानां कुगतौ भूयो, दुर्लभं नृत्यमुत्तमम् ।
पतितं सागरेऽगाधे, सद्रत्नं लभ्यते किमु ? ॥२१॥

गलत्यायुः सदा घोरो, मृत्युर्धावति राक्षसः ।
पापप्रसङ्गमुज्झित्वा, ततो धर्मे मतिं कुरु ॥२२॥

नरकाद्यापदां मूलं, प्रतिकूलं शिवश्रियः ।
दुःखानुबन्धं सर्वेषां, मा कुरु प्राणिनां वधम् ॥२३॥

प्राणिनां ये प्रियप्राणान्, पीडयन्त्यात्महेतवे ।
जीविताय विषं घोरं, निर्विलम्बं पिबन्ति ते ॥२४॥

ये तु पुत्र-कलत्राद्याः, पोष्यन्ते पापकर्मभिः ।
इहाऽमुत्र च दुःस्थस्य, त्राणाय न भवन्ति ते ॥२५॥

तिष्ठन्तु स्वजना देहः, पालितो योऽशनादिना ।
मृत्यौ विघटते सोऽपि, समरेऽधमभृत्यवत् ॥२६॥

ततः श्रीधर्मराजेन्द्रं, विद्रुतोपद्रवं भज ।
स्वनाशेऽप्यात्मभक्तस्य, दत्तेऽनन्तसुखानि यः ॥२७॥

श्रुत्येति दलितग्रन्थि-रपूर्वकरणाऽसिना ।
प्रबुद्धः सत्परीणामो, मुदा वीराङ्गदोऽवदत् - ॥२८॥

त्वया ह्यनुगृहीतोऽहं, देशनामृतदानतः ।
भगवन्नधुना देहि, गेहिधर्मं ममोचितम् ॥२९॥

ततो गुरुरपि सम्यक्त्वमूलं द्वादशव्रतरूपं गृहस्थधर्मं प्रोक्तवान् । नृपोऽपि यथाशक्ति तमादाय स्वगृहं गतः । धर्मं च कुर्वन् राजा क्रमेण शुद्धः श्रावकोऽजनि ।

तत्र पुरे *जिनप्रिय*नामाऽधिगतजीवाजीवादितत्त्वः कुग्रहविमुक्तो विमलबोधो मार्गानुसारी च श्राद्धोऽभूत् । स च प्रतिदिनमागत्य राज्ञो धर्मस्थिरीकरणार्थं निरन्तरं तस्योपबृंहणां करोति, साधुगुणांश्च वर्णयति । राजाऽपि तं बहु मन्यते, धर्मगुरोर्धिया तं वेत्ति । सामायिकं पौषधं जिनपूजादिकं च तस्य साहाय्येन निर्दोषं करोति । अथ तस्मिन्नेव नगरे गतधन-स्वजनः, श्रावक-निश्रया प्रतिपन्नद्रव्यधर्मोऽलब्धभावसम्यक्त्व आजीविकाहेतो-रङ्गीकृतधर्मो *मोहना*भिधानः कोऽपि पुरुषोऽस्ति । तेनैकदा *जिनप्रियाग्रे* कथितम् - 'भोः सत्पुरुष ! राज्ञो मां दर्शय, यथा तन्निश्रया निश्चिन्तो यथेप्सितं धर्मं कुर्वे' । ततः श्राद्धहितेन जिनप्रियेणोक्ते सति भूभुजा स भृशं स्वीकृतः, जिनपूजादौ नियुक्तः, क्रमेण च सर्वलोकमतोऽप्यभूत् । अथाऽन्यदा धर्मजागरिकां जाग्रद् भववासतो निर्विण्णो नृपो *वीरसेन*कुमारं राज्ययोग्यं मत्वा *मोहनं* प्रोवाच - 'हे भद्र ! गुणोत्तरं कमपि धर्माचार्यं विलोकय, यथा तत्समीपे परलोकहितं व्रतं गृह्णामि । तत्सेवनया च संसारा-

म्बुधेरात्मानं तारयाम्यहम्' । 'एवं भवतु' इति कथयित्वा चिन्तितं मोहनेन - 'नैनं विना वस्त्राद्याजीविका मम' इति ध्यात्वा एकदाऽवसरं लब्ध्वा भावसारमिवाऽभ्यधात् - "हे देव ! मया स्वतोऽन्यतश्च व्यलोकि गुरुः, परं तथाविधो गुणैर्गुरुः कोऽपि गुरुर्न दृष्टो, यं यानपात्रमिवासाद्य जनैर्भवाब्धिस्तीर्यते । यतश्चरणम् अतिदुश्चरम्, ध्वजाऽञ्चलवच्चञ्चलं मनः, अक्षाणि विषयाभिलाषुकाणि, प्रमादोऽपि खलु दुस्त्यजः, अष्टादशसहस्रशीलाङ्गानि च कातरैर्धर्तुं नैव शक्यन्ते, तानि तु जितेन्द्रियैर्महर्षिभिः पालितानि । श्रुते हि एकस्मिन् शीलाभावे सर्वेषां व्रतानामभावो वर्णितः । व्रतविराधनाद् अनन्तभवभ्रमणं जायते । ततो हे राजन् ! अधुना तु पुण्यवासो गृहवासः, यत्र दान-शील-तपो-भावैधर्मः सुसेव्यते । अहमपि संसाराद् भग्नोऽस्मि, परं तादृशं गुरुमलब्ध्वा व्रतभावनां भावयन् गृहस्थभावे वर्त्तमानोऽस्मि । हे राजन् ! तुङ्गशृङ्गात्पर्वतात् स्खलितस्य यादृशी वेदना भवति, मञ्चतः पतितस्य तादृशी नैव जायते" । तच्छ्रुत्वा नृपो दध्यौ - 'व्रतभीत्या अयं *मोहन* एकान्तेन व्रतमुत्थापयति, परमेतल्लोके लोकोत्तरे च विरुद्धम् । यतो विघ्नं विचार्येत तदा कृषि-द्विड्जय-वाणिज्य-गत्यागत्यादिकाः क्रिया लोकैः कदा क्रियेरन् ?, लोकोत्तरेऽपि मार्गे प्रमादैर्विघ्नचिन्तनात् शिवाऽभावः स्यात् । यतिधर्मश्च सर्वत्र शिवसाधनः प्रसिद्धः । अथवाऽमुना सह विवादेन किम् ? *जिनप्रियं* पृच्छामि" । इति ध्यात्वा तमाहूय प्रोवाच *मोहनोक्तं* निजाशयं च । ततो *मोहन*मुद्दिश्य *जिनप्रियो* जजल्प - "त्वं *मोहनो*ऽसि तत्सत्यं, यत ईदृशं नृपं मोहयसि । परं शृणु-साहसवतां पुरुषाणां चञ्चलमपि चित्तं किं

कुर्यात् ?, दुर्जयः करणवर्गोऽपि तेषां किं कुर्वीत ? प्रमादोऽपि तेषां कथं पराभवं कुर्यात् ? । स्वाध्याय-ध्यान-तपस्सु स्थितानां, गुरुवचन-विनयनिरतानां, भवभ्रमणभीतानामनगाराणां पापेषु चित्तं कदापि न चलति, अष्टादशसहस्रशीलाङ्गरथभारोद्वहनसमर्थो मुनिवृषभोऽर्द्धपथे कदापि संयमरथं न मुञ्चति । कदाचित् कोऽपि कर्मदोषात् शिवाध्वनि गच्छंश्चेत् स्खलेत्, ततस्तत्राऽन्येषां प्रवृत्तिः किं नोचिता ? । कस्यापि प्रमादिनश्चेद् वारिधौ प्रवहणं भग्नम्; ततस्तत्र किमन्येनापि धनार्थिना न गन्तव्यम् ? । चेत्कदाचित् कोऽपि ज्वरजर्जरो भृशं घृतं भुक्त्वा मृतः, एतावता सर्वैरपि निरामयैः किं घृतं न भोक्तव्यम् ? । तथाऽद्रिशृङ्गपातस्य न्यायोऽपि संयमपतितानां दातुमुचितः, परन्तु संयमोद्यमिनां तूपबृंहणं कर्तुं युज्यते । यतः -

यः पापी पातयत्यन्यं, चारित्रात् चित्तयुक्तिभिः ।
स स्यान्नरक-तिर्यक्षु, दुःखलक्षस्य भाजनम् ॥३०॥

तथा यत्त्वयोक्तम्-भवाब्धेस्तारकोऽधुना कोऽपि गुरुर्न दृश्यते, तत्तु सद्भूतनिह्नवात् ते छन्नं मिथ्यात्वं लक्ष्यते। यतः सर्वसङ्गविमुक्ताः, पञ्चमहाव्रतधरणधीराः, पञ्चसमितिसमिताः, त्रिगुप्तियुताः, ज्ञान-ध्यान-तपोलीना दृश्यन्ते गुरवः स्फुटम् । हे मिथ्यादृक् ! त्वत्सदृशा जगद्व्यक्तमपि यतिवर्गं न हि पश्यन्ति, अथवा जात्यन्धो विद्यमानमपि घटादिकं न पश्यति । भोः तुच्छमते! निर्ग्रन्थ-स्नातक-पुलाक-बकुश-कुशीलाभिधैः पञ्चभिर्निर्ग्रन्थैस्तीर्थं तिष्ठतीति न जानीषे। यदुक्तमागमे -

निग्गंथ[1]-सिणायाणं, पुलागसहियाण तिण्ह वुच्छेओ ।
समणा बकुस-कुसीला, जा तित्थं ताव होहिंति ॥३१॥

ततो हे *मोहन* ! यदि भीमे भवारण्ये भ्रमितुं न वाञ्छसि, तदा दुर्भाषितपदं सम्यक् प्रकारेण प्रतिक्रम"। इति हेतुवादकृतोत्तरः स *जिनप्रियेणो*क्तः, तथापि तेन *मोहनेन* दुष्कृतं किमपि नाऽऽ-लोचितम् । ततो 'धर्मायोग्योऽयम्' इति ज्ञात्वा *जिनप्रियेणा*पि मुक्तः । भणितश्च नृपः - "धन्यस्त्वं भो महाराज ! यद् इच्छसि निर्ग्रन्थचर्याम् । हे स्वामिन्! ईदृग्मनोरथो वितन्द्राणाम् एव जायते, ततो हे देव ! गुरुपादाऽनुभावतस्ते मनोरथः सफलोऽस्तु । हे देव! अत्राऽहं सहायोऽस्मि । गतघस्रे भवदीयनगरोद्याने जगत्त्राता शान्तो दान्तः *श्रीजयकान्त*मुनीश्वरः समागतोऽस्ति । हे स्वामिन्! तदन्तिके गत्वा स्वसमीहितं साधयावः" । इति निशम्य नृपो मुदितस्तत्र गुरुं नन्तुं गतः । गुरुणाऽपि धर्मदेशना दत्ता । यथा -

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मलमलिनवपुः स्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥३२॥

निर्द्रव्यो धनचिन्तया धनपतिस्तद्रक्षणैराकुलो,
निःस्त्रीकस्तदुपायचिन्तनपरः स्त्रीमानपत्येच्छया ।
प्राप्तापत्यपरिग्रहोऽपि सततं रोगैरभिद्रूयते,

1. निर्ग्रन्थ-स्नातानां, पुलाकसहितानां त्रयाणां व्युच्छेदः ।
श्रमणा बकुश-कुशीला, यावत्तीर्थं तावद् भविष्यन्ति ।

तस्मान्मुक्तिपथं विहाय भुवने को नाम किं सुस्थितः ? ॥३३॥

सुखित्वे कामललितै-र्दुःखित्वे दैन्यरोदनैः ।
नयन्ति जन्म मोहान्धा, धर्मकर्मभिरुत्तमाः ॥३४॥

इति लोकस्याऽसारतां श्रुत्वा प्रेम्णोऽप्यपरमार्थतां विचिन्त्य, जीवितादेरप्यनित्यतां ज्ञात्वा, मोक्षैकसाधनोत्सुको नृपतिः शुभे दिने *वीरसेन*कुमारस्य राज्यं दत्त्वा, *जिनप्रियेण* कान्ताभिः मन्त्रि-सामन्त-श्रेष्ठ्यादिभिश्च समं श्रीगुरुसमीपे चारु चारित्रमङ्गीचकार। क्रमेणैकादशाङ्गानि पठित्वा मुनीनां वैयावृत्त्यं करोति । ततो दशधा बहुधा वैयावृत्त्यं कुर्वन्नसौ पुण्यप्राग्भारमार्जयत् । षष्ठा-ऽष्टमादिविकृष्टतपसा बहूनि कर्माणि क्षपयित्वा समाधियोगेना-ऽनशनविधिना कालं कृत्वा शुक्रकल्पेन्द्रोऽभूत् । *जिनप्रियोऽपि* तत्रैव तस्य सामानिकदेवो महर्द्धिको जातः ।

अथ *मोहनस्तु* ततःप्रभृति भृशं साधुद्रोहणो जातः । सोऽभिनिवेशवान् पौषधा-ऽऽवश्यकच्छलाद् उपाश्रये गत्वा साधुसूक्ष्मच्छिद्रगवेषकश्चालनीतुल्यो भूत्वा लोकाग्रे साधूनां गुणान् पिधाय दोषानेव प्रकाशयति । यथा - 'एष साधुर्हि मुखे मुखपटी-मदत्त्वा भाषते, रात्रौ करे दण्डासनमकृत्वा एष साधुर्व्रजति, दिवसेऽमुना निद्रा कृता, अमुकेन साधुना विकथा कृता, नोपोषि-तोऽयं पर्वाह्नि, शुद्धं सूत्रं चामुना न वाचितं, स्वाध्यायो न कृतोऽमुना'। एवमनगाराणामवर्णवादं जल्पन्, मुग्धात्मनो दानश्रद्धालूंश्च व्युद्ग्राहयन्, मुखपाकरोगेण मृत्वा *विन्ध्याचला*ऽटव्यां हस्तित्वेन समुत्पन्नः । वनचरैश्च गृहीतः । तैर्हस्तिग्राहकवणिजो मूल्येन दत्तः।

तेनाऽपि मथुरापतेरर्पितः । 'शूरोऽयम्' इति ज्ञात्वा राज्ञा विषमे रणे नियुक्तः, परं पूर्वभवाऽभ्यासाद् यतिविद्वेषी अभूत्। अन्यदाऽत्यासन्नवने साधूनां स्वाध्यायध्वनिमाकर्ण्य क्रोधान्ध आलानं भङ्क्त्वा साधूनां हननार्थं धावन् पतितो गर्त्तायाम् । सोऽङ्गभारेण भग्नदेहो नृपपुरुषैर्मुक्ताफलार्थं विदारितकुम्भस्थल आर्त्तध्यानपरो मृत्वा गतो रत्नप्रभायाम् । तत्राऽप्यशुभवेदनामनुभूय तदुद्धृतः श्येनपक्षी जातः। सोऽपि बहूनि पापानि कृत्वा मृत्वा वालुकाप्रभामगात् । ततो निर्गत्य सिंहोऽजनि । स सिंहः पापानि कृत्वा पङ्कप्रभां गतः । तत्र दुरन्तां वेदनां भुक्त्वा तत उद्धृत्य *धनपुरे* नगरे *कामदत्त*वणिग्गृहे *चन्द्रदत्ता*भार्योदरे सुतत्वेन समुत्पन्नः। क्रमेण पित्रा तस्य *सुमित्रेति* नाम दत्तम् ।

अस्मिन्नवसरे *जिनप्रिय*देवजीवः सप्तमदेवलोकात् च्युत्वा तत्रैव पुरे *विनयन्धरे*भ्यभार्याया *गुणवत्याः* सुतोऽभवत्। *गुणधरेति* सन्नामा स क्रमेण रामाजनमनोहरं पावनं यौवनं प्राप्तः । अथान्यदा तस्य पूर्वभवाऽभ्यासतः *सुमित्रे* सत्या प्रीतिरभूत्, किन्तु अपरस्य तु कैतवात् स्नेहः । द्वावप्येकत्र खेलतः । *सुमित्रो* निर्धनत्वेन तुच्छवेषेण भृशं लज्जते, तथापि *गुणधरो* विशेषादेनं मानयति । अथान्येद्युः स्वकर्मवशतः पित्रोः पञ्चत्वमाप्तयोः स *सुमित्रो* दारिद्र्यदुःखितः सर्वैरप्यवहेलितः । यतः -

निर्द्रव्यो ह्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो,
निस्तेजाः परिभूयते परिभयान्निर्वेदमागच्छति ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकसहितो बुद्धेः परिभ्रश्यते,

निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो! निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥३५॥

पुनश्चिन्तितं *सुमित्रेण* -

जीवन्तो मृतकाः पञ्च, श्रूयन्ते किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः, प्रवासी नित्यसेवकः ॥३६॥

एवं विमृश्य *सुमित्रो गुणधरं* विविधदेशजां वार्त्तां पृच्छति। ततस्तं विदेशगमनोत्सुकं ज्ञात्वा *गुणधर*श्चित्ते दध्यौ- "निर्धनत्वेन स्वजनवर्गे लज्जतेऽसौ । यतः -

वरं वनं व्याघ्रगणैर्निषेवितं,
द्रुमालये पत्र-फलैश्च भोजनम् ।
तृणैश्च शय्या वसनं च वल्कलं,
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ॥३७॥

इति दुःखाग्नितप्तेन विदेशं च यियासुना मम मित्रेण नूनं चेतसि इदं सुभाषितं स्मृतम् -

[1]पुरिसेण माणधणवज्जिएण अच्चंतझीणविहवेण ।
ते देसा गंतव्वा, जत्थ सवासा न दीसंति ॥३८॥

परं लोके तु लज्जनं मे, यन्मे सुहृत् सीदति । एतच्च न शोभनं, यतो रत्नाकरसेविनः किं दारिद्र्योपद्रवः कदापि स्यात् ?। अथ वित्ते दत्ते ज्ञातवृत्ता मम पित्रादयो विरज्यन्ति, *सुमित्रो*ऽपि लघुताभिया मद्दत्तं वित्तं न ग्रहीष्यति, ततो विदेशे गत्वा अस्य

1. पुरुषेण मानधनवर्जितेन अत्यन्तक्षीणविभवेन ।
ते देशा गन्तव्या, यत्र स्ववासा न दृश्यन्ते ।

धनार्जने सहायः स्याम् । एवं च कृते एष मम सुहृद् उद्धृतः स्यात्, मम च पित्रादयोऽपि न विरज्येरन्" । इति ध्यात्वा *गुणधरस्तं* प्रति प्राह - 'हे मित्र ! मे धनार्जने महत्कौतुकं, चेत्त्वं सहायो भवसि तर्हि विदेशे गम्यते'। तन्निशम्य *सुमित्रेण* चिन्तितम्- 'अहो ! भव्यमिदं जातं यदेतदर्जितं धनं सर्वमप्यहं मायया ग्रहीष्यामि'। इति ध्यात्वा स्वीकृतममुना ।

ततो *गुणधरो*ऽपि कथञ्चित् पितरौ पृष्ट्वा क्रयाणकैः शकटानि भृत्वा *सुमित्रं* सहायकं कृत्वा भव्यमुहूर्तेऽचलत्। निरन्तरप्रयाणकैर्विविधान् देशानुल्लङ्घ्य क्रमेणैकस्यामटव्यां सार्थेनोत्तारकः कृतः । वनश्रीविलोकनार्थं तौ द्वौ कौतुकाद् गतौ, घनच्छायस्य चोदुम्बरतरोरधः स्थितौ । तद्भूरुहस्य शोभां दृष्ट्वा तुष्टो *गुणधरः* श्लोकमेकं पपाठ -

किमुदुम्बर ! तुल्यस्ते, सच्छायोऽपि तरुः परः ।
पथिकानां यतो दत्से, मूलतः फलसंपदम् ॥३९॥

तदा *सुमित्रः* प्राह - 'अहो ! सज्जनगोष्ठीवच्छायाऽस्यास्ति सुशीतला, ततो विश्रम्यते किञ्चित्' । इति जल्पता तेन पल्लवैः शय्या विरचिता । तदाग्रहाद् *गुणधर*स्तत्र सुप्तः । ततः *सुमित्रेण* पत्रशाखया वीजितः । मार्गश्रमेण *गुणधरस्य* निद्रा समागता । तस्मिन्नवसरे *सुमित्रस्तु* कुमित्रवद् स्वकीयमवसरं प्राप्य अश्वौ गृहीत्वा पलायितः । सार्थे चागत्य 'भिल्लै*र्गुणधरो*ऽग्राहि, ततो नश्यत नश्यत' इति ब्रुवताऽनेन तत्क्षणं तस्माद् वनात् सार्थो-ऽन्यपथि प्रेरितः । परिवारं च प्रतार्य कपटशोकं कुर्वाणेन *सुमित्रेण*

भाण्डस्वामित्वमादाय हर्षभरपूरितेन चिन्तितम्-

[1]अवलोइओ म्हि अज्जं, नूणं विहिणा सिणिद्धदिट्ठीए ।
आलिंगिओ म्हि कमला-लयाए देवीए जं एवं ॥४०॥

अथ द्वितीये दिने मध्याह्नकाले तत्पातकप्रेरितो धूम्रपूर्णाभ्रपटलो दावानल उत्थितः । तदा सार्थोऽपि कृतपूत्कारो विगताशः पलायितः । दवाग्निना सभाण्डानि शकटानि दग्धानि। 'निर्भाग्योऽयम्' इति ज्ञात्वा भृतकैः *सुमित्र*स्त्यक्तः। तदा *सुमित्रो* दिग्मूढः क्षुत्तृषार्त्ताङ्गः क्वचिद् गिरिगह्वरे प्रविष्टः, तत्र स्थितैर्भिल्लैरेष गृहीत्वाऽऽर्द्रचर्मणा वेष्टितः । ततो ज्ञाततत्त्वैर्भिल्लैस्तृतीये घस्रे मुक्तः । महाकष्टेन क्रमेण वासभुवं गतः ।

इतश्च मृगयागतेन *शेखरा*भिधानेन पल्लीपतिना सुप्तो *गुणधरो* वासरान्ते वीक्षितः । तेनोत्थाप्य प्रवृत्तिः पृष्टा । एषोऽपि यथास्थितमवदत् । अकथयच्च - 'मम मित्रं *सुमित्रः* क्व गतः ? भोः पल्लीपते ! भवद्भिः कुत्रापि दृष्टः ? मम सार्थो वा भवद्भिर्दृष्टः?'। ततः पल्लीपतिना भणितम् - 'मया तु नैक्षि, परं भृत्यैस्त्वन्मित्रस्य सार्थस्य च वार्ता लप्स्यते, अतस्तावत्समयं मम गृहे एहि' । इति जल्पता पल्लीशेन स निजां पल्लीं नीतः, सत्कारपूर्वकं च स्नान-भोजनादिकं कारितः । ततः पल्लीशेन सुमित्र-सार्थयोः शोधनार्थं निजभृत्या आदिष्टाः, रात्रिश्च *गुणधरेण* सह सुगोष्ठीभिरतिवाहिता। अथ प्रातः पल्लीपतिनियुक्तैर्नरैरागत्य प्रोक्तम् - 'हे प्रभो !

1. अवलोकितोऽस्मि अद्य, नूनं विधिना स्निग्धदृष्ट्या ।
आलिङ्गितोऽस्मि कमला-लयया (लक्ष्म्या) देव्या यदेवम् ॥

अस्माभिर्वने सर्वत्र भ्राम्यद्भिः स सार्थो नाऽलभ्यत, न च तादृशः कोऽप्युत्तमो नरो दृष्टः' । तच्छ्रुत्वा सम्भ्रान्तो विह्वलश्च *गुणधरः* पल्लीपतिना प्रोक्तः - 'हे वत्स ! विषादं मा कुरु, यतः सत्त्वेन श्रियः स्युः । उक्तं च -

व्यसनागमे न दैन्यं, बहुतरलक्ष्म्यापि नो मदो यस्य ।
तस्य गृहे वसति रमा, यस्य हृदि साहसं बहुलम् ॥४१॥

अन्यच्च, सार्थो गिरिं परितो भ्रान्त्वा *वीरपुरे* गन्ता, त्वां त्वहं पदमार्गेण तत्र शीघ्रं प्रापयिष्यामि, अतो विषादं त्यज' । *गुणधरो*ऽवदत् - 'हे बन्धो ! त्वय्यकारणवत्सले मम विषादस्य कोऽवकाशः स्यात् ? । यतः -

[1]संसारविसमविसपायवस्स अमयफलाइं एआइं ।
अगुंठियगेहं सुयणसंगमो अवसरे पढियं ॥४२॥

ततः पल्लीशेनोक्तम् - 'वनवासिनामस्माकं कीदृक् सौजन्यम् ?' । कुमारेणोक्तम् - 'सर्पशिरोवासी किं न स्याद् विषहृन्मणिः ?' । एवं स्नेहालापैः कांश्चिद्दिनान् धृत्वा सहस्र वेधरसयुक्तुम्बं दत्त्वा स विसर्जितः । कथितं च - 'भोः कुमार ! त्वमर्थार्थी, ततः सत्यमिमं रसं लाहि । अनेन सिक्तानां ताम्रादीनां सुवर्णता सुखेन भवेत् । कदाचित् सार्थो न मिलेत्, तदा रसात् स्वर्णं विधाय सार्थो विधेयः' । इत्युक्त्वा स्वैर्भृत्यैः सह तेन पल्लीपतिनो *गुणधरः* प्रैषि । सोऽपि पल्लीपतेः सौजन्यं स्नेहं

1. संसारविषमविषपादपस्य अमृतफलानि एतानि ।
अगुण्ठितगेहं सुजनसङ्गमोऽवसरे पठितम् ॥

परोपकारितां च भृशं स्मरन् क्रमेण *वीरपुरं* प्राप्तः । तत्र *जीर्णनाम्नो* वणिजो गृहे सार्थविलोकनतत्परः सुखेन तिष्ठति ।

अन्यदा क्षुधाक्लिन्नदेहो, दुर्दृश्योत्तंसतां प्राप्तः, शुष्करुधिर-मांसो भिक्षया परिभ्रमन् *सुमित्रो गुणधरस्य* मिलितः, परं तेन नोपलक्षितः । ततः *सुमित्रो* 'नैनं विना मम गतिः' इति ध्यायन् कपटप्रेम दर्शयन् रुदंश्च तस्य गले विलग्नः, तदा स्वरात्तेनोपलक्षितः। द्रुतमाश्वास्य पृष्टश्च स धूर्त्तः कल्पनां कृत्वा *गुणधरं* प्रोवाच - "हे मित्र ! त्वयि स्वापमुपेयुषि सार्थिकैलोकैः पूच्चक्रे, तदा च निद्राभङ्गभयादहं त्वामनुत्थाप्य धावितः । तत्र सार्थभाण्डानि मुष्णतीं भिल्लधाटीं निरीक्ष्य रुषा तया सार्द्धं सुभटान्वितो युद्धं कर्तुं प्रवृत्तः । लग्नं परस्परं युद्धम् । तत्र दुष्टैर्भिल्लैरस्मत्सुभटाः पातिताः, अहं च गृहीतः, तदा सार्थलोको दिशोदिशं नष्टः । ततस्ते भिल्लाः सर्वस्वं मां च गृहीत्वा निजपल्ल्यामागताः, उन्मत्तैश्च तैः स्वपल्ल्यामुत्सवः कर्तुं प्रारब्धः । तदा तत्र पल्ल्यां तद्वैरिधाटी समागता, लग्नं परस्परमायोधनम् । तदा च नंष्टुमवसरं प्राप्य युक्त्याऽहं त्वरितं जीवग्राहं पलायितः, क्षुधाक्रान्तश्च त्वां वने वने शोधयन् क्रमेणाऽत्रागतः दिष्ट्या च दृष्टो भवानत्र । हे भ्रातः ! गेहे सुखं वसंस्त्वं मया क्लेशे पातितः, परं यज्जीवन् संमिलितस्तत् सुन्दरं जातम्" । इति ब्रुवन् *गुणधरेण* स्वोत्तरे समानीतः । भोजनं कारितम् । तदनन्तरं सर्वः स्वकीयो वृत्तान्तो रसतुम्बप्राप्ति-पर्यन्तस्तस्याग्रे प्रतिपादितः । सरलस्वभावेन तेन पुनरप्युक्तम् - 'भोः *सुमित्र* ! मा विषादं कुरु, रसेन सविशेषकं भाण्डाद्यावां

करिष्यावः' । तन्निशम्य कपटनाटककरणपटुः *सुमित्रो*ऽवक् - 'भाण्डाद्याडम्बरेणाऽलं, सतुम्बकौ गृहे यावः' । *गुणधरे*णोक्तम् - 'महाडम्बरं विना स्वदेशे यातुं लज्जायते मे मनः' । *सुमित्र* उवाच- 'यद्येवं तर्हि तुम्बक-मत्रैव मुक्त्वा निजेच्छया दिशो विलोक्यन्ते, यतः पुनर्गेहान्निर्गमो दुर्लभः । उक्तं च -

माय[1]-पिय-पुत्त-भइणी-भज्जा-धूया य बंधव-मित्ता ।
लहुडिंभनेहनडिया, न गंतु सक्का विदेसम्मि ॥४३॥

इति मित्राग्रहाद् विदेशगमनमङ्गीकृत्य तत्तुम्बं *जीर्णव*णिग्गेहे न्यस्य ससुहृत् पुरान्निर्गतः । मार्गे गच्छन् *सुमित्रो गुणधरस्य* मारणार्थमुपायान् गवेषयति, परं कमप्युपायमप्राप्नुवन् अवक् - 'हे मित्र ! *ताम्रलिप्त्यां* यावः, महाब्धिं लङ्घयावः' । तदा तद्वचनं *गुणधरेण* प्रतिपन्नम् । मार्गे गच्छन् *सुमित्र*श्चिन्तयति - 'जीवत्यस्मिन् ममेदं रसतुम्बकं स्थिरं न स्यात्' । अहो ! खलानां प्रकृतिः । यतः -

मुखे मिष्टा हृदि दुष्टा, वाचा चन्दनशीतला ।
हृदयं कर्त्तरीतुल्यं, एतद् धूर्त्तस्य लक्षणम् ॥४४॥

[2]परवसणहरिसियमणा, मुहमहुरा पिट्ठओ भसणसीला ।
बहवे उवहासपरा, कलिकाले दुज्जणसहावा ॥४५॥

---

1. मातृ-पितृ-पुत्र-भगिनी-भार्या-दुहितॄणां च बान्धवमित्राणाम् ।
लघुडिम्भानां स्नेहनटिता, न गन्तुं शक्ता विदेशे ॥
2. परव्यसनहर्षितमनसो, मुखमधुराः पृष्ठतो भषणशीलाः ।
बहव उपहासपराः, कलिकाले दुर्जनस्वभावाः ॥

'धनं विना किं करिष्यावः ? इति मे चिन्ता, नोल्लङ्घ्या वा ते प्रार्थना' एवं भणन् *गुणधर*स्तेन सह क्रमेण *ताम्रलिप्तीं* पुरीं गतः । तस्मिन्नवसरे *कटाह*द्वीपतो वाहनानि समेतानि । तत्र तौ कौतुकेन विलोकनार्थं गतौ । सदाकारं *गुणधरं* दृष्ट्वा पोतेशेन बहु मानितः । कथितं च - 'भोः श्रेष्ठिन् ! भाण्डानि त्वं लाहि' । अथ *गुणधरेण* स्वेच्छया भाण्डानि प्रतिपन्नानि । ततो *गुणधरेण* कथितम् - 'भाण्डेश्वरोऽहं, मूल्येश्वराः पुनर्यूयम्' । तेनैवमुक्ते शौल्किका वणिजश्च समागताः । पृष्टं च तैः - 'कोऽत्र स्वामी ?'। ततः पोतेशेन *गुणधरो* दर्शितः । वणिग्भिरपि क्रयाणकानि वीक्ष्य शुल्कयुतं मूल्यं कृतं, गृहीतानि क्रयाणकानि । लाभे कोटिर्दीनारा लब्धा *गुणधरेण* । तदा 'समुद्रस्तुष्टोऽद्य मे' इति विमृश्य *गुणधर*स्तान् *सुमित्राय* ददौ । तथाप्यसन्तुष्टो लोभार्त्तः स *गुणधरं* कथयामास - 'हे सखे ! क्रयाणकानि गृहीत्वा *चीनद्वीपं* यावः'। इति श्रुत्वा चिन्तितं *गुणधरेण* - अहो ! इयताऽपि धनेनाऽस्येच्छा न निवर्त्तते, ततो मयाऽस्य इच्छाधिकद्रव्याप्तिः कार्या' । इति विचिन्त्य स *चीनद्वीप*योग्यानि क्रयाणकानि गृहीत्वा *सुमित्रेण* सह पोते चटितः । क्रमेण *चीनद्वीप*मुभौ गतौ, बहुलाभं च प्राप्तौ । प्रतिभाण्डानि गृहीत्वा ततो वलितौ । जलधौ लङ्घितप्राये *सुमित्रेण* चिन्तितम् - 'यदा रात्रौ *गुणधरः* कायिकायै यानपर्यन्ते स्थास्यति तदा तं समुद्रे पातयिष्यामि, सर्वविभवविभुश्चाऽहं भविष्यामि' । इति चित्ते निश्चित्य स पापः सुप्तजागरः शय्यायां संस्थितः ।

अथ मध्यरात्रे तनुचिन्ताकृते उत्थितं *गुणधरं* निरीक्ष्य

*सुमित्रो*ऽप्युत्थाय शनैस्तत्समीपे गत्वा यावत्तं समुद्रे क्षिपति तावत् पादस्खलनात् स एव वार्धौ पतितः, यतो *महत्पापं त्वरितं फलति*। अथवा *कर्मायत्तं फलं पुंसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी* । तथापि बुद्धिमता नरेण सुविचार्यैव कार्यं करणीयम् । यतः -

गुणवदपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥४६॥

अथ *सुमित्रो* रात्रौ पतितत्वेन केनाऽपि न ज्ञातः । प्रभाते जाते *गुणधर*स्तमप्रेक्षमाण इति विललाप -

हा हा ! केन कृतं पापं, केन मे वल्लभो हृतः ? ।
धिग् विधिं प्रियसङ्गं यः, कृत्वा तद्विरहं ददौ ॥४७॥

'मित्रश्रीदर्शनादक्ष्णोः, करिष्ये सुखमन्वहम्' ।
इत्याशाकुसुमं दैवाद्, ददाह विरहानलः ॥४८॥

मित्रं विना कथं वक्त्रं, दर्शयिष्ये स्ववासिनाम् ? ।
वार्धिं ततोऽद्य सद्योऽहं, प्रपद्ये शरणं वरम् ॥४९॥

इति विलपन् *गुणधरः* स्वात्मानं जलधौ मोक्तुकामो भृतकैरिति वारितः - 'भोः श्रेष्ठिन् !

संयोगाः स्युर्वियोगान्ता, वियोगाः प्राप्तसङ्गमाः ।
संसारघटिकायन्त्रे, तुम्बाराणामिवाऽङ्गिनाम् ॥५०॥

तस्माद् धीरा वियोगे पतङ्गपतनं नैव कुर्वते, यतो जीवन्नरो

भद्रशतमाप्नोति । मृतस्य तु ध्रुवं वियोगो, जीवतस्तु कदाचित् सङ्गमो भवत्यपि । मिलनं विघटनं च दैवायत्तं, ततो नैतत्करणीयम्। एवं भृत्यकैर्बोधितो *गुणधरो* मित्रगुणगणं हृदि स्मरन् क्रमेण *ताम्रलिप्तीं* पुरीं प्राप्तः । भाण्डमुत्तार्य समुद्रतीरे सर्वत्र *सुमित्रस्य* शुद्धिः कारिता, परं कुत्रापि तस्य शुद्धिर्न लब्धा । ततस्*ताम्रलिप्त्यां* क्रयाणकानि विक्रीय सार्थसमन्वितो *वीरपुरे* गतः । *जीर्णश्रेष्ठिनं* घनं धनं दत्त्वा, रसतुम्बं च लात्वा, सत्कारं च कृत्वाऽनुक्रमेण *धनपुरे* गतः । तत्र माता-पितृचरणौ नत्वा स्वजन-मित्र-ज्ञातिजनानां च मान्योऽभूत्, राज्ञापि भृशं सत्कृतः । तथापि *गुणधरो* मित्रं हृदि ध्यायन् वने जने धने प्रेक्षणे क्षणे च कुत्रापि रतिं न लभते ।

अथान्यदोद्याने गतः । तत्र *सुधर्मा*भिधेन मुनिना ज्ञानेना-लोक्य सुष्ठुयुक्त्या *गुणधराय* कथितम् - 'भोः सौम्य! मोहमूढः कथं मित्रार्थं परितप्यसे ? मित्रा-ऽमित्रस्वरूपं किं न जानासि?। तव यथास्थितं मित्रं तु तदन्यदत्राऽस्ति, येन कृतरक्षणस्त्वं तेन कुमित्रेण समं भ्रमन्नपि व्यसनं नाप्तोऽसि' । तच्छ्रुत्वा '*सुमित्रः* किं सुमित्रं कुमित्रं वा ?' इति ससंशयो *गुणधरो* मुनिं नत्वा परमार्थं पृष्टवान् । ततो *जिनप्रिय-मोहना*दिवार्त्तां कथयित्वा मुनिर्जगौ - 'त्वया *वीराङ्गदो* राजा संयमे निश्चलः कृतः तदानीं त्वयि मित्रेऽपि *मोहनो* मत्सरी बभूव । स *मोहनो* मृत्वाऽनेकेषु भवेषु भ्रान्त्वा *सुमित्रो*ऽभूत्, *जिनप्रिय*जीवश्च स्वर्गे देवो भूत्वा त्वं *गुणधरो*ऽभूः । पूर्वभवाभ्यासात् तस्मिन् *सुमित्रे* समत्सरेऽपि त्वं

तस्य हितकृत्, तथापि तेन पापिना त्वं वने सुप्तो मुक्तः । समुद्रेऽपि त्वामेव पातयितुमुद्युक्तोऽभूत्, किन्तु दुष्कर्मोदयतः पादस्खलनात् स एव वार्द्धौ पतितः । अतः स नाम्ना *सुमित्रस्तु* तव कुमित्रं, सत्यं मित्रं तु त्वत्पूर्वोपार्जितो धर्म एव, यतो धर्ममित्रबलाद् आपदस्तीर्त्वा त्वं श्रियमशिश्रियः । उक्तं च -

रणेऽर्णवे गणेऽरीणां, श्मशाने सदने वने ।
धर्ममित्रं श्रितं पाति, शैले व्याले जलेऽनले ॥५१॥

धर्मः सुप्तेषु जागर्ति, सालस्येषु प्रयत्नवान् ।
स्थितानां सविधस्थायी, प्रस्थितानां च चाऽग्रणीः ॥५२॥

ततो हे सुन्दर ! विश्वोपकारकरणरसिकेन श्रीधर्माचार्येण दर्शिते धर्ममित्रे सादरो भव । हे *गुणधर* ! ये मूढाः प्राणिनो गुरौ द्वेषं कुर्वते, तैः सद्धर्म-देवावपि हतौ, ते जीवा भवे भवे सान्निपातिकवद् मृतिं लभन्ते । स्वाजीविकाभङ्गभयात् तेन *मोहनेन* मुनीनां गुणानपलप्य क्लिष्टकर्मोदयाऽन्वितं महामिथ्यात्वं निबद्धम् । ततो भवार्णवे नरक-तिर्यक्षु भ्रमिष्यति, नरेषु च दुःख-दारिद्र्य-रोग-शोकादिनाऽर्दितो भ्रमिष्यति" । ज्ञानिनेति निवेदिते सदयो *गुणधरो*ऽवक् - 'हे भगवन् ! असौ वराको वारिधौ मृत्वा कुत्रोत्पन्नः?'। मुनिराह- "जलकल्लोलैर्बहुप्रेरितः महादेहैर्मत्स्यैर्विदीर्णश्चाऽसौ मृत्वाऽत्रैव *साकेतपुरे* नगरे दरिद्रब्राह्मणस्य *दुर्गता*नाम्न्या ब्राह्मण्याः कुक्षौ दुष्कर्मनृपतिभटैर्गुप्ताविव क्षिप्तः । स च वर्षमेकं तत्रोदरे धृतश्चक्षुर्ग्रहणदण्डदण्डितो महता दुःखेन जातो जात्यन्धः । *केशवेति* कृतनामा स कण्डू-कास-श्वास-चक्षूरोगादिबहुवेदनः पित्रोरपि

कृतोद्वेगो वर्तते सम्प्रति'' । इति तस्य पापविपाकं श्रुत्वा भवोद्विग्नो *गुणधरः* पितरावापृच्छ्य तस्य महामुनेश्चरणमूले कर्मकन्दौघकुद्दालं श्रामण्यं प्रतिपन्नवान् । स *गुणधर*मुनिः सम्यक्चरणधारको-ऽधीतसमग्रसिद्धान्तश्च गुरुप्रसादतः सूरिपदं प्राप्तः । सोऽहं विहरन् युष्मत्प्रतिबोधाय इहागमम्, *केशवस्य* च द्विजन्मन एतद्वृत्तान्त-माख्यातवान्[1] । अथ स *वीराङ्गद*नृपजीवोऽपि । सप्तमकल्प-तश्च्युत्वाऽत्रैव पुरे त्वं *पुरुषोत्तम*सञ्ज्ञको नृपतिर्जातः। हे राजन्! त्वया मुनिवैयावृत्त्यकृतं देवलोके भुक्तं, शेषं चाऽत्रापि भवे भुक्तम्। ततो हे नृप ! अधुना तव चारित्रग्रहणं युक्तम्'' ।

इति गुरूपदेशं श्रुत्वा जातजातिस्मृतिः *पुरुषोत्तमो* राजा गुरुं नत्वाऽवक् - 'हे महर्षे ! प्रतिपन्नस्य पालने भवान् महोत्साहः, सम्प्रत्यहं संसारविरक्तः, ततो राज्यमुत्सृज्य भवदन्तिके दीक्षां लामि' । अथ *कपिञ्जलोऽपि* जातिस्मरणेन निजं पूर्वजन्म स्मृत्वा गुरुं जजल्प - 'हे भगवन् ! मया दुर्नीतिफलमैक्षि, ततो हे स्वामिन् ! मां तारय तारय' । राज्ञा भणितम् - 'भगवन् ! *कपिञ्जलस्य* किं दुर्नयफलं फलितम् ?' । ततो गुरुणा तत्कथा कथिता -

''हे राजन् ! शृणु । पुराऽयं *वसन्तपुरे* नगरे वराकः, प्रकृत्या प्राञ्जलस्वभावः, स्वीकृताऽणुव्रतः, सामायिकपौषधसद्रुचि-र्ब्रह्मचर्यवांश्च *शिवदेव*नामा श्रमणोपासकोऽभूत् । परं *मोहनेन* मोहितः सम्यक्त्वं वान्त्वा गुरुतत्त्वनिरादरो यतिगुणनिन्दनशीलश्च जातः।

1. अस्य संबन्धो द्रष्टव्यः पत्रे ३४८ तमे ।

न दत्ते यन्दनं साधो-र्नाऽन्नपानाम्बरादिकम् ।
विश्रामणां न कुरुते, न यात्यपि तदन्तिके ॥५३॥

अश्राद्धोऽपि श्राद्धमानी,अनालोचितपातकः ।
निन्दन् साधून् विराध्याज्ञां, मृत्वा किल्यिषिकोऽभवत् ॥५४॥

तत्रापि दुर्भगनामकर्मोदयात् समृद्धैर्देवैः पङ्क्तेर्बहिष्कृतः। ततोऽशुचिश्मशानादौ बहुकालं भ्रान्त्वा च्युतश्च*म्पायां* चण्डालो जातः । तत्र प्राणिघातादिपातकानि कृत्वा धूमप्रभायां बहुदुःखवान् नारको जातः । तदुद्धृतोऽयं *कपिञ्जलो* जातः । अस्य प्रागिव *केशवे* प्रीतिर्जाता, तत्सङ्गत्या कुलोचितां क्रियां त्यक्त्वा नास्तिकोऽभूत् । ऋजुत्वात् *शिवदेवभवेऽनेन* तीव्रं मिथ्यात्वं नोपार्जितं, तेन निजां जातिं स्मृत्वा साम्प्रतं प्रतिबुद्धः । *केशवस्तु* गुरुद्रोहकरतीव्राभिनिवेशदूषितो भवाटव्यां सुचिरं पर्यटिष्यति । यतः -

[1]सब्भायेण वहन्ति संजमभरं जे भत्तिए साहुणो,
नाणुज्जोय-तयोयहाणयिहिणो तित्थुन्नइकारिणो ।
कुव्वंताण गुणीण नाणमणिसं हीलंति जे बालिसा,
अप्पाणं नरयानले मुहु मुहु पाडन्ति मूढा मुहा ॥५५॥

1. सद्भावेन वहन्ति संयमभरं ये भक्त्या साधवः,
ज्ञानोद्योत-तप-उपधानविधयस्तीर्थोन्नतिकारिणः ।
कुर्वतां गुणिनां ज्ञानमनिशं हीलयन्ति ये बालिशा,
आत्मानं नरकानले मुहुर्मुहुः पातयन्ति मूढा मुधा ॥

[1]कामारंभपरिग्गहग्गहपरा भोगोवभोगत्थिणो,
जे बंभव्वयधारिणो मुणियरे हीलन्ति मोहातुरा ।
ते काणंधय-कुंट-मुंट-बहिरा दारिद्दिणो रोगिणो,
संसारे सुइरं सरन्ति सययं हीलिज्जमाणा जणा ॥५६॥"

अर्हन्मार्गं लब्ध्वापि ये भवार्णवे मज्जन्ति ते गुरोरवर्णवादेनैव, ततो विवेकिना गुरुतत्त्वाराधनं कर्त्तव्यम् । गुरुं विना भवाब्धिर्दुःखेन तीर्यते" । इति देशनां श्रुत्वा *पुरुषोत्तमो* नृपतिः *पुरुषचन्द्र*नामानं निजं सुतं राज्ये निवेश्य *कपिञ्जला*दिभिर्युक्तः प्रव्रज्यां परमप्रमोदेन प्रपन्नवान् ।

॥ इति केशव कथानकम् ॥

कनकध्वजराट् तच्चरित्रं श्रुत्वा च विस्मितो नत्वा कृताञ्जलिर्मुनीन्द्रमजल्पत् – 'हे भगवन् ! *जयसुन्दरं* लघुबान्धवं राज्ये विन्यस्य संसारसमुद्रतरणपोतं चारित्रं भवदन्तिके ग्रहीष्ये'। मुनिना प्रोक्तम् – 'शिशुसेविताद् रजोगृहसमाद् राज्याद् विरज्य भवादृशानां छेकानां मुक्तिराज्यमेव कर्तुं युक्तम् । कोटिव्यवसायिनां काचग्रहणेच्छा का ? रत्नाभरणभारिणां नराणां रीरीभूषणैः किम् ? तथा शमसाम्राज्यकामिनां युष्माकं को राज्यप्रतिबन्धः?'। एवं गुरुणोक्ते 'तथा' इत्युक्त्वा नृपो निजे सैन्येऽगात् । ततः सामन्त-मन्त्रिणां पुरो *जयसुन्दरं* युवराजं प्राह – 'हे वत्स ! त्वं राज्यधुरं धर, यथाऽहं संयमं गृह्णामि' । तदा *जयसुन्दर*युवराजो–

1. कामारम्भ-परिग्रहग्रहपरा भोगोपभोगार्थिनो,
ये ब्रह्मव्रतधारिणो (ब्रह्मव्रतधारकान्) मुनिवरान् हीलयन्ति मोहातुराः ।
ते काणा-ऽन्धक-कुण्ट-मुण्ट-बधिरा दारिद्रिणो रोगिणः,
संसारे सुचिरं सरन्ति सततं हील्यमाना जनाः ॥

ऽवदत् - 'हे महाराज ! निजं प्रियलोकं बन्दिगृहे निक्षिप्य नोत्तमानां पलायनं युक्तम् । हे प्रभो ! गुरोर्वचनामृततत्त्वं पीत्वा संसारस्वरूपं च ज्ञात्वा विषतुल्येषु विषयेषु मन्मनोऽपि नैव रमते। किं बहुना ? युष्माभिः सहितोऽहमपि स्वहितार्थी कक्षीकरोमि दीक्षां, मम राज्येन कार्यं न हि' । इत्थं *जयसुन्दरस्य* संयमग्रहणनिश्चयं ज्ञात्वा *कनकध्वज*भूपतिः राजलक्षणलक्षिताङ्गं स्वपुत्रं *कनककेतुकुमारं* शीघ्रं राज्ये न्यवीविशत् । ततो मन्त्रि-सामन्त-सेनापति-मण्डलेशादिभिः समं *कनकध्वज*राज-*जयसुन्दर*युवराजौ महामहैः प्राव्राजिष्टाम् । *कनकके*तुनृपोऽपि स्वेच्छमतुच्छमुत्सवं कृत्वा तदीयान् पादान् वन्दित्वा दुःखितः स्वपुरं ययौ । *कनकध्वज-जयसुन्दरौ* निर्मलचारित्रचारिणौ, समिति-गुप्तिधारिणौ ज्ञान-चारित्राराधकौ जातौ ।

तौ शुद्धसिद्धान्तसुधां पिबन्तौ, तीव्रैस्तपोभिश्च तमः क्षिपन्तौ ।
निर्दोषभुक्तौ गुरुपादभक्तौ, त्रिगुप्तिगुप्तौ सुयतित्वमाप्तौ ।।५७।।

रत्नत्रयोपासनसावधानौ, जितेन्द्रियौ मोहजयैकतानौ ।
सुपर्वणामप्यभिवन्दनीयौ, जातौ मुनीनामपि पूजनीयौ ।।५८।।

हेमन्ते तिष्ठतस्तौ निरशन-यसनौ कानने कन्दरे वा,
कायं चातापयन्तौ ज्वलदुपलतले ग्रीष्मकाले कराले ।
वर्षारम्भे गुहादौ सपदि विविशतः कूर्मवद् गुप्तगात्रौ,
वीरौ धीरौ सुमेरोरपि रविमहसौ वारिधीशाद् गभीरौ ।।५९।।

अनुत्तरे सद्विषयैः प्रधानके, मृत्वा गतौ तौ विजये विमानके ।

द्वात्रिंशदब्धिप्रमितायुषौ सुरौ, जातौ विशुद्धावपि ज्ञानभासुरौ।।६०।।

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां कोविदकुलकमल
भास्कराणां पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरुपविजयगणिना विरचिते श्रीपृथ्वी-
चन्द्रचरित्रे गद्यबन्धे श्रीगुणधरसूरि-
पुरुषोत्तमभूपादिकथायुक्-श्रीकनकध्वज-
श्रीजयसुन्दरभ्रातृयुगलगुणगणवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।।

दशमः सर्गः

श्रीजयः	– चम्पानरेशः, कुसुमायुध–पिता
प्रीयमती	– श्रीजयभार्या
कुसुमायुधः	– श्रीजयपुत्रः (पृथ्वीचन्द्र–जीवः)
श्रीसुन्दरः	– शिववर्द्धनपुर–नरेशः
पुरन्दरः	– श्रीसुन्दरभ्राता
राजशेखरः	– अवन्तीनरेशः
शालः	– शिववर्द्धनपुर–मन्त्री
मानतुङ्गः	– प्रीयमतीजनकः
कुसुमावली	– कुसुमायुध–पत्नी
कुसुमकेतुः	– कुसुमायुध–पुत्रः (गुणसागर–जीवः)

दशमः सर्गः

(एकोनविंशविंशौ भवौ)

जीयात् शङ्खेश्वरः पार्श्व–नाथो विश्वोपकारकः ।
भूत–भावि–भवद्भाव–विभासनैकभास्करः ॥१॥

अथ सम्पद्भिः पदे पदे मण्डितोऽशेषक्लेशविवर्जितोऽ*ङ्गो* नाम देशोऽस्ति । यत्र गृहाणि ग्रामाकाराणि, ग्रामाश्च नगरोपमाः, नगराणि च सर्वसुरपुरश्रियं जयन्ति । तत्र शत्रुपार्थिवैरकृतकम्पा *चम्पा* नाम पुर्यस्ति, या सर्वतः सच्छायवृक्ष–वल्लीमण्डपा । तस्यां *श्रीजयो* राजा, यस्य शूरतां रणे लब्धलक्ष्या मार्गणा अशंसन् । तस्य नृपस्य विकचाम्बुजलोचना, सुधाभवचना, भातिरस्कृत–काञ्चना, *प्रियमतीनामा* पट्टराज्ञी भाति । तया सार्द्धं भोगान् भुञ्जानस्य राज्ञः क्षणार्द्धवद् वर्षलक्षाणि जग्मुः ।

अथ *कनकध्वज*नृपजीवो विजयविमानात् च्युतः *प्रियमती*गर्भे जातः । ततो निशि सुखसुप्ता 'सिंहासने निविष्टाया मे मूर्ध्नि दीप्रमणिमयो मुकुटो राज्ञारोपि' इति सा स्वप्नमैक्षत । इतश्च पटुशब्देन मागधैर्माङ्गल्यं कृतं, तत् श्रुत्वा प्रमुदिता राज्ञी शय्यातः समुत्थाय राज्ञोऽग्रे स्वप्नं न्यवेदयत् । तदा राज्ञा प्रोक्तम्– 'हे प्रिये ! मुकुटस्वप्नानुसारतः पृथ्वीपीठे प्रकटो राजराजेतिनामभृद् मनोज्ञश्च तव पुत्रो भविष्यति' । ततः प्रभातकाले राज्ञा आस्थाने आस्थाय स्वप्नशास्त्रकोविदा आहूय पूजिताः पृष्टाः । तेऽपि यद्राज्ञोक्तं तदेव स्वप्नफलं न्यवेदयन् । श्रुत्वा च तत्फलं तुष्टाया राज्ञ्याः

प्रशस्तं गर्भं वहन्त्याः पञ्चमे मासे सच्चैत्य-यतिपूजनादिदोहदोऽजनि । ततो नरेश्वरः *'इष्टं वैद्योपदिष्टम्'* इति ज्ञात्वा हर्षातिरेकाद् विशेषतस्तं पूरयामास ।

अथ यमवद् अप्रार्थितोऽपि तस्मिन्नवसरे निदाघर्तुः समागतः। स च कीदृशः ? इत्याह – कलिवत् प्रियदोषः[1], ग्राम्यवद् [2]जडमानदः, कदर्यवद् लसत्तृष्णः[3], कुभूपवद् विषयघ्नः[4], खलवच्च सर्वत्र बहुवैरस्य कारकः । यस्मिन्नवसरे मित्रेणापि[5] प्रतापं प्राप्य जगत् प्रतापितम्, अथवा निजदिनोन्नते को हि चन्द्रवत् स्वस्थो भवेत्?। यस्मिन्निदाघे शीतलद्रव्याणि प्रियाणि जातानि । यतः-

चंदो[6] चंदणपंको, जलं जलंदा समीरणो हारो ।
पल्लवसिज्जा मल्लिय-फुल्लाइं हरन्ति हिअयाइं ॥२॥

[7]तल्पं तामरसं ताली, तिलकं [8]तारकापतिः ।
तालवृन्तस्तरङ्गिण्यो[9], ग्रीष्मे सप्त सुखावहाः ॥३॥

धारायन्त्रतुषारसारकणिका निर्वारितोष्मोदया,
श्रीखण्डा-ऽगरुधूपवासरुचिरं हर्म्यं सचन्द्रोदयम् ।
शय्या पुष्पमयी च चन्दनरसः कर्पूर-कस्तूरिके,
वासः स्वच्छमकञ्चुका प्रियतमा ग्रीष्मे सुखस्यास्पदम् ॥४॥

1. दोषो-दूषणं, दोषा-रात्रिः । 2. जडो-मूर्खः, डलयोरैक्याद् जलं-वारि । 3. तृष्णा तृषा च । 4. विषयो देशः, इन्द्रियसुखं च । 5. सूर्येण । 6. चन्द्रश्चन्दनपङ्को, जलं जलदाः (धारायन्त्राणि, भाषायाम्-फुवारा) समीरणो हारः । पल्लवशय्या मल्लिकापुष्पाणि हरन्ति हृदयानि ॥ 7. शय्या । 8. चन्द्रः । 9. नद्यः ।

ईदृशे भीष्मे ग्रीष्मेऽन्यदा *श्रीजयो* राजा *प्रियमत्या* पट्टराज्ञ्या युतः सर्वर्त्तुकतरुश्रीणामाननं काननं ययौ । तत्र वाप्यां तौ काश्मीरज-कर्पूरा-ऽगरु-मृगनाभिजरजःपुञ्जपिञ्जरैर्जलैः सुचिरं मिथो रत्वा श्रान्तौ द्राक्षामण्डपं गतौ । तत्र क्षणं स्थित्वा भूभुजा वीणां पाणौ लात्वा किन्नराणामपि मनोहरं गीतं प्रारेभे ।

तस्मिन्नवसरे भूपतिरूपगुणाकृष्टा, तत्सङ्गमकृतोत्कण्ठा, काऽपि काननवासिनी देवी कामाग्निना दीप्ता चेटीरूपेण आगत्य राज्ञीमकथयत् - 'स्वामिनि ! महाराजः कथयति यदत्र चिरकालोऽभूत्, ततो राज्ञी सुखेन नगरं गच्छतु' । तच्छ्रुत्वा राज्ञी *प्रियमती* नगरं गता । ततः सा वनदेवी रयाद् दासीरूपेणागत्य नृपमाकार्य लीलागृहे गता । तत्र च हाव-भाव-भूषणभासुरं प्रौढकामिनीरूपं कृत्वा चाटूक्तिचारुभिः कामवाग्भिर्नृपं प्रार्थयामास। तदा राज्ञा व्रतभङ्गभयान्निषिद्धा, शिक्षिता च - 'हे कुलटे ! दूरं याहि । स्वयमन्यायदूषिता त्वं पतङ्गीव मम क्रोधानले मा मुधा प्रज्वल । अहमेतादृशमन्यायं कदापि मद्देशेऽपि न सासहिः । 'अवध्या स्त्री' इति न्यायात् तव प्रथमत एव उच्यते । अहं परानपि वारयन् किम् अन्यस्त्रीणां सङ्गं कुर्याम् ? विश्वतमोहरो भास्करः किं स्वकरान् श्यामान् कुर्यात् ? । दानी मानी धनी च तावत्, धीरो वीरः कीर्त्तिमान् स्फूर्त्तिमानपि च तावद् यावदन्यस्त्रियां रक्तो न भवति । यतः -

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।

सङ्केतः सकलापदां शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः,
शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ॥५॥

ततः सा नृपं प्राह - 'हे विभो ! मां त्वं परस्त्रीं माऽवेहि । सदैव त्वद्गुणैरनुरक्ताऽहं वनदेवताऽस्मि, ततः स्मराग्नितप्तां मां स्वसङ्गमसुधया सिञ्च । हे नाथ ! त्वं प्रार्थनाभङ्गभीरुः कारुण्य-सेवधिश्चाऽसि, अतो मां भजस्व' । इति जल्पन्तीं देवीं नृपो निष्ठुरभाषयाऽवदत् - 'रे दुष्टे धृष्टे निर्लज्जे ! रे पापिनि ! त्वं सुरजातिमपि विगोपयसि । त्वया सममुल्लापैरलं, ततस्त्वं द्रुतं दूरे व्रज' । इति कर्णयोः कटुगिरमाकर्ण्य सा सुरी तिरोभूता। 'मया कदाचिन्मायया अनेन नृपेण सह रन्तव्यम्' इति विचिन्त्य कामातुरा सा छलानि विलोकयति । अस्मिन्नवसरे नृपो विस्मयाद् राज्ञीं ज्ञापयितुं यद्वृक्षाधो राज्ञी तस्थौ तत्र लीलागृहे जगाम, तदा च सा सुरी राज्ञीरूपं कृत्वा पूर्वमेव स्थित्वा भूपतिमाह्वत्। तस्याः कामौत्सुक्याद् निस्त्रपालापविचित्रालिङ्गनाद्युपचारैश्च राज्ञा ज्ञातम्- 'नैषा राज्ञी, किन्तु तद्रूपा सा व्यन्तर्येव'। इति हृदि विमृश्य मुष्टिना प्रताड्य केशैश्चाकृष्य गृहान्निष्काशिता । साऽपि फालात् च्युता चित्रिका इव निराशा तिरोहिता । तदा छलभीरुणा राज्ञा तीव्रं ब्रह्मव्रतं प्रापद्यत ।

अथ परिवारमुखाद् राज्ञीं नगरगतां ज्ञात्वा नृपोऽपि नगरे गतः, तदा च तया दुष्टया सुर्या राज्ञी प्राच्यां दिशि दूरे हृत्वा मुक्ता । नृपेण प्रासादे आगत्य राज्ञी निरैक्षि, किन्तु तत्र तामदृष्ट्वा ससम्भ्रमं समग्रः परिवारः पृष्टः, परं कोऽपि किमपि न वेत्ति । तावत् 'सुर्यैव सा हृता' इति निर्धार्य्य राज्ञा तस्या गवेषका जनाः

प्रेषिताः । तेभ्योऽपि तच्छुद्धिवार्त्तामनाप्य दुःखिना नृपेण चिन्तितम्- "जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक-संयोग-वियोगदूषितं कषाय-विषयप्लुष्टं भववासं ही ! धिगस्तु । क्षणाद् दृष्टनष्टसुख-दुःखादिके इन्द्रजाले इवाऽसारे संसारे किं सुखम् ? । यं कश्चिद् वल्लभं विना प्राणा धर्तुं न शक्यन्ते, तं वल्लभं विना भवसङ्गिनां सर्वायुर्याति। अङ्गिनां यद् मातृ-पुत्र-कलत्र-सुहृत्-सम्पदादिकं सुखं दद्यात्, तद्विधिः अहह ! भवाटव्यां हरति । यदि मद्वियोगाकुला प्रिया जीवेत्, ततो ध्रुवं गर्भगुणं मन्ये । यद्दिने तद्वदनं विक्षिष्ये तां घटीं सुधाघटीं मन्ये' । इति ध्यात्वा त्यक्तभोजनादिव्यवहारो नृपो मन्त्रिभिः कालज्ञैश्च प्रिया-पुत्रप्राप्तिसूचनाद् आश्वासितः । ततो 'यदि भाग्योदयात् प्रिया मिलिष्यति ततो दयितायोगात् परतो गृहाश्रमे न स्थास्यामि' इति निजे चित्ते निश्चित्य नृपो देहस्थित्यै भोजनं चक्रे ।

अथ देव्या वने उज्झिता राज्ञी सविस्मय-भया दध्यौ - 'किमिदमिन्द्रजालं ? किं वा भ्रमः ? । क्व मे रम्यः सौधः ? श्वापदाकुला इयमटवी च का ?' । इति चिन्तयन्ती विललाप - 'हे नाथ ! चेन्ममोत्तरं न दत्से, तदा मे हृदयं विलीयते । हे नाथ ! त्वयि जीवति दोषं विनाऽहं वने केन त्यक्ता ? । हा ! मया पापया पूर्वभवे किञ्चित्पापकर्म समाचरितं, येनाऽतर्कितमिदं दारुणं व्यसनं समागतम्'। इति विविधं विलपन्ती, श्वापदारवैः सकम्पा 'नमोऽर्हद्भ्यः' इति जल्पन्ती, दुःस्थितानना उत्थिता । 'साम्प्रतमहं कुत्र यामि ? निर्भयो वासश्च कुत्र भविष्यति ?' इति चिन्ताव्याकुलिता सा प्रियमती राज्ञी दक्षिणाध्वनि चलिता । सिंह-व्याघ्र-शृगालादिशब्दैः कम्पितमानसा,

तप्तभूदह्यमानाऽङ्घ्रिः कण्टकाक्षिप्तशोणिता शून्येऽरण्ये व्रजन्ती मूर्च्छां प्राप्ता । पुनः शीतलपवनप्राप्तचैतन्या सा विचारयामास - 'मया पूर्वभवे अज्ञानयोगतः किञ्चिद् घोरं पापं कृतं, तद्विपाकोऽयं ध्रुवम्, अतः समतया दुस्सहमपि दुःखं सोढव्यम् । सदा पूर्वभवकृतं शुभाऽशुभं कर्म प्राणिभिरुपभुज्यते, तस्मात् स्वकृतकर्मणां भोगे समागते कोपः कुत्र क्रियते ?' । इति जिनवचनं भावयन्ती, कानने भ्रमन्ती, क्षुत्-तृट्पीडिताङ्गी दुःस्थिता सा दिनाऽवसाने तापसीभिर्दृष्टा । कमण्डलुस्थनीरेणाश्वास्य ताभिर्निजाश्रमं नीता, वृद्धायाश्च दर्शिता । तया वृद्धया सत्कृत्य राज्ञी भोजनं कारिता । अवसरे च वृद्धया प्रोक्ता - 'हे भद्रे ! एतादृक् शुभाङ्गी त्वं कथं व्यसनं प्राप्ता ?' । ततो वात्सल्यशालिन्या वृद्धाया अग्रे राज्ञ्या निजं चरितमूचे । तदा वृद्धयाऽवादि- 'निःसारः संसारः, यत्राङ्गिनः सर्वथाऽसम्भाव्यं व्यसनं प्राप्नुवन्ति । परं हे वत्से ! मा विषादं कुरु । महत्ते पुण्यमस्ति येन तपोवनमेताऽसि । इतोऽवसरे गुरुं विज्ञप्य तव वासभूमिर्दर्शयिष्यते'। एवं तद्गिरा जातजीविताशा राज्ञी कियत्कालं स्थिता ।

अन्येद्युश्च तापसीभिः कुलपतिर्विज्ञप्तः । ततस्तेन वृद्धतापसैः सह सा राज्ञी प्रेषिता । सापि गर्भभराऽलसा कृच्छ्रात् *श्रीपुरो*द्याने गता, तत्र च सहकारद्रुमे विश्रान्ता । अथासन्ने जिनप्रासादे स्तवारवं श्रुत्वा गत्वा पूजासामग्र्यभावतः पूर्वं जिनप्रतिमां ननाम, पश्चात्साधर्मिकांश्च । तदा नाम्ना *जिनसुन्दर्या* श्राविकया सन्मान्य पृष्टा -'हे साधर्मिके ! अत्र कुत एता ?' । अथ सा अदत्तोत्तराऽरुदत्। तत 'एषा सदाकृतिः, तेन सामान्यकुलोद्भवा न' इति *जिनसुन्दर्या* ध्यात्वा सानुनयं स्वयमभाणि - "हे महानुभावे ! त्वं

संसारेऽनित्यभावनां भावय । वपुःसन्तापकारिणा अनेन रोदनेन किम्?। हे सुभ्रु ! अनन्तदुःखात्मके भवे दुःखेषु को विषादः ?, वार्द्धिं तरन् स्तिमिताङ्गो[1] जनः कथमुद्विजेत ? । हे भद्रे ! अयं दुष्टः संसारः, ततस्तत्त्वैषिभिः प्राणिभिः सुखे दुःखेऽपि च धर्म एव कर्त्तव्यः । तस्मिन् कृतेऽनन्तसुखं भवेत्, दुःखक्षयश्च स्यात् । तस्माद् हे भद्रे ! त्वं विषादं मुञ्च, साम्प्रतं च धर्मं कुरु । सर्वदुःखानां नाशकमतः परमौषधं नास्ति । इति वाक्सुधया आश्वास्य तया *जिनसुन्दर्या* निजगृहे राज्ञी समानीता, तत्र च सा तत्पित्रोः पुरः स्वकीयवृत्तान्तं कथयित्वा प्रियपुत्रीवत्सुखं स्थिता ।

अथ विश्वलोकं निदाघचरटाऽर्दितं विलोक्य प्रावृड्नृपो घनतूर्यस्वनैर्ध्वनन्नत्र भूतलेऽवतीर्णः । आकृष्टसुरचापेन तेन धीरेणाऽऽसारशरवर्षिणा सद्यः कुटुम्बिनां चेतांसि निर्वापितानि । इति प्रवृत्तासु वर्षासु सायं निजभर्त्तारं स्मृत्वा स्मृत्वा स्नेहभिन्ना सा राज्ञी रुदती स्वसखीमप्यरोदयत् । यतः -

हारो नारोपितः कण्ठे, मया विश्लेषभीतया ।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥६॥

याः पश्यन्त्यः प्रियं स्वप्ने, धन्यास्ताः सखि ! योषितः ।
अस्माकं तु गते कान्ते, गता निद्राऽपि वैरिणी ॥७॥

इत्यादि विलपन्ती विमुक्तभूषा धूसरवक्त्रपद्मा मलिनैकवस्त्रा कपोलदेशे च निहितैकहस्ता रुरोद, तावज्जि*नसुन्दरी*पित्रा *धनञ्जयेन* श्रेष्ठिना सानुनयं सा प्रोक्ता - 'हे सुते ! त्वद्गुणरञ्जितानां नो महती चिन्ताऽतिवर्त्तते, किन्तु जलैर्मार्गा दुर्गमाः, सार्थयोगोऽपि

1. आर्द्राङ्गः ।

नाऽधुना लभ्यते, ततो हे वत्से ! वर्षासु धर्मस्था तिष्ठ । ततः परं तवेच्छा फलिता'। इति श्रेष्ठिवचनं श्रुत्वा *प्रियमती* प्राह - 'हे तात! त्वत्पदसेवया मम निर्वृतिरेवाऽस्ति, परन्तु प्रेमबन्धस्तु दुस्त्यजो वर्त्तते । तथापि युष्माकं वचः कुर्वे' । इत्युक्त्वा धर्माराधनतत्परा स्थिता ।

अथ सुदिने शुभलग्ने दुःखदारकं पुत्ररत्नं सा प्रसूता, तदा *धनञ्जय*श्रेष्ठी हर्षोत्कर्षप्रफुल्लमानसः सल्लक्षणोपेतौ तुरङ्गमौ नृपतिमुपदीकृत्य राज्ञः प्रसादं प्राप्य गुप्तिमोचनादिकोत्सवं महता प्रबन्धेन चक्रे । ततस्तेन श्रेष्ठिना चित्तमुदे तस्य *कुसुमायुध* इति नाम ददे । ततो घने गते सति बालवत्सा इति कृत्वा द्वे वर्षे गृहे स्थापिता ।

अथाऽन्यदा तत्पुरवास्तव्यो *वासवदत्त*नामा सार्थवाहः *चम्पापुरीं* प्रस्थितः । तत् श्रेष्ठिना ज्ञात्वा आत्मतुल्येन तेन सार्थवाहेन सार्धं *प्रियमती* सपरिवार-वाहना प्रेषिता । चलितः सार्थः, क्रमात् *शिववर्द्धन*पुरेऽगात्, तदुद्याने चावासितः । *प्रियमत्यपि* तत्रैवाम्र-तरोस्तले आवासिता । अस्मिन्नवसरे तन्नगराधिपः *श्रीसुन्दरो* राजा गुरुपार्श्वे धर्मं श्रुत्वा व्रतोद्यतोऽभवत्, स च संसारविरक्तेन स्वबन्धुना *पुरन्दरेण* अनिष्यमाणे राज्ये कश्चिद्राज्ययोग्यं वितर्कयन् तत्र पञ्च दिव्यानि, अध्यवासयत् । ततस्तैः सेनया सह सर्वतो भ्रान्त्वा *कुसुमायुधो* दिष्ट्याऽभिषिक्तः । तदा तं सदाकृतिं दृष्ट्वा तुष्टै राज-युवराजादिभिर्हस्तिस्कन्धे समारोप्य समातृकः समानीतः। तदनन्तरं *सुन्दर*नृपेणोक्तम् - 'हे मातः ! त्वया राज्यधुरा स्वीकार्या,

आवां तु त्वत्प्रसत्तेः संसारवारिधौ प्रवहणं व्रतं ग्रहीतुमिच्छावः' । इत्युक्ते तदनु *प्रियमती* देव्युवाच– 'हे भूपते ! अहमबला निर्बला, अयं मम पुत्रोऽपि बालकः, ततः साम्प्रतं स्वयमेव यथोचित-माचरणीयम्' । अस्मिन्नवसरे ज्ञातवृत्तः सार्थवाहस्तत्रागत्य नृपं व्यजिज्ञपत् – 'हे स्वामिन् ! अङ्गदेशाधिप*श्रीजय*भूपस्य देवीयं न्यासीभूता मम, तस्मान्मुञ्चेमां, यथा उपालम्भपात्रं न भवाम्यहम्। हे राजन् ! *कलिङ्गाधिपतेः* पुत्रीं *प्रियमतीं* किं नोपलक्षयसि ?'। इति सार्थेशोक्तं श्रुत्वा 'त्वमावयोर्मातृष्वसा' इत्युक्त्वा तौ राज-युवराजौ तस्याः पदे पतितौ । ततः *सुन्दरनृपेण* सार्थेश उक्तः – 'त्वया समाधिना गम्यं, *जयराजस्य* चाऽयं समग्रो वृत्तान्तो वाच्यः'। ततो *वासवदत्तः* सार्थवाहः *प्रियमतीं* देवीमापृच्छ्य चलितः । अथ *सुन्दरनृपेण* मन्त्र्यादीन् निवेद्य *कुसुमायुधो* राज्ये स्थापितः । ततः प्रमुदिताभ्यां राज-युवराजाभ्यां गुरुसमीपे स्वसमीहितः संयमः साधितः । क्रमेण *कुसुमायुध*भूपः खल्वखण्डितशासनोऽभूत्।

अथाऽन्यदा *अवन्ती*देशे*शराजशेखर*भूभुजा बलमत्तेन प्रेषितो दूत आगत्याऽवदत् – "हे राजन् ! मम स्वामिना प्रतिपादितं यथा हयेभादि मां समर्प्य भक्तिभावं भज, येन त्वं सुखं तिष्ठेः। यतो बालानां तु स्वार्हं भोजनमेव युक्तम्। उक्तं च–

[1]न जीवइ सुहं विहगो, गहिएण महामिसेण चंचूए ।
पिछंतेसु छुहालूसु, खलु लावय-ढंक-कंकेसु[2] ॥८॥

1. न जीवति सुखं विहगो, गृहीतेन महामिषेण चञ्चा ।
पश्यत्सु क्षुधालुषु, खलु लावक-ढङ्क-कङ्केषु ॥ 2. कङ्कः काकः ।

मामाश्रित्य त्वया अन्येभ्योऽपि जातुचिन्न भेतव्यम्" । दूतस्येत्युक्तं निशम्य *शाल*मन्त्रिणा प्रोक्तम् - 'अयं *कुसुमायुध*नृपो बालत्वेन सेवां न वेत्ति, हयादिभिश्च रिरंसुर्निर्भीकः सन् हयादीन् कथं प्रेषयेत् ? । चेत्तव स्वामिनो हयादिना प्रयोजनं तदा कोषः प्रेष्यतां, येन क्रीत्वा गज-वाजि-सुपत्तयः प्रहीयन्ते' । ततः कोपाद् दूत ऊचे - "ईदृशै-र्मन्त्रिभिः *कुसुमायुध*भूधवः सत्यं चिरं राज्यं करिष्यति ! । भो भोः ! दीर्घदर्शिभिर्मन्त्रिभी राजा साम्राज्यं कार्यते, किन्तु धरेशितृत्वे बाल्यं यौवनाढ्यत्वं वा हेतुर्नास्ति । किञ्च, दुर्बलैर्बली दत्त्वा नत्वा च प्रसाद्येत, परं गर्वगिरा जल्पनेन तस्य रोषणं न क्रियेत । यः प्रणत्या प्रसीदति तं कदापि न कोपयेत्, तस्मान्नखच्छेद्यं कार्यं परशुच्छेद्यं मा कुरुत । पुनरयं *राजशेखरो* राजा नम्राणां कल्पद्रुकल्पः, मानिनां तु यमवद् दावानलवद्वा क्षयङ्करः" । इति जल्पन्तं दूतं धीविशालः *शालमन्त्री* अवक् - 'रे दूत ! परगेहे त्वम् अस्थापितमन्त्रित्वं किं करोषि ?। त्वत्स्वामी तु निर्लज्जोऽकार्यसज्जश्च भाति, यतः किं *कुसुमायुध*-स्तत्प्रसत्तेरिदं राज्यं भुङ्क्ते ? । रे दूत ! नूतनोऽप्येष तव स्वामिना न साध्यः, अहो! शिशुरपि सिंहोऽजाभिर्जातुचिदपि किं जीयते ?' । एवं स दूतो मन्त्रिणा चण्डवचःकाण्डौघताडितः स्वप्रभोः समीपे समागत्य विशेषात्तस्य भाषितं प्राह । सोऽपि तदाकर्ण्य घृतसिक्तवह्निवद्दीप्यमानो वाजिराजिभिः करटिघटाभिश्च क्षोभितक्षितिः *कुसुमायुधं* प्रत्यचलत् ।

अथ *वासवदत्तः* श्रेष्ठ्यपि वरां *चम्पापुरीं* प्राप्तः । उपदापूर्वं च नृपं प्रणम्य मुदाऽवर्द्धापयत् - 'भो विभो ! देव्याः सूनो राज्यस्य

चागमाद् विवर्द्धस्व' । 'किमिदं कथयसि ?' इति विस्मयाद् राज्ञा पृष्टे श्रेष्ठी नृपं प्रत्यखिलं जगौ । नृपोऽपि तदाकर्ण्य सविस्मयः सार्थवाहं बहुधनसमर्पणेन शुल्कविमोचनेन च सत्कृत्य सोत्कण्ठः *शिववर्द्धन*पुरेऽगात्, स्त्रियाः सूनोश्च मिलितः । ततः पुरे प्रमोदः प्रसृतः। *प्रियमती*पिता *मानतुङ्ग*नृपोऽपि पुत्रीमिलनार्थं तत्रागतः । *जय*नृपेण बहु मानितः । ततो जयनृपेण राज्ञ्यग्रे स्वश्वशुरसमक्षं च व्यन्तरीकृतः सर्वोऽपि वृत्तान्तः श्रावितः । राज्ञ्याऽपि स्वानुभूतः समग्रोऽपि वृत्तान्तः प्रतिपादितः । तच्छ्रुत्वा ते सर्वेऽप्याश्चर्यमयाश्चिरविरहसङ्गमात् प्रेमपूर्णा गतान् घनानपि घस्रान् न हि विविदुः ।

अथ कृतमहाकटकारम्भो *राजशेखर*नरेन्द्रः कुसुमायुधस्य सकलसम्बन्धं श्रुत्वाऽन्तर्विलक्षो व्यचिन्तयत् - "मूढमतिमोहकरमिमं लोभं धिग् धिग्, येन विषयपाशेषु जन्तवो बध्यन्ते । साम्राज्यै-श्वर्यराजिते मद्राज्ये किं न्यूनमस्ति ? येन मयाऽन्यराज्यस्य ग्रहणेच्छया स्वात्मा इति खेदितः । यस्मात्पुण्यप्रागल्भ्यतो बालस्यापि राज्यमजायत, तद्राज्यं ग्रहीतुं वाञ्छां करोमि, अतो भुक्तभोगं मां लोभिनं धिगस्तु । पूर्णपुण्यवतो राज्यं रुष्टोऽपि को जिघृक्षति ? तुष्टोऽपि को वा निर्भाग्यभागिनो दित्सति ? । मया पुरा *जय*नृपादीनां या प्रीतिवल्लरी वर्द्धिता, सा एतदन्यायदावा-ग्निज्वालया ज्वालिता । ततस्तत्र गत्वा *मानतुङ्ग*-*जय*नृपौ क्षमयामि, यतो *भ्रष्टोऽपि यो द्रुतं मार्गे लगति सोऽत्र सुन्दरः*" । इति तेन स्वचित्ते विचिन्त्य *सुन्दराभिधः* स्वमन्त्री प्रेषितः । सोऽपि तत्र गत्वा जयभूपं व्यजिज्ञपत्-मत्स्वामिना *राजशेखर*नृपेण भवतोऽग्रे सन्दिष्टं यद् मया मूढधिया भवतः सुतोपरि रणसंरम्भः कृतः,

भवदग्रे तमपराधं क्षमयितुं एमि । ततो भवद्भिर्नाऽपरं शङ्कनीयम्'। तदा *जय*भूपस्तमित्याह – 'भवादृशां युक्तमेतत्, यतः सन्तो दुष्कृते पश्चात्तापपरायणाः स्युः' । इत्युक्त्वा मन्त्रिणं सगौरवं सत्कृत्य वासादिसामग्रीं कृत्वा उचिताऽवनौ अभ्येत्य त्रयोऽपि भूपा अत्र मिलिताः । ततस्तथा ते स्नेहनिर्भरा जाता यथा पत्ति-वाजि-गजादीनामन्तरं न हि विदुः । तदादितस्तत्पुरं *राजसङ्गम*मिति जगति ख्यातं बभूव । तदा चाऽत्यन्ततुष्टेन *राजशेखर*भूभुजा *कुसुमायुध*भूपाय सुरूपा द्वात्रिंशत् कन्या दत्ताः ।

अथान्यदा सौम्यतया सोमः, सत्तपस्तेजसा भानुः गाम्भीर्येण सागरः, व्रतस्थिरतया मेरुः, रूपेण च मीनध्वजः केवली *श्रीगुण-सागर*सूरीन्द्रस्तत्पुरोद्याने समवसृतः । ततो वनपालकेन समागत्य विज्ञप्तम् – 'हे महाराज ! सहस्राम्रवने सुराऽसुर-नरनिकरकृतसेवः *श्रीगुणसागरः* केवली समवसृतः' । तच्छ्रुत्वा तस्मै सन्तोषदानं दत्त्वा सद्भक्तिभरनिर्भरास्ते त्रयोऽपि भूपालाः केवलिपार्श्वे गत्वा विधिना च नत्वा धर्मश्रवणतत्परा आसाञ्चक्रिरे। ततः कृपाम्भोधिर्जगद्धितो मथ्यमानमहाम्भोधिगम्भीरमधुरध्वनिः केवली देशना-मादिशत् –

'भो भो भव्याः ! अमुं मानवभवं प्राप्य जलबुद्बुदोपमाने जीविते सर्वथा आत्महितं कुरुध्वम् । येन स्मरो नैव भवेत्, यत्र मनागपि मान-क्रोधादयो न स्युः, तस्मिन् रतिः कर्तव्या' । तच्छ्रुत्वा *मानतुङ्ग*नृपोऽवादीत् – 'भगवतो वचनं गभीरं, वयं तु मूढाः, ततो नैव रहस्यं विद्मः । तेन हे भगवन् ! अस्यार्थः पृच्छ्यते' । ततः केवली प्राह – 'भो भोः ! यूयं मोहनृपेणाऽज्ञानमद्यपानं कारिताः,

तेन कमप्यर्थं नैव जानीथ' । ततः प्रहसिताननो *राजशेखरनृपः* प्रोवाच - 'हे भगवन् ! कोऽयं मोहनृपः ? क्व चाऽस्ति तस्य राज्याद्यधिकारः ?' । केवली प्राह -

"परमार्हद्धर्मनृपतेरन्तरङ्गोऽसौ *सुबोधाख्यो* दूतः *सुदर्शनाख्यं* चूर्णं युष्मान् यदा दास्यते, तदा यूयं सत्यार्थं ज्ञास्यथ । स *सुबोधो*ऽचिरेणागमिष्यति, परं यावदसौ नायाति तावद् वः ज्ञानार्थानां च कौतुकिनां कियदस्य स्वरूपं ब्रुवे । तथाहि-

"विविधाश्चर्यप्रचुरे जगत्पुरे सुर-नरेन्द्राद्यैरपि अखण्डित-शासनः, शिष्टानामिष्टदः, दुष्टानामनिष्टदः, मदोद्धुरः कर्मपरिणामो राजा प्राज्यं राज्यं तनोति । तस्य प्रसिद्धा कालपरिणत्यभिधा प्रिया वर्त्तते । सा ह्येकान्तरक्ता भक्त्या च भर्तुश्चित्तानुवर्त्तिनी । तयोरनादिसंयोगलग्नयोः सुखमग्नयोः त्रिजगन्मानिताज्ञयो-र्दम्पत्योश्चेतसि इति चिन्ताऽभवत्- 'राज्यं वितन्वतां चास्माकं हि अन्तरङ्गः परिवारः कियान् ? के वा व्यापारिणः ? के पुनः प्रसादार्हाः ?' । तस्मिन् समये ताभ्यां राग-द्वेषादिभटावृतो, निःशेषराज्यकार्यानुचिन्तने सदा व्यापृतो मोहकुमारेन्द्रो दृष्टः । अन्येऽपि सप्तव्यसनाख्याः पुत्राः । ते हीमे द्यूतनामा, मांसास्वादनामा, मद्यनामा, वेश्यागमननामा, पापर्द्धिनामा, चौरिकनामा, परस्त्रीगमना-भिधानश्च। ते च पितुर्भक्ताः सततं भव्यप्राणिनः संसारे स्थिरीकुर्वन्ति। यतः -

द्यूतं च मांस च सुरा च वेश्या,
पापर्द्धि-चौर्ये परदारसेवा ।

सप्तापि तानि व्यसनानि लोके,
घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥९॥

ततो नृपो देवीमब्रवीत् - 'हे प्रिये ! ईदृशेषु कुमारेषु निजां राज्यधुरां न्यस्य साम्प्रतमावां सुखं तिष्ठावः' । साऽप्याह - 'भो विभो ! बुद्धिबलस्पृशां पुंसामिदं युक्तमेव, एवं कृते ह्येते सुताः त्रिजगत्यपि श्लाघ्याः स्युः । यतः -

[1]जाएसु जेसु जणया, पुव्विं पिव वहन्ति दुव्वहं भारं ।
बालेयाण वि तेसिं, सुयाण जम्मं मुहा मन्ने ॥१०॥

इति प्रियावाक्यं श्रुत्वा कर्मपरिणामेन राज्ञा मोहकुमारकः स्वराज्ये स्थापितः, शेषाणां च सर्वेषां पुत्राणां यथोचितः प्रसादः कृतः । ततो राज्ञा कर्मपरिणामेनोक्तो मोहकुमारः - 'हे वत्स ! पुराऽपि सर्वाधिकारी त्वमभूः, इदानीं पुनर्विशेषेण पुरजना रक्षणीयाः। अहं सुस्थः सन्निह प्रेक्षणकं पश्यन् विचरिष्यामि' । ततो मोहोऽपि जनप्रियो निष्कण्टको राजराजोऽभूत् । अथान्यदा जगत्पुरे बुम्बारवोऽभूत - 'धावत धावत भो भो भटाः ! चारित्रभूपेन प्रजाः शिवपत्तने नीयन्ते' । तत् श्रुत्वा क्रुद्धो मोहनृपोऽब्रवीत् - "रे रे मन्त्रिणः ! इदं कुतो युक्तम् ? यतो मयि जीवति मत्पुराद् निजाः प्रजा ह्रियन्ते, तत्कोऽसौ चारित्रनृपः ? । भो भो राग-द्वेषभटौ ! युवां जगत्प्रकटकीर्त्तिभिर्निजैर्निजैः सुतैः सार्द्धं सज्जीभवताम् । रे मिथ्यादर्शनमन्त्रिन् ! त्वं राज्यचिन्तने नियुक्तोऽसि, तथापि

1. जातेषु येषु जनकाः, पूर्वमिव वहन्ति दुर्वहं भारम् ।
बालेयानामपि तेषां, सुतानां जन्म मुधा मन्ये ॥

चारित्रलुण्टाकेन ह्रियमाणं पुरं नैव वेत्सि; किं सुखं स्वपिषि ? । रे ज्ञानावरणादयो योधाः ! यूयं लघु चलत, यथाऽद्य चारित्रचरटस्य मदं दलयामः" । ततोऽविवेकमन्त्रिणेति विज्ञप्तम् - "हे देव ! प्रसीद, मा विषीद । बुम्बाया हेतुं शृणु-पुरा तव पित्रा चिरस्थित्या-ख्यायास्त्वन्मातृष्वसुरुद्वाहे एतज्जगन्नगरमध्यगमद्भुतं पाटकानां सप्तत्यधिकं शतम् अङ्गुष्ठमोचने दत्तम् । तया हि त्वन्मातृष्वस्रा चिरस्थित्या तेषु पाटकेषु सुन्दरः सौम्यः शूरश्च धर्मभूपोऽस्थापि। हे स्वामिन् ! स एकान्तहितो धर्मनृपो बहिरङ्गजनस्य सुखं समृद्धिं च दत्ते, विधिसेविनां च विशेषाद्दत्ते। तत्प्रसादतोऽर्हच्चक्रि-हरि-बलदेवादीन् सौख्याढ्यान् वीक्ष्य प्रायोऽनेके जनाः सुखेच्छया तमेव सेवन्ते । हे नृप ! मिथ्यादर्शनाद्यैस्त्वद्भृत्यैर्ये दुर्गतिदुर्गे न्यस्ताः, ते कालस्थित्या निःसृत्य निर्विण्णा हि तमेव धर्मनृपं भजन्ते । धर्मनृपेणाऽपि चिरं राज्यं भुक्त्वा चारित्रपुत्रस्य दत्तम् । परकार्योद्यतं तं वीक्ष्य दीना जना विज्ञपयन्ति - 'हे स्वामिन् ! मोहभृत्यैः पीडिता वयं त्वत्पाटकेष्वेताः, ततोऽस्माकं निर्भयं स्थानकं दर्शय' । ततश्चारित्रनृपेणोक्तम् - 'भो भद्राः ! तदगम्या मुक्तिपूः वर्तते, परं निःश्रेणिविरहात् तत्रारोढुं न शक्यते, ततो विवेका-द्रिमारोहत । अस्मिन् नगे स्थितान् युष्मान् दर्पोत्कटा अपि मोहभटा न हि पराभविष्यन्ति' । तेनेत्युक्त्वा तत्रारोहे सदागमो नियुक्तः । तेनाऽप्येतान् तत्रारोप्य प्रशमाद्याः सुहृदः समर्थिताः । अथ ते धर्मार्थिनो विवेकाद्रौ कांश्चिद् दिनान् विश्रम्य केवलज्ञान-दर्शितपथके मुक्तिपुरे यान्ति, तदा तत्पृष्ठौ कृतप्रतिज्ञा नाम-गोत्राद्या-श्चत्वारस्तव बान्धवा धाविताः, किन्तु हे स्वामिन् ! तेऽपि

निराशाः साम्प्रतं स्वगृहे समागताः । अधुना च तैरेवं पूत्कृतम्, ततो हे देव ! संरम्भेण सृतम् । भवन्मातृष्वसैव स्वपाटकानां चिन्तां करोति, तस्याश्च पाटकेषु अयमुपद्रवो भवति, ततस्तत्र किं क्रियते ?" । ततो मोहः प्राह - 'यद्यप्येवं, तथापि त्वमखिलान् प्राणिनोऽज्ञानमद्यं पायय, यथा तेऽज्ञातधर्माणो मयि रज्येयुः' । 'तथा' इति भणन्नेष गत्वा त्वरितमागतः, 'हे देव ! भवद्वचः कृतम्' इति जल्पंश्च मोहराजस्य पादयोरपतत् । तथाप्यश्रद्दधानो मोहस्तम् अविवेकं भुजया गृहीत्वा नगरे हिण्डन् अज्ञानमद्यनष्टचेतनं गम्या-ऽगम्य-धर्माऽधर्मकार्याऽकार्यविवर्जितं पेयापेयखाद्याखाद्यज्ञानोज्झितं च विश्वं ददर्श । परं पूर्वोक्तपाटकेषु विषयैषिणो-ऽसमाचारान् 'धर्म धर्म' इति जल्पतश्च पाखण्डिनो निरीक्ष्य भृकुट्या दुराननो मोहोऽविवेकमवक् - 'किमेते मद्यं न पायिताः ?' । अविवेको-ऽजल्पत्- 'हे देव ! एतेऽपि मद्यपरवशाः सन्ति । यद्यप्येते धर्ममुद्घोषयन्ति, परं तत्स्वरूपं नैव विदन्ति । तस्मात् हे देव ! सम्यग् विलोक्यताम् । विवेकाद्रिमेते न गताः, शमादिभिः समं न मिलिताः, न चारित्रं सिषेविरे, न च समिति-गुप्तियुताः' । मोहः प्राह - 'भो अविवेक ! त्वं कथमेवं जानासि?'। ततः सोऽप्यवक्- 'मिथ्यादर्शनाज्ञया जीवान् हर्तुं विवेकाद्रिं प्रति एकदाऽहं गतः, परं तत्रारोढुमशक्तोऽहं व्युद्ग्रहादिकान् भटान् प्रेष्य विश्राम्यन् शुद्धागमस्य विधिं वदतः कांश्चित् शब्दान् श्रुतवान्, ततोऽहं किञ्चिद् वेद्मि' । मोहेनोक्तम् - 'वरं, किन्तु मातृष्वसृपाटकस्थिताः केऽपि मम भक्ताः स्युर्न वा ?' । स प्राह- 'विवेकाद्रेरधः सर्वेऽपि त्वद्वश-वर्त्तिनः, तदूर्ध्वस्था अपि घना जनास्तवानुवृत्तिं नोज्झन्ति'। इति

निशम्य मोहराज आत्मोत्कर्ष-विशेषवान् दर्पोद्धुरस्तस्मिन् पुरे इति रन्तुमारब्धवान् बहून् बहिर्वेषान् कृत्वा असौ मोहो गायति, नृत्यति, रमते, अन्यान् रमयति, विरमति, कलहं च करोति । कदापि वादित्राणि वादयति, हसति स्वयं, हासयति च परान्, हन्ति, अवनौ स्वयं लुट्यति, क्षणाद् बिभेति, भापयति चान्यान्, शेते, तिष्ठति, रुष्यति, रोषयति, तुष्यति, तोषयति, व्यक्तं शोचति, क्रन्दति, पूत्करोति, विलपति, चिरकाल-मन्येषु पात्रेषु मूर्च्छावान् एव तिष्ठति । पुनरयं मोहः सुतं जनकं ब्रूते, सुतां च मातरं कथयति, जनकं वैरिणं मातरं च वैरिणीं जानाति, भार्यां च स्वामिनीं वादयति । विड्-मूत्रादिभृताङ्गानां मिथ आलिङ्गनं करोति, कारयति चान्यान् । निस्त्रपो गतवस्त्रश्च भवति । अशुचिवक्त्राणि चुम्बति, चाटुपाटवं कुरुते, देव-गुर्वादिषु स्तब्धस्तिष्ठति, प्रमदानां पदोः पतति, भटांश्च आक्रोशति । विषमं रणं कुरुते, प्रहार्यमाणः प्रहरति, मारयति, क्षणाच्च म्रियते । स्वीयलोकान् भोगाङ्गदान-पोषण-पालनैः स्वान् किङ्करान् करोति, वृथैव विभुतामदं वहति । स मोहः सपरिकरैर्भ्रातृभिः सहितो नवरसै रम्यं नाट्यं कुर्वन् स्वपितरं दर्शयति तोषयति च । भो भव्याः ! एवं जानीथ, शौर्यधारिणा प्रमादवैरिणा विजिता प्राणिनस्तेन मोहेन सर्वेऽपि हताः । पुनरपि मोहकुलोद्भूतै-रिन्द्रियैस्त्रिजगज्जीवा वशे धृताः, ततस्तेषामिन्द्रियाणां घाताद् जयाद् वशाद्वा यूयमक्षयं मोक्ष-सौख्यमर्जयत । समरोऽपि स एव यत्र केषाञ्चिद् मृतिर्न भवेत्, रागादिरिपूणां जेताऽसौ संयम एव ज्ञेयः । बाह्यरसास्वादरहितेऽपि तत्त्वतः सुखदे चारित्रे एव रतिः कार्या । ततो भो भो नृपाः यूयं

मोहापदं मुक्त्वा चारित्रं श्रयत"।

इति केवलिमुखाद्धर्मं श्रुत्वा *मानतुङ्ग*नृपान्वितो *राजशेखरराजा* प्राह - 'हे स्वामिन् ! धर्मनृपदूतेन सुबोधेन सुदर्शनचूर्णमावयोर्दत्तम्, यस्मादिदं संसारसुखं साक्षाद् अस्थिरं वीक्षावहे। मोहान्धो जीवोऽसारमिन्द्रजालाभं च संसारं नैव वेत्ति, किन्तु आवां त्वधुना तं दुःखावहं जानन्तौ त्यक्त्वा संयमं वाञ्छावः'। ततः केवली प्राह - 'भो नृपौ! युवयोरद्य कल्याणं, यतश्चरणेच्छाऽजनि। किन्तु विलम्बं परिहृत्य इदं शीघ्रं ग्राह्यम् । यतो दुर्जयो हीन्द्रियग्रामः, मनश्च पवनवच्चञ्चलम्' । ततस्ताभ्यां *मानतुङ्गराजशेखर*नृपाभ्यां *जयो* भूपोऽजल्पि - 'हे नरेन्द्र ! त्वमावां गेहगुप्तिगृहापदो निस्तारय, यथा आवाम् ईप्सितं साधयावः' । तदा *जय*नृपेण तौ प्रोक्तौ - 'अधुना ममाभिग्रहः, अतोऽहं तु प्रागपि स्वं राज्यं त्यक्तुकामो युवयो राज्यं किमु लामि ?' । ततस्त्रयोऽपि ते भूपाः पुण्याधिकं *कुसुमायुधं* विज्ञाय राज्यत्रयस्येशं कृत्वा केवलिपार्श्वे चारित्रं ललुः । *प्रियमती* राज्ञ्यपि व्रतमङ्गीकर्तुं समुत्सुका बभूव, परं पत्युः पितुरमात्यस्य च वचोभिर्बालभूपालपालिनी स्थिता ।

अथ *कुसुमायुध*भूपो जनकराज्ये गत्वा तेजःपुञ्जमयः शरद्रविरिवाऽन्वहं रेजे । विनीतमन्त्रि-सामन्तकृतराज्याङ्गचिन्तनो वृद्धिं समृद्धिं च प्राप्तः सुखसागरे निमग्नः । सद्गुणग्रामधाम्नस्तस्य *कुसुमायुध*भूपतेः शुभ्रं यशः कुत्रापि स्थानमप्राप्य रुषेव जगत्त्रये प्रससार । सर्वसारर्द्धिसंयुक्ते प्राज्ये राज्येऽस्य मनस्तथा न हि

रज्यते यथा जनकाचीर्णेऽर्हन्मते रमते । पुनर्यथाऽर्हतां पूजा-यात्रा-स्नात्रादिकेऽयमुद्यतः, तथा गीत-सङ्गीत-नृत्योद्यान-यानादिकेलिषु नाऽरमत । तस्य राज्ये आबालगोपाला भट्टाश्च अर्हद्गुणैर्बद्धमेव गीतकं गायन्ति, नाऽपरं रसनामलिनकारकम् । निष्कलङ्के पूर्णवृत्तकेऽस्मिन् नृपे सति अपूर्वचन्द्रवद् मिथ्यात्वतमो द्राग् दूरमगमत् । अथ *राजशेखर*राज्ञः सल्लक्षणा सुरूपा या *कुसुमावली* सुता स्मृता, साऽस्य राज्ञो गेहिनी देवीव सौन्दर्यवती पट्टदेवी बभूव, तया सार्धं सुखं भुञ्जानस्य नृपस्य बहुकालो गतः।

अथ *जयसुन्दर*देवो विजयविमानाच्च्युत्वा *कुसुमावली*-राज्ञीगर्भे पुत्रत्वेन समुत्पेदे, तदा सा स्वप्ने निर्धूमं वह्निमैक्षत । प्रातस्तूर्यौघैर्बोधिता सा स्वामिनोऽग्रे तद् व्यजिज्ञपत् । राज्ञा प्रोक्तम् - 'तव पुत्रो भविता' । तत् श्रुत्वा सा परं प्रमोदं प्राप, पूर्णयात्रादिदोहदा च गर्भं पालयति । अन्यदा सा प्रशस्तेऽह्नि गुणश्रिया चित्रं पुत्रं प्रासूत । ततः *कुसुमायुध*भूपेन रम्यं वर्द्धापनं कृतम्, मासे च गते *कुसुमकेतुः* इति स्वनामार्द्धयुतं नाम ददे । क्रमेण स समग्राभिः कलाभिः रूपेण यौवनारम्भेण बलेन च जने प्रसिद्धिं प्राप्तवान् ।

अन्यदा *मथुरेशमहाकीर्त्ति*भूपाऽमात्येन *महाबुद्धि*नाम्ना *कुसुमायुध*भूपो विज्ञप्तः - "हे देव ! अस्मत्स्वामिनो विशिष्टभा *मनोरमा*दिका अष्टौ कुमार्यः सन्ति, परं विद्यामदात् कञ्चित् कुमारं नेच्छन्ति । एकदा ताः पितुः पुरो मागधोक्तमद्भुतं श्लोकयुग्मं शुश्रुवुः । यथा -

प्रोक्तं प्रेम रतेः सारं, प्रेम्णः सद्भाव एव हि ।
प्रेम-सद्भावमुक्तानां, रतिर्भवति कीदृशी ? ॥११॥

धनेनैव हि साध्यन्ते, तदर्थिन्यः पणाङ्गनाः ।
कथं ताभिस्तु गृह्यन्ते, छेकाः सद्भावभाविताः ? ॥१२॥

तत् श्रुत्वा विस्मितास्यो नरेश्वरः प्राह - 'अहो ! साभिप्रायः कविः' । ततो मागधेनेति विज्ञप्तम् - 'हे प्रभो ! सावधानः शृणु, महाराज*कुसुमायुध*भूभुजः कुलाभ्रचन्द्रः सर्वकलाम्बुधेश्च सेतुः *कुसुमकेतु*नामा नन्दनः कविताब्धिचन्द्रमाः, तेन कृताविमौ श्लोकौ'। इति श्रुत्वा ताः सर्वाः कुमार्यः क्षणाद् मदनाग्निना दीप्ताः । तदभिप्रायं विज्ञाय तत्तातेन मन्मुखात्प्रोक्तम् - 'एता निर्गुणा गुणाब्धिना त्वत्पुत्रेण समा न वर्त्तन्ते, परमासामेको गुणो वर्त्तते यत् सत्सङ्गलालसा एता अस्मिन् कुमारे रक्ता अपरं नरं नेच्छन्ति । ततो हे महापुरुष ! हृदि कृपां कृत्वा *कुसुमकेतुः* कुमारः सर्वथा प्रेष्यः, तासां च निर्वृतिः कार्या' । अन्यच्च, कुवलयोल्लासी [1]सकलः अम्बरालङ्कारश्च ईदृशः सोमः, किन्तु ईषत्ताराभिरावृतो राजा स्यात्। [2]सदानो वनसंस्थो [3]लसत्करोऽनेकपोऽपि[4] हस्तिनीभिर्वृतो यूथनाथत्वं लभते। तथैव युष्मत्पुत्रः सर्वगुणसम्पन्नोऽपि यदाऽस्मत्स्वामिमहाकीर्तिनृपस्याऽष्टानां कन्यानां स्वामित्वं प्राप्स्यति तदैवोत्तमराजत्वमाप्स्यति । हे महाराज ! मद्वचनेषु युक्तमयुक्तं वा यद् भासते तद्वाच्यम् । अथवा युक्तायुक्तविचारे देव एव नः प्रमाणम्"। इत्युक्त्वा तस्मिन् विरते सति *कुसुमायुध*नृपोऽभ्यधात्-"हे मन्त्रीश!

1. कलासाहितः । 2. मदसहितः । 3. दीप्यमानशुण्डः । 4. हस्ती ।

*श्रीमहाकीर्त्ति*भूभुजा युक्तमुक्तं, परमयं मम सुतो यौवनेऽपि सरागो नैव वर्त्तते, सहास्यं नो वक्ति, वक्त्रं न मोटयति, अङ्गविक्रियां न करोति, नाऽतिविभूषां विरचयति, न च स्त्रीकटाक्षान् वीक्षते । क्रीडासुखेषु विमुखः, विषयेषु विरागवान्, केवलं योगिवत् कुमारः [1]शब्दब्रह्मणि निष्णातः, ततस्तच्चित्तं न वेद्मि । किन्तु पूज्याज्ञापालनं व्रतं तस्याऽस्ति, तेन कदाचिद् ममादेशं कर्त्ता" । इति यावत् *कुसुमायुध*नृपो वक्ति, तावद् वेत्रिणा आगत्य प्रोक्तम् - 'प्रभो ! *साकेतपुर*पत्तनात् *सुगुप्त*नामा *रविसेन*नृपामात्य आगतः, ततो देवः प्रमाणम्' । राज्ञोक्तम् - 'तं प्रवेशय' । ततो दौवारिकप्रेषितः स आगत्य नृपमनमत् । ततो विज्ञप्तं तेन - "हे देव ! अस्मत्स्वामिनोऽष्टौ [2]सुदारिकाः सन्ति, परं ता नृवैरिण्यः प्रभूतैरपि राजसुतरूपकैर्न रञ्जिताः, किन्तु त्वत्पुत्ररूपकं प्रेक्ष्य तथा कामेन ताडिता यथाऽनेन विना स्वस्था नैव भवन्ति । ततो *रविसेनेन* भूभुजा वः पार्श्वे प्रेषितोऽस्मि । ततो हे नाथ ! कारुण्यामृतसागरान् युष्मान् विज्ञपयामि-तत्र कुमारं प्रेष्य तासां जीवितसंरक्षणं कार्यम्"। तत् श्रुत्वा नृपोऽपि पूर्ववद् यावत् किमपि वक्ति, तावद् *वत्सा*धिपस्य *सुभणिता*भिधो दूतो भूपं भक्त्या नत्वा बभाणः - "हे देव ! सप्रेम *जयतुङ्ग*नृपेणेति विज्ञप्तम् यथा गुणैर्धन्या विज्ञाश्च मम षोडश कन्याः सन्ति, तासां पतिः कालज्ञेन *कुसुमकेतुः* कुमारः प्रोक्तः, तस्मान्मयि अनुग्रहं विधाय कुमारः प्रेष्यताम्" । इति *कुसुमायुध*राज्ञा निशम्य सम्मदादचिन्ति -' एकः कुमारः, विवाहदिवसोऽपि त्रयाणामयमेकः। त्रिषु तुल्येषु भूपेषु चैकस्मिन् मानिते उभौ दूषितौ भवतः, एवं

1. शब्दज्ञाने-शास्त्रे । 2. सुपुत्र्यः ।

सति निषेधोऽत्र त्रयाणामपि सुन्दरः स्यात्' । इति स्वचित्ते चिन्तयन् *महाबुद्धि*सुमन्त्रिणा प्रोक्तः - 'हे धराधीश ! ईदृशी लग्नशुद्धिः द्वादशाब्द्याऽपि दुर्लभा, ततोऽत्रागताः सर्वा अपि ताः कुमारेण तल्लग्नदिने परिणीयन्ताम्' । तत् श्रुत्वा राजाख्यत् - 'त्वं *महाबुद्धि*र्नामतः परिणामतोऽपि च' । तदा अशेषैर्धीसखैस्तच्च 'साधु साधु' इति सम्यक् शंसितम् । अथ गम्भीरभाषया *कुसुमायुध*राज्ञा ते त्रयो दूता [मन्त्रिणः] भणिताः - 'भो भोः ! युष्माभिः स्वस्वस्वामिनस्तथा वाच्या यथा मयि सुस्नेहाः स्युः । अत्रोदिते दिने सर्वाः कन्याः स्वयंवराः प्रेष्याः । इदं शास्त्रे लोकेऽपि च कदाप्यनुचितं नैव वर्त्तते'। ततस्ते त्रयोऽपि दूता गत्वा स्वस्वस्वामिनस्तद् व्यजिज्ञपन्। तैरपि हृष्टैः बहुमतं कृत्वा अनेकगजराजिवाजिवृन्दैः स्यन्दनसहस्रैः सुभटलक्षै रूप्य-मणि-कनककोटिभिः बहुदासीभिश्च संयुताः सर्वास्ताः कन्याः प्रहिताः । ततः *कुसुमकेतु*कुमारोऽपि तातोक्त्या एताः परिणीय *दोगुन्दुक*देववद् अभिरामे सुखसागरे सुचिरं रेमे ।

अथ *कुसुमायुध*राज्ञो व्रतोदयं ज्ञात्वाऽवधिज्ञानी सूरिपदारूढः *सुन्दराचार्यः पुरन्दरादिकैः* पञ्चशतैः शिष्यैः परिवृतः समागतः। तदा 'हे देव ! भाग्योदयेन भवत्पुरोद्याने *सुन्दराचार्यः* समवसृतः' इत्यारामिकमुखान्निशम्य हृष्टो राजा तस्येच्छाधिकं दानं दत्त्वा सर्वर्द्ध्या पुत्रा-ऽन्तः पुरपरिवृतो वन्दितुं गतः । तत्र च शमसम्पन्नं सूरीन्द्रमालोक्य भक्तितः प्रणम्य प्रफुल्लास्यो निषण्णोऽग्रे। आचार्योऽपि तमुद्दिश्य धर्मोपदेशं चकार । यथा -

।। सुन्दराचार्यस्य देशना ।।

रम्यं रूपमरोगता सुभगता कान्ता मनः कामिता[1],
चक्रित्वं त्रिदशेश्वरत्यमिति या कामार्थयोः संस्थितिः ।
त्रैलोक्याधिपतित्यमप्यनुपमं मोक्षोऽपि यस्माद्भवेद्,
धर्मस्तेन जिनेश्वरैरिह चतुर्वर्गाग्रणीर्गण्यते ॥१३॥

लक्ष्मीर्येश्मनि [2]भारती च यदने शौर्यं च [3]दोष्णोर्युगे,
त्यागः पाणितले सुधीश्च हृदये सौभाग्यशोभा तनौ ।
कीर्त्तिर्दिक्षु सपक्षता गुणिजने यस्माद् भयेदङ्गिनां,
सोऽयं वाञ्छितमङ्गलायलिकृते धर्मः समासेव्यताम् ॥१४॥

निर्दन्तः [4]करटी हयो [5]गतजयश्चन्द्रं विना [6]शर्वरी,
निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलं छायायिहीनस्तरुः ।
रूपं [7]निर्लयणं सुतो गतगुणश्चारित्रहीनो यति–
र्निर्देयं [8]भयनं न राजति तथा धर्मं विना मानवः ॥१५॥

"हे राजन् ! ये संसारे संयोगास्ते वियोगदाः, ये च मातृ–पितृ–पुत्र–कलत्रादयः सम्बन्धास्ते स्वप्नसन्निभाः, एवं सति सत्त्वानां सद्धर्मसेवनमेव श्रेयः । हे राजन् ! भोगा अपि त्वया भुक्ताः, चिरकालं राजशब्दोऽपि निर्मलस्त्वया व्यूढः, पुनरपि त्वया प्रणयिनां दीर्घकालं निर्वृतिः सम्पादिता । ततो हे राजन् ! भुक्तसारं राज्यं

1. चित्तेष्टा । 2. सरस्वती । 3. भुजयोः । 4. हस्ती । 5. वेगरहितः । 6. रात्रिः । 7. लावण्यरहितम् । 8. मन्दिरम् ।

त्याज्यं, व्रते चाधुना त्वया यतनीयं, यतः *पूर्णभुक्तस्य सतः पत्रलेहनं नोचितम्*" । इति सूरिसूक्तिसुधाधारासारसिक्तो राजा स्वचेतसि व्यचिन्तयत् - "एते पूज्या मे एकान्तहिताः, अथवा सन्तो जगतीदृशा एव स्युः । यतो मेघाः परोपकारार्थं वर्षन्ति, सूर्यः परोपकारार्थमन्धकारं हरति, मृगाङ्कः परोपकारार्थममृतं झरति, परोपकरणव्रताश्च वृक्षाः फलानि ददते, तद्वद् मुनयोऽपि वत्सलाः। यतः -

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः
सुहृत् स्वामी माद्यत्करि-भट-रथा-ऽश्वाः परिकरः ।
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं,
गुरोर्धर्मा-ऽधर्मप्रकटनपरात् कोऽपि न परः ॥१६॥

एष गुरुस्तु विशेषतो ममोपकर्त्ता, यतः शैशवे मम राज्यदाता, साम्प्रतं च भवाद् मोचयिता । परमहं महान्मूढः, यः पित्रा दर्शितेऽपि सुखाध्वनि विषयामिषलुब्ध इयच्चिरं न प्रवृत्तः, यतो मोहान्धा मादृशाः पुरुषा दुःखनिबन्धने राज्यबन्धने कूटपाशे मृगवत् स्राक् पतन्ति । किं बहुना ? अधुनैवाऽस्य सद्गुरोर्वचः कुर्वे, येन भवाब्धिः सुखेन तीर्यते" । इति संवेगिना राज्ञा गुरुः प्रणत्य भणितः - "ममाऽकारणबान्धवा गुरवो यदादिशन्ति तदहं स्वहितार्थी निःशङ्कमानसोऽवश्यं कुर्वे । यतः -

धन्यानामपि धन्योऽहं, यस्य तुष्टाश्च सूरयः ।
मन्दिरे मन्दपुण्यानां, स्वर्णधारा भवेन्न हि ॥१७॥

धन्यानां सुप्रसन्नाश्च, जरा-मरणरुग्हरम् ।

गुरवः सुखदं दद्यु-रुपदेशमहौषधम् ॥१८॥

ततो हे स्वामिन् ! कुमारमधुनैव राज्ये संस्थाप्य सदा हृद्यं सर्वथा च निरवद्यं संयमं भवत्पादान्ते ग्रहीष्ये" ।

ततः सूरीन्द्रेणाऽप्यनुज्ञातो गृहे गत्वा *कुसुमकेतु*कुमारमासने चोपवेश्य जगौ - 'हे वत्स ! त्वं राज्यं गृहाण, अहं तु सद्गुरुसमीपे चारित्रं गृह्णामि' । तत् श्रुत्वा पुत्र उवाच - "हे तात ! ज्ञाततत्त्वस्य इदं चारित्रं सङ्गतं, किन्तु अहं तव मुखमनालोकयन् रतिं न विन्दे। यस्मिन् राज्ये इन्दुसुन्दरं ते मुखं मुहुर्मुहुश्चेन्न वीक्षे, तेन राज्येन मे किम् ? तैरङ्गनाभोगयोगैरपि किम् ? । किञ्च, यथा सुप्तं प्रियं पुत्रं प्रज्वलद्गृहे त्यक्त्वा अतुच्छस्वच्छवृत्तीनां पलायनं हे तात ! न शोभते, तद्वद् भीमे भवारण्ये मुग्धमृगबालवद् मां मुक्त्वा दुःखदावाग्नितप्तोऽपि त्वं निर्गन्तुं नाऽर्हसि" । ततः संयमोन्मुखं सुतं नृपः प्राह - "हे वत्स ! अत्यन्तं दान्तेन्द्रियगणस्य ज्यायसश्च पुंसः प्रायः संयमः सुकरो भवेत् । हे पुत्र! अद्यापि त्वं बालः, वातान्दोलितकेतुवच्चलं चित्तं क्षमयोज्झितश्चिरं रोद्धुमक्षमः । ततो हे वत्स ! सकलान् विलासान् कृत्वा रणक्रीडां च विधाय पूर्णेच्छः प्रान्तकाले जितेन्द्रियस्त्वं प्रव्रजेः" । इति माता-पित्राद्यैः प्रोक्तोऽपि निश्चलात्मा सुतोऽवदत् - 'हे तात ! यथा मन्दा अपि तारकाः प्रौढतारकैर्गृहीतास्तरन्ति, सङ्ग्रामे शूरनिश्राः कातरा अपि युध्यन्ते, सार्थवाहस्य च सार्थे निःसत्त्वोऽपि महारण्यं गाहते, तथा ममैकान्तवत्सलस्तातः करालम्बं दास्यति चेत् तदा बालोऽपि दुर्गमे शीलशैलेऽहमारोक्ष्यामि । समग्रे भुवनोद्याने चरन्नपि मनःकपिर्योगिभिर्ज्ञानशृङ्खलया बद्धः स्थिरो भवति' । एवं तं

संयमैकचित्तं विज्ञाय *कुसुमायुध*भूपेन द्वितीयपुत्राय *देवसेन*कुमाराय सद्दिने राज्यं दत्तम् । ततः संवेगरङ्गतरङ्गितः *कुसुमायुधः कुसुमके*-त्वाद्यैः पञ्चशतैर्नरै राज्ञीभिर्द्वात्रिंशता च स्नुषाभिः परिवृतः, जिनचैत्येषु कृतमहापूजासत्कारो, वाद्यैर्बधिरिताम्बरः, सहस्र नरवाहिन्यां शिबिकायां संस्थितः, ससेनेन च देवसेनभूभुजाऽनुयातो गुरुसमीपे प्राप्तः । ततश्च सूरीन्द्रेण विधिना ते दीक्षिताः ।

अथ *कुसुमायुध-कुसुमकेत्वोः* संवेगसुधया सिक्तः संयम-द्रुमस्तथा प्रौढिं प्राप्तो यथा हृन्निर्वृतिच्छायाकरोऽभूत् । यतः-

या षट्खण्डमहीजयस्य समये नासादिता चक्रिभि-
र्या दर्पोद्धुरकन्धराऽरिमथने प्राप्ता न या भूधवैः ।
या प्राप्ते प्रियसङ्गमे विरहिणा केनापि नो वेदिता,
सा लब्धा किल राग-रोषविजयात्ताभ्यां मनोनिर्वृतिः ॥१९॥

अथ यत्तपः पिता कुर्यात् तदेव सुतः कुरुते, स्नेहसम्बद्धौ तौ एकत्र तिष्ठतश्चरतश्च । ततोऽन्यदा तौ गुरुणा भणितौ - "भो मुनी ! भवचारकाद् निस्सृतानां स्नेहसङ्घट्टनं कर्त्तुं न युक्तं, यतः शिवाऽध्वयायिनां तपस्विनां स्नेहो वज्रशृङ्खलैव । स्नेहान्मथ्यते दधि, स्नेहतस्तिल-सर्षपाः पीड्यन्ते, रागान्मञ्जिष्ठा कां कां पीडां नाप्नोति ? । यतः -

[1]कंदुक्खणणं नियदेसछंडणं खंडणं च कढणं च ।
अइरत्ता मंजिट्ठा, किं दुक्खं जं न पावेइ ? ॥२०॥

1. कन्दोत्खननं निजदेशमोचनं खण्डनं च क्वथनं च ।
अतिरक्ता मञ्जिष्ठा, किं दुःखं यन्न प्राप्नोति ? ॥

हे साधू ! गुरुकर्मपरोऽविज्ञातधर्मा जनो दूरे तिष्ठतु, परं भवसिद्धिका अपि सस्नेहाः कैवल्यं नैव लभन्ते । मातृ-पितृ-सुत-स्त्र्याद्या ये सुहृदो ये च रिपवोऽपि, ते एकैकस्याऽप्यनन्तशः स्वजनत्वमरित्वं च गताः । कैश्चित् केचिज्जीवाः क्षुधातो भक्षिताः, रोषाद् हताः, स्नेहाच्च पालिताः, ततो विज्ञाततत्त्वानां रागो रोषश्च कर्त्तुं न सङ्गतः" । ततस्तौ ऊचतुः - 'हे भगवन् ! आवयोर्ज्ञात-भावयोरपि मिथः स्नेहो यन्न याति, तत्कारणं गुरव एव विद्युः' । ततो गुरुभिस्तयोः पूर्वभवसम्बन्धः सर्वोऽपि कथितः । उक्तं च - 'युवयोः प्रतिजन्म स्नेहश्चिरं पोषितः, तेन कृत्वा दुस्त्यजोऽस्ति। किन्तु मोक्षसुखविघातकोऽयं रागः, ततस्त्यक्तुमेव युक्तः' । इति गुरुमुखात्स्वं चरित्रं श्रुत्वा जातजातिस्मृती उभावपि मनसो ममतां मुक्त्वा नित्यं पृथग् विहरतः ।

अथ महासत्त्वः *कुसुमायुधो* मुनीन्द्रो गुरोर्गिरा तीव्रामेकाकि-प्रतिमां प्रतिपन्नः । भीषणे श्मशाने शून्यगारे पर्वतोपरि तरोस्तले च [1]हरि-करिभ्योऽपि निर्भीर्ध्यानलीनो वसत्यसौ । यत्र सूर्योऽस्तं याति, तत्रैव व्युत्सृष्टकायो निःशङ्को रुद्र-क्षुद्रभयोज्झितोऽयं ध्यानं धरति । विरसाहारैः शरीरं ध्यानेन च कर्माणि शोषयन् मेरुरिव स्थिरोऽसौ अन्यदा *सुभौमाख्ये* ग्रामे प्राप्तः, तत्र च रात्रौ कस्मिंश्चित् शून्यागारे धर्मध्यानं चकार । अथ मध्यरात्रे कस्यचित्प्रमादात् तस्मिन् ग्रामे प्रदीपनमभूत्, स चाऽग्निर्ग्रामं प्रज्वलयन्ननुक्रमेण तत्र शून्यगृहेऽपि लग्नः, तथापि कृतध्यानप्रतिज्ञोऽसौ महर्षिस्त-दुपसर्गान्न पलायितः, शुभभावनासक्तश्च शुक्लध्यानसमाहितो मृत्वा

1. सिंह-हस्तिभ्यः ।

सर्वार्थसिद्धाख्येऽनुत्तरविमानके सुरोत्तमोऽभूत्। प्रातस्तं महामुनिं प्रज्वलितं वीक्ष्य खेदमेदुरा ग्राम्या आत्मीयं दुःखं विस्मृत्य एवमशोचन्- 'हा हा ! अयं महात्मा गेहात् केनापि न निष्काशितः, इतश्च घोराद् दुष्कृताद् वयं कलङ्किनो जाताः' । इति सुचिरं पापं संशोच्य तस्योचितां क्रियां कृत्वा उद्विग्नमनसः शनैः शनैः स्वस्वकार्येषु ते लग्नाः ।

अस्मिन्नवसरे *श्रीसुन्दराचार्यस्य* केवलोत्पत्तिर्जाता, विस्मयतत्परैश्चासन्नदेवैः पूजा विहिता । स च *श्रावस्ती*पुर्यां *सुदर्शने* कानने सुररचितकनककमलोपरि स्थितो धर्मदेशनां करोति । अस्मिन्नवसरे वेलां लब्ध्वा स सोत्कण्ठं *कुसुमकेतु*मुनिना पृष्टः - 'हे भगवन् ! इदानीं कुत्राऽयं *कुसुमायुध*महामुनिर्विहरति ?' । तदा तस्य वृत्तान्तमावेद्य केवलीति प्राशंसत् - 'तस्य *कुसुमायुध*-राजर्षेः सज्जीवितं येन महर्षिणोपसर्गेऽपि स्वहितं साधितम् । हे मुने ! संयमः किल सुप्रापः, दुर्लभा पुनराराधना भवति । तस्माद् हे महाभाग ! न शोच्यं, त्वमचिरेण निश्चितं तेन मिलिष्यसि । भवद्भ्यां हि तीर्णप्रायो भवोदधिः' । इति केवलिना प्रोक्ते वैराग्यात् *कुसुमकेतु*र्मुनिः सूरिणाऽनुमतः संलेखनामकार्षीत्, तया चाऽस्थि-चर्मावशेषाङ्गो द्रव्य-भावशल्यान्युद्धृत्य सद्गुरोर्गिरा स पादपोपगमन-मनशनं प्रपन्नः। निष्प्रतिकर्मदेहश्चाऽसौ महामुनि : पञ्चविंशतिवासरैः कालं कृत्वा तत्रैव सर्वार्थसिद्धे महाविमाने देवोऽभूत् ।

शमाम्भोधिमग्नौ सदाऽध्यात्मलग्नौ,
वियोगेन मुक्तौ सुसन्तोषयुक्तौ ।

त्रयस्त्रिंशता सागरैर्देवभावं,
चरित्वा वरागण्यपुण्यस्वभावम् ॥२१॥

अनन्तभवसम्भवानाम-नित्यतां ज्ञानतश्च पश्यन्तौ ।
तावद्भुतसुखं भुक्त्वा, च्युत्वा सिद्धिं गमिष्यतः ॥२२॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते
श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे गद्यबन्धे कुसुमायुधनृप-
कुसुमकेतुसुतभववर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥

एकादशः सर्गः

हरिसिंहः	-	अयोध्यानृपः, पृथ्वीचन्द्र-पिता
पद्मावती	-	हरिसिंह-पत्नी
पृथ्वीचन्द्रः	-	हरिसिंह-पुत्रः
विजयदेवः	-	पृथ्वीचन्द्र-मातुलः
ललितसुन्दरी	-	विजयदेव-पुत्री
रत्नसंचयः	-	श्रेष्ठी (गुणसागर-पिता)
सुमङ्गला	-	रत्नसंचय-पत्नी
गुणसागरः	-	रत्नसंचय-पुत्रः

एकादशः सर्गः

(एकविंशो भवः)

जयत्यर्हन्मताम्भोधि-र्गाम्भीर्येणातिशोभितः ।
गृहीत्वा शीलरत्नानि, सन्तः स्युः सुखिनो यतः ॥१॥

अथ *श्रीजम्बूद्वीपे भरत*क्षेत्रे *वैताढ्या*दक्षिणार्द्धभरते मध्यखण्डे श्रिया पेशले *कोशलदेशे* सद्दान-मान-सन्तान-गीत-नृत्य-विशेषतः स्वर्गपुरीतो गरीयसी शत्रुभिश्चाऽयोध्या *अयोध्या* नगर्यस्ति, यस्या रचना प्रथमस्याऽर्हतो राज्यसमये हरेर्वचनात् सुरैर्व्यधीयत । तस्याम*योध्यायाम्* अरिकरिदारणसिंहो *हरिसिंहो* महीन्द्रोऽभूत्; यो जनतानां तु जनकः, धनार्थिनां धनदः, शत्रूणां नाशकः, स्वाश्रितानां च सुरद्रुमः । तस्य राज्ञो नेत्रपद्मपराभूतपद्मा *पद्मावती* प्रिया वर्त्तते, या देवीव सुधाहारविराजिनी । वारितान्यप्रवेशां तां पृथ्वीमिव भुञ्जानस्य तस्य राज्ञो दिवि देवेन्द्रवत् कियान् कालो गतः ।

अथ सर्वार्थसिद्धमहाविमानतः *कुसुमायुधनिर्जर*श्च्युत्वा तस्याः *पद्मावत्या* देव्याः कुक्षौ लक्ष्म्यां स्मर इव पुण्याकीर्णोऽवतीर्णः । ततः सा राज्ञी शय्यायां सुप्ता सती रजन्याः पश्चिमे प्रहरे सुर-सुरीभृतं महामानं विमानं स्वप्नेऽ-पश्यत् । तदा प्रबुध्य मुदिता सा स्वपतेरुत्तमं स्वप्नमाह । तेनाऽप्युक्तम् - 'हे देवि ! ते पुत्रो भविष्यति' । तत् श्रुत्वा सा शुभं गर्भमपालयत् । सम्पूर्णपुण्यप्रौढमनोरथा सा नवमे मासि प्रशस्येऽह्नि सबले लग्ने गुणाद्भुतं सुतं प्रासूत । ततः *प्रियङ्गुलेखया* दास्या गत्वा मुदा नृपो वर्धापितः । नृपोऽपि लोकानां विस्मापनं

वर्द्धापनं समादिशत् । क्रमाद् जन्मतो मासे गते सति तस्य पुत्रस्य जन्मनि पृथ्व्यां महानन्दोद्योतनात् पिता सन्मुहूर्ते स्वजनसाक्षिकं *पृथ्वीचन्द्र* इत्यभिधां ददौ ।

अथ पञ्चभिर्धात्रीभिः पालितः जातिस्मृत्या च सचेतनः स *पृथ्वीचन्द्रः* क्रमात् कामक्रीडावनं यौवनं प्राप । परं यौवनेऽपि स नाऽतिभूषां केलिक्रीडां च करोति, न च हसत्यपि, न च विलसति। प्रायः प्रशान्तो वीतरागवद् नारोहति गजान्, न चाऽश्वान्, न चायुधमभ्यस्यति, केवलं स्नाना-ऽलङ्कार-माल्यानि व्यवहारतः कुरुते। भक्तोऽर्हच्चैत्य-पित्रम्बा-साधु-साधर्मिकादिषु । ततो नृपस्तस्य विरक्तावस्थां दृष्ट्वा हृदि दध्यौ "कथं ह्येष भोगे लगिष्यति ? । अथवा कन्यां विवाहितः सन्नसौ सर्वं स्वयमेव करिष्यति । *तावत् किल जनो धर्मी यावन्न भ्राम्यते स्त्रिया ।* यतः -

[1]करिणो सिणीहि वग्गाहि वाइणो गोसुया वि नत्थाहिं ।
कीरन्ति वसे पुरिसा, मराललीलाहि बालाहिं ॥२॥

इति ध्यात्वा *हरिसिंहेन* राज्ञा निजमन्त्रिणो *जयपुरे* प्रेषिताः। तैश्च तत्र गत्वा कुमारमातुलो *विजयदेव*राट् प्रार्थितः । तेन तु पुरा प्रतिपन्ना *ललितसुन्दरीनाम्नी* कन्याऽन्याभिः सप्तभिः कन्याभिः सह सर्वसामग्र्या प्रेषिता । क्रमेण ता *राजपुरं* गताः स्वमातुलं राजानं द्रष्टुम् । ततो मातुलराज्ञाऽपि *कनकवत्याद्या* निजा अष्टौ

1. करिणः सृणिभिर्वल्गाभिर्वाजयो गोसुता अपि नस्ताभिः
(नासिकारज्जुभिः) क्रियन्ते वशे पुरुषा, मराललीलाभिर्बालाभिः ॥

सुताः प्रेषिताः सबल-वाहनाः । क्रमेण ता *अयोध्यापुरीं* प्राप्ताः । भूभुजा भृशं सम्मान्य सुतोऽभाणि - 'हे वत्स ! महाराड्भ्यां सगौरवा इमाः षोडश कन्याः प्रेषिताः, ततः सर्वथा सर्वा विवाह्याः। एवं कृतेऽस्माकं निर्वृतिर्भवेत्' । तदा कुमारेणाऽनिच्छयापि तातागृहात् तत्प्रतिपन्नम् । ततो ज्योतिष्कगणनिर्दिष्टे सन्मुहूर्ते नृपेण हर्षोत्कर्षवशात् तद्विवाहमहोत्सव इति निरमायि। तद्यथा- साऽ*योध्या* तस्मिन् विवाहक्षणे आनन्दात् शृङ्गारहारिनर-नारीगणेन च उत्तीर्णत्रिदशव्राता जाता । पुनर्यत्र गीत-सन्नृत्य-वादित्रादि-महाद्भुतं पश्यन्तः चञ्चला अपि खेचरा निश्चलास्तिष्ठन्ति। गम्भीर-तूर्यनिर्घोषप्रतिशब्दरवच्छलाद् यत्र गायद्गगनाङ्गणं किमतुच्छमुत्सवं तेने ? । पुनर्यस्मिन् कर्पूरपुरसौरभ्यलुब्धभ्रमरसम्भवैः मञ्जुगुञ्जार-वैर्वसुन्धरा आनन्दाकुलाऽजनि । यत्र विवाहे आशीर्वादपरैर्मुदितैर-ङ्गनाजनैरुद्गीतैश्चर्चरीरासैः सर्वा पुरी रम्याऽभवत्। एवं जगज्जना-नन्दके महामहे जायमाने जितमारः *पृथ्वीचन्द्रकुमारो* निर्विकारो हृदि व्यचिन्तयत् "अहो ! असारे संसारे महामोहस्य गहनं माहात्म्यं दृश्यताम्, यस्मिन् मुधा ह्यज्ञाततत्त्वाः प्राणिनः कदर्थ्यन्ते, तथापि मोहाविष्टा नैवं जानन्ति, यद् गीतं प्रलपितं, तूर्यताडनं कर्णस्फोटः, सकलं नृत्यं ग्रहाविष्टकुचेष्टाभम् । यतः-

[1]सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबणा ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥३॥

1. सर्वं विलपितं गीतं, सर्वं नृत्यं विडम्बना ।
सर्वाण्याभरणानि भाराः, सर्वे कामा दुःखावहाः ॥

माल्य-विभूषाभरवहनात् खलु आत्मा खिद्यते, तथापि यः प्रकृत्याऽसुन्दरः स देहः सुन्दरो न स्यात् । ये च माल्याऽलङ्कार-वस्त्राद्याः सुन्दराः पदार्था दृश्यन्ते, तेऽपि अमेध्यपूर्णमध्यस्य देहस्य सङ्गाद् अशुचयो भवन्ति । उक्तं च -

वसा-[1]ऽसृग्-मांस-मेदो-ऽस्थि-मज्जा-शुक्रा[2]-ऽन्त्र-[3]वर्चसाम्।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य कुत्रतः ? ॥४॥

ततः- नवस्रोतःस्रवद्विस्र-रसनिःस्यन्दपिच्छले ।
देहेऽपि शौचसङ्कल्पो, महामोहविडम्बना ॥५॥

अस्मिन् संसारे कस्य कः सुतः ? कस्य वा को बन्धुः ? कस्य च कः प्रभुः ? यस्य कृतेऽनिशं प्रमुदितोऽयं जनो रमते । पित्रोरपि मोहः कीदृशः ? यतस्तौ स्नेहमोहितौ कियद्वर्षकृत-स्थितेर्मम कृते एवं खिद्येते । स्त्रियोऽप्यमूरङ्गाः, याः स्वान् माता-पितॄन् त्यक्त्वा मत्कृते किमागताः ? । अतो विज्ञाततत्त्वानां इह मोहमये भवे रन्तुं नोचितम् । किन्तु स्नेहातुरौ पितरौ क्षणमपि मद्विरहाऽसहौ, दूरादागता एता बाला अपि मुक्ता दुःखिताः स्युः, अत इदानीं प्रव्रजन्तं मां जडो जनो निन्दिष्यत्येव । इत्थं तातागृहात् कथमहं विकटे सङ्कटे पतितः ? । अथवा यद्यहं पितरौ एताश्च प्रियाः कथञ्चित् सम्बोध्य प्रव्रजेयं तदाऽधुनापि न किञ्चिदपि विनष्टम्, एवं च कृते सर्वेषामनुग्रहोऽपि स्यात्" ।

इति ध्यायन् कुमारो दिवाकृत्यं कृत्वा षोडशभिः प्रियाभिः सह वासवेश्मनि जगाम । तत्र भद्रासने कुमार उपविष्टः,

1. असृग्-रुधिरम् । 2. शुक्रं वीर्यम् । 3. वर्चो-विष्ठा ।

रत्नपट्टकेषु च ताः स्थिताः । प्रियाभिः परिवृतः कुमारस्ताराभिः कौमुदीन्दुवद् रेजे, परन्तु आत्तशमसन्नाहस्तत्कटाक्षैर्नाऽविध्यत् । सोत्कण्ठास्वपि तासु अमुं कुमारं मनाग् दृशमप्यददानं दृष्ट्वा *ललितसुन्दर्या*श्चेट्या विदग्धया प्रोचे-

लसत्कमलनेत्रासु, सरसास्यब्जिनीष्वपि ।
क्षिपेन्न हि दृशं हंसो, न विद्मः कारणं च किम् ? ॥६॥

तत् श्रुत्वा *ललितसुन्दर्या* प्रोक्तम् - 'हे हले ! जडताजुषामब्जिनीनां तादृशी नाऽर्हता, यया विदग्धो हंसो रज्येत'। तस्मिन्नवसरे ईषद् विहस्य *विष्णु*नाम्ना *बटुना* भाषितम् - 'यौष्माकीणः परिवारो विरक्त इव दृश्यते, ततो भोः स्वामिन् ! अमूषां मनसां निर्वृतिः क्रियताम् । तत् श्रुत्वा कुमारः प्राह - 'भो बटो ! सर्वोऽपि भवो वैराग्यकारणं, यस्मात् *केशव*बटुवत् प्राणिनो भवे कदर्थ्यन्ते' । ततो *बटुकेन* प्रोक्तम् - 'हे कुमार ! कोऽयं *केशवः* ?' । इति तेन पृष्टे कुमारः कथामकथयत् । तथाहि -

॥ केशवबटु-कथानकम् ॥

पुरा *मथुरापुर्यां* दुःस्थितः *केशव*नामा बटुरभूत् । तस्य कुटिला कुरूपा कलिकर्त्री च *कपिला* नाम प्रिया । उक्तं च -

पिङ्गाक्षी कूपगल्ला खरपरुषरवा स्थूलजङ्घोर्ध्वकेशी,
लम्बोष्ठी दीर्घवक्त्रा प्रविरलदशना श्यामताल्वोष्ठ-जिह्वा ।
शुष्काङ्गी संहितभ्रूः कुचयुगविषमा नासिकातीवदीर्घा,
सा नारी वर्जनीया पति-सुतरहिता भ्रष्टशीला च पुंसा॥७॥

तया समं विकराले कियत्यपि काले गतेऽन्यदा सा गुर्विणी जाता । ततस्तया भर्तुः प्रोक्तम् - 'घृत-गुडाद्यर्हं किञ्चिद् द्रव्यं समानय'। सोऽवक् - 'द्रव्योपार्जनं नाहं वेद्मि, त्वमेव कञ्चिदुपायं कथय' । ततस्तयोक्तम् - 'स्वर्णभूमिं गत्वा कर्म कृत्वा स्वर्णं समर्ज्य त्वरितमेतव्यम्' । सोऽपि तद्वचःपवनेरितस्तत्र गत्वा स्वर्णौघमर्जयित्वा द्रुतं वलितः । तस्मिन्नवसरे केनचिद् ऐन्द्र-जालिकेन दृष्टः, तथा पृष्टः । मूर्खेणाऽनेन बटुनापि तस्याग्रे समस्तोऽपि निजसद्भावोऽभाषि। ततस्तेन धूर्त्तेन विद्यया तरुणी विप्रकन्या तत्पितरौ च प्रदर्शितौ । ततो गाढानुरागिणा बटुना तस्याः पितरौ याचितौ । तदा तावूचतुः - 'दीनारसहस्रेण दीयते, नाऽन्यथा' । ततो बटुना दीनारा अर्पिताः, सा च कनी परिणीता। ततस्तेन धूर्तेन खाद्य-पेये अपि दर्शिते, तद् दृष्ट्वा बटुको हृदि मुदितः । अथ धूर्तः स्वर्णं लात्वा सकलं च संहृत्य पलायितः। तदा कन्यामपश्यन् बटुको विषण्णः । दध्यौ च - 'मम प्रिया केनाऽपहृता ? प्रियाचोरको यदि पाताले यास्यति तदा तत्रापि गत्वा तं हन्मि' । इति चिन्ताजराव्याकुलकम्पमानतनुर्भृशं सर्वत्र शोधयन् तस्याः प्रवृत्तिमपि नाप्तवान् । ततो विदेशेषु चिरं भ्रान्त्वा बुभुक्षा-तृट्-शीत-तापार्दितोऽर्थहीनः पूर्वभार्यां कपिलां हृदि स्मरन् दध्यौ - "अहो ! मया मूढेन कष्टेनोपार्जितं स्वर्णं मुधा हारितम्। यतः -

क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।
दन्ता दलन्ति कष्टेन, जिह्वा गलति लीलया ॥८॥

ममाऽदर्शनतो दुःस्था *कपिला* कथं भविष्यति ? । धनहीनो गृहे गन्तुं लज्जेऽहं, ततो हेमहेतोः पुनः स्वर्णभुवं यामि, अथवा विरहातुरप्रियान्तिके यामि" । इति चिन्तादोलान्दोलितमानसः क्वचिद् ग्रामे गतः, तत्र दैवात् केनापि दधिमिश्रितमोदनं भोजितः। ततोऽसौ न्यग्रोधवृक्षाधः सुप्तः स्वप्नमेवं ददर्श । यथा - "मया गृहाधस्तात् खनता रत्नैर्भृतं महद् भूमिगृहं लब्धं, ततो वर्द्धापनं कृतम् । स्वजनाः सर्वेऽपि भोजिताः । मिलिताः पौराः, सम्मानितो नृपः । तत्र नव्या प्रिया आगता, *कपिलया* च भृशं पूजितः" । इतश्च स रासभारावेण प्रबुद्धो निद्रयोज्झितो विचारयितुं लग्नः- 'अहो ! मद्धाम्नि वित्ताढ्ये कथमहं व्यर्थं भ्रमामि ?' । इति ध्यायन् पश्चाद् वलितः, क्रमेण हसिताननः स्वगृहेऽगात्। तं हसिताननं वीक्ष्य चिन्तितं *कपिलया* - 'नूनं भूरि स्वर्णं गृहीत्वाऽयमुपागतः'। इति मत्वा मुदा स्नानादिनाऽसौ सत्कृतः । यावत्किञ्चिन्नाऽदर्शयत् तावदाक्रोश्य भट्टिन्या प्रोक्तम् - 'अर्जितं द्रव्यं किं न दर्शयसि ? मामपि किं वञ्चयितुमीहसे ?'। ततो बटुना *केशवेन* प्रोक्तम् - 'मा उत्सुका भव, त्वन्मुखौज्ज्वल्यमहं करिष्ये, किन्तु उद्धारेण घृत-गुडादि सत्वरं लात्वा भव्यां रसवतीं कुरु । कल्ये स्वजनान् निमन्त्र्य सम्भोज्य च एतत्साक्षिकं कृतचित्तचमत्कारमर्जितं द्रव्यं दर्शयिष्यामि' । ततो भार्यया प्रोक्तम् - 'कियदस्ति ? मम तावद्दर्शय, यथा सम्पदां सम्मदाद्दर्शनं कुर्वे । यत उद्धारकेण लब्धं निर्वृतिं न कुर्यात्' । ततो बटुरुवाच - 'तदा द्रव्यं व्यवहितं सुहृत्पुर आविष्कारिष्ये, ततो हे प्रिये ! यदि श्रियमिच्छसि तदा मद्वचसि मा विलम्बस्व' । इति सावष्टम्भं तं ब्रुवाणं मत्वा विस्मितया

तया स्वजना आहूताः। सर्वोऽपि भोजनविधिर्निर्मितः । '*केशवो* बटुको देशान्तराद् उपार्जितविभवोऽद्य वर्द्धापनानि कुरुते' इति प्रवादतः कौतुकान्मिलिता लोकाः । अथ स बटुः स्वजनान् सम्भोज्य बद्धकच्छः कुद्दालं गृहीत्वा स्वप्नेक्षितां भुवमखनत् । स्वजनैरुक्तम् - 'किं त्वया प्रारब्धम् ?' । सोऽभणत् - 'सारभूतं मे द्रव्यमत्राऽस्ति' । आहुस्ते - 'केन निक्षिप्तम् ? कदा च स्थापितम्?'। सोऽवक् - 'तदहं न वेद्मि, किन्तु मयाऽमुकग्रामे वटच्छायासुप्तेन वीक्षितम्' । 'तर्हि तदैव त्वया किं न गृहीतम् ?' इति स्वजनैः पृष्टे स जडोऽब्रवीत् - 'रटता रासभेनाऽहं लातुकामोऽपि बोधितः' । तत् श्रुत्वा 'अहो ! अयं महामूढो यः स्वप्नवीक्षितं ग्रहीतुमिच्छति' इति कोलाहलात् सवैर्दत्ततालैः सोऽहासि । भार्ययाऽपि क्षारकर्दममुष्टीः शिरसि क्षिप्त्वा धिक्कृतः । तथाप्यसौ अज्ञः खननाद् मनागपि तावन्न हि विरतो यावत् कुड्यपाताद् भग्नकटिः दुर्दशां प्राप्तः" ।

।। इति केशवबटुकथानकम् ।।

इति बटुकवृत्तं श्रुत्वा मुक्तलज्जास्ताः 'खड खड' इत्यहसन्। अथ *पृथ्वीचन्द्रः* प्राह - 'हे बटो ! मां सत्यं ब्रूहि, इदं *केशवस्य* चरितं हास्यकरं भवेद् न वा ?' । हृष्टो *विष्णु*रवक् - 'हे स्वामिन्! इदं हास्यकरं निश्चितमेव। परं हे प्रभो ! अहं पृच्छामि, तेन तुल्योऽखिलः प्राणिगणः कथम् ?' । एवं पृष्टे *पृथ्वीचन्द्रः* कुमारः प्राह - 'भो भट्ट ! अयं संसारी जीवः *केशव*बटुकोपमो जडात्मकः कार्या-ऽकार्यं हिता-ऽहितं च न जानाति, चतुरशीतिजीवयोनि-

भवभ्रमणभिक्षयैव समयं गमयति । कर्मपरिणत्या वशीकृतस्तदादेशात् कदापि स्वर्णभूमिवद् नृयोनिमलभत । तत्र अकामनिर्जरया किञ्चित्सुकृतकाञ्चनं प्राप्तः । तस्मिन्नवसरे काममायिना मोहितो विषयकन्यायां लुब्धोऽष्टादशपापस्थानैः पाणिग्रहणं समाचरति । इति हारितसत्पुण्यस्वर्णो अपूर्णमनोरथो नारक-तिर्यग्-नर-नाकिभवरूपेष्वनेकदेशेषु ध्रुवं भ्राम्यति । पुनः कस्मिंश्चिद् भवरूपे ग्रामे केनचिद्धर्माचार्येण दयालुना तपोरूपदध्योदनदानात् स्वस्थीकृतो वटाभं प्रौढकुलं प्राप्य मोहनिद्रया शेते, तत्र स्वप्नतुल्येन प्रिययोगेण भोगेन मुह्यति । ब्राह्मणीरूपां च कर्मपरिणतिं स्मरन् इहागतः । अज्ञानाच्च असतीं सौख्यलक्ष्मीं निजे गृहे इच्छति । पश्य मोहस्य माहात्म्यं, येन गज-वाजि-कोश-भूमि-भृत्यपालनया श्रममपि अनन्यसामान्यसुखं मन्यते । तथाऽसृग्-मांस-मल-मूत्र-पुरीषा-ऽन्त्रपूरिते बहिर्वरे युवत्यङ्गे कामार्तो नरो निष्कामं रमते । पुनः कामानुरक्तः पुमान् चर्मा-ऽस्थि-स्नायुसम्बद्धं सदाऽसारं ललनावदनं शुचिना शारदेन्दुना तुलयति । पुनरधमो नरो मुखाऽश्रान्तस्रवद्विस्ररसं[1] दन्तमलाविलं कामिन्यधरौष्ठम् अमृतवद् मिष्टं मन्यते । पुनर्भोगाभिलाषी पुमान् कामिनीदन्तान् कुन्दकलिकाकल्पान् मन्यते । पुनः कामी जनो मांसग्रन्थिमयौ स्तनौ कनककुम्भवद् वक्ति । पुनश्चर्मा-ऽस्थिसंयुजौ भुजौ कङ्केल्लिपल्लवैस्तुल्यौ ब्रूते। [2]वर्चोगृहमिवाऽमेध्यं मध्यं वज्रमध्यवन्मन्यते । विष्ठानिधानं नितम्बं गङ्गापुलिनाभं जानाति। अस्थिभस्त्रे च जङ्घोरुयुगे [3]रम्भानुगे मनुते । रत्नादिसारशृङ्गारभूषितं मुनिदूषितं

1. विस्रं दुर्गन्धि । 2. वर्चो विष्ठा । 3. रम्भा कदली ।

योषितो देहं कामुकः सुरसुन्दर्या समं वेत्ति" ।

इति कुमारस्य सदुपदेशं श्रुत्वा गलद्रूपगर्वाः सर्वा अपि स्त्रियो दध्युः - 'सत्यमिदम्, अस्मादृशीनां नास्त्येव अङ्गचङ्गिमा । परं नराऽङ्गमपि तत्तुल्यं, तत्कथमार्यपुत्रः कान्ताः निन्दत्येकान्ततः?'। एवं यावच्चिन्तयन्ति, तावता कुमारोऽब्रवीत् - 'यथा स्त्रीभिः पुरुषा मोह्यन्ते, एवमेतादृशैः पुंसां देहैश्च किल महिलाः । परं द्वाराधिक्य-ऋतुदुर्गर्भधृति-दुष्प्रसूतिजैर्घनैर्दोषैः कामाऽत्यासक्त्या च स्त्रियोऽतिनिन्दिताः । जीवो विषयजं सुखम् असदपि वपुर्गृहे पश्यति । बान्धवसदृशैः साधर्मिकैर्बहुधा बोधितोऽपि नैव वेत्ति, ततो मर्यादाभित्तिं कुचेष्टारूपया कुश्या[1] भनक्ति । दुर्नयैरयशः-कचवरेण गुण्ठ्यते नरः, कर्मपरिणतिरूपया *कपिलया*ऽवहेल्यते, भग्नकटि*केशव*विप्रवच्च महादुःखे पात्यते। इति निर्विवेकाणां चरित्राणि निरीक्ष्य कस्य चेतसि वैराग्यं न जायते ?" । एवं माध्यस्थ्यं मत्वा तथा संसारासारतां च ज्ञात्वा ससंवेगाः प्रियाः प्रोचुः - 'हे विभो ! त्वया सत्यं प्रोक्तम्, ईदृगेव, किन्तु तत्त्यागे कारणं किम् ?' । ततः *पृथ्वीचन्द्रकुमारः* प्राह- 'भो भद्राः ! सद्गुरोर्धर्मसेवनं कुरुत । गुरुः पुनः स एव, यो भोगसौख्यैर्नैव लिप्यते' । तत् श्रुत्वा ता जगुः - "हे प्रभो ! स गुरुस्तु अस्माकं प्रबोधने त्वमेवाऽसि । वयं त्वद्गृहिणीशब्दतोऽद्य कृतार्था जाताः । भोगतृष्णा गताऽस्माकं, ततोऽधुना धर्मप्राप्तिं कारय । हे आर्यपुत्र! तवाऽपि वह्निना दीप्ते धाम्नीव ईदृशे भवे स्थातुं नोचितम् । अथवा त्वं स्वयं तत्त्वं वेत्सि, किमुच्यतेऽस्माभिः ?" । एवं ता वधूः प्रबुद्धा ज्ञात्वा मुदितः कुमारोऽवदत् - "युष्माकं विवेको वरः, तेन

1. कुशी - लोढानी बनावेली कोश ।

धर्माप्तिर्दुर्लभा नैव । यस्यास्तिक्यं वर्त्तते तस्य नृत्वसत्कुलला-भादिसामग्री सर्वापि सफला, मुक्तिरपि सुप्रापा । ततः सन्तुष्टा नमस्कारपरा दयार्द्राः सत्यभाषिकास्तावत्तिष्ठत, यावद्धर्मसाधना-वसरं लभामहे" । इति तद्वचनं ताभिः प्रतिपन्नम् । सर्वा अपि धर्मतत्पराः स्थिताः ।

अथ विष्णोर्बटुकात् सर्वं वृत्तान्तं ज्ञात्वा राज्ञा स्वचेतसि चिन्तितम् - 'स्त्रीभिर्नाऽसौ वशीचक्रे, किन्तु कुमारेणाऽमूः प्रति-बोधिताः ! । ततोऽयं राज्ये नियोज्यः, यथा व्यग्रो धर्मं त्यजेत्' । इति स्वाकूतं स देव्या अग्रेऽवदत् । तावत्तया विज्ञप्तम्- "हे प्रभो! अद्य रात्रौ मया स्वप्नो दृष्टः, यद्देवेन प्रमोदतोऽसौ कुमारो महोत्सवै-र्यावद् राज्यसिंहासने समुपवेशितस्तावत् प्रभाभरभासुरः स उत्पत्य प्रासादे स्थितः, तदैव देवस्तं स्वपाणिना तत्रैव चारोपयत्। ततोऽहं जागरिता" । तन्निशम्य नृपो दध्यौ - 'प्रौढोदयप्रदोऽयं स्वप्नः, ततः स्वचिन्तितं कर्तव्यम्' । इति यावच्चिन्तयति तावत् प्रातरायातः कुमारः पितृपादवन्दनाय, दत्तासने निविष्टश्च । ततः पित्रा सादरं भाषितः - "हे वत्स ! वयं धन्या यैस्तु त्वं शिष्टस्तनय उदुम्बरपुष्पवद् दुर्लभः प्राच्यपुण्यतो दृष्टोऽसि । हे पुत्र ! त्वां सकलतारालङ्कारं निर्मलतरं वीक्ष्य अस्मन्मनो गाढं मोदते, यथा सागरः शशिनं दृष्ट्वा मोदते । परं हे नन्दन ! त्वां विशेषतो यदि श्वेतच्छत्र-चामरभूषितं प्रौढसिन्धुरमारूढं सर्वसेनापरिवृतं तरुणीगणैर्निरुद्धे च राजमार्गे सञ्चरन्तं पश्यामस्तदा वचनातिगो हर्षोत्कर्षः स्यात्। तस्माद् हे वत्स ! एतद् राज्यं स्वीकृत्य वृद्धानां नः सौख्यं

कुरु"। इति सस्नेहमुक्तो दाक्षिण्याऽब्धिः पृथ्वीचन्द्रकुमारो व्यचिन्तयत् - "अहो ! विषयोन्मुखचेतसां प्राणिनां राज्यं विरुद्धमेव, यथा दक्षिणाध्वप्रवृत्तानां हिमवद्गमनम् । परं किं कुर्वे ? निबिडस्नेहयोः पित्रोरेतदर्थे महान् ग्रहः । एतौ च दुष्प्रतिकारौ सूत्रे प्रोक्तौ, तस्माद् विचक्षणैर्न हि लङ्घ्यौ । अन्यच्च, नियमेन मया गुरोरागमनं यावत्स्थातव्यमस्ति, ततोऽधुना अनयोर्वाक्यं कुर्वे, पश्चात् स्वोचिते कार्ये यतिष्ये"। इति ध्यात्वा कुमारेणोक्तम्- 'गुर्वाज्ञाकार्यहं, परं मादृक् कापुरुषो राज्यभारे न हि योग्यः । अथवा यूयं प्रमाणं, मां किङ्करमादिशत' । तत् श्रुत्वा 'अहो ! सुतो विनीत' इति ब्रुवाणेन नृपेण मस्तकमाघ्राय कुमारः सत्कृतः । ततः सन्मुहूर्ते तातेन *पृथ्वीचन्द्रकुमारः* स्वराज्ये भूरिमहोत्सवेनाऽभिषिक्तः सामन्त-मन्त्रिभिर्नतः ।

राजराजो जयत्येवं, प्रवृत्तो बन्दिजो ध्वनिः ।
वादितानि सुतूर्याणि, नृत्यन्ति स्म पणाङ्गनाः ॥९॥

उपदा बहुधाऽऽयाताः, जातः पुर्यां महामहः ।
पृथ्वीचन्द्रं नृपं प्रेक्ष्य, पितरौ मुदितौ भृशम् ॥१०॥

अथ *पृथ्वीचन्द्रो* नृपः श्रियामलुब्धोऽपि तातानुग्रहाद् उचितकृद् बभूव । स्वराज्येऽमारीं प्रवर्त्तयामास । पुनः शुल्कगुप्त्योर्विमोचनां चकार । प्रायः सर्वोऽपि जनः शान्तोऽजनि। विकथां परिहृत्य सर्वैर्धर्मकथा कृता, तत एतद् आख्यानं सत्यापितम्- यथा राजा तथा प्रजा । अथ धर्ममयं राज्यं कुर्वन्नृपोऽन्यदा आस्थानस्थो द्वारपालेन प्रणत्य सहसेति विज्ञप्तः- 'हे देव !

भवद्दर्शनार्थी *सुधन*नामा वणिग्वरो हस्तन्यस्तमहोपदः सिंहद्वारे तिष्ठति' । 'प्रेषय' इति नृपेणोक्ते प्रतिहारो गतः । ततः प्रफुल्ल-वदनपद्मः *सुधन* आगतो नृपसमीपे । प्रभोः प्रणामं कृत्वा प्राभृतकं च मुक्त्वा पुरः स्थितः । ततो भूभुजा सम्मान्य प्रोक्तम् - 'कथनार्हां विज्ञप्तिकां कुरु' । तदा *सुधनो*ऽब्रवीत् - 'हे देव ! आश्चर्य-भूतोत्तमचरित्रकं वीक्ष्य सुविस्मयरसापूर्णं ममोदरं स्फुटतीव, तेन वक्तुं न शक्नोमि । तथापि वो दर्शनार्थी समेतोऽस्मि, तेन किञ्चित् तत्त्वं वक्ष्ये' । राजाऽवक् - 'किं चरित्रकम् ?' । *सुधनो*ऽवक्- 'स्वपुरे चैकं लब्धं, द्वैतीयीकं त्वत्र भावीति श्रुतम्'। राज्ञोक्तम् - 'तत् कीदृक् ?' । तदेति *सुधनो*ऽभ्यधात् -

"हे देव ! *कुरुदेश*विभूषणे अलभ्यदूषणे स्वर्गसुन्दरे मणि-जटितमन्दिरे सर्वतः सुविस्तीर्णेऽपि व्यवहारिजनाकीर्णे नट-भटाद्यैश्च कृताश्रये *गजपुर*नगरे वास्तव्योऽहमस्मि । तत्र चित्तेन निर्मलो वित्तेन कदापि नोद्धतः कृतरत्नादिसञ्चयो *रत्नसञ्चयः* श्रेष्ठ्यस्ति । तस्य स्मेरपद्माक्षी लक्ष्मीरिव सुलक्षणा रसाम्बुसरसी गत्या च हंसीव *सुमङ्गला* नाम भार्याऽस्ति। तस्याः स एव योग्योऽस्ति, तस्य पुनः सैव योग्याऽस्ति, इति धात्रा सुचिरं विचिन्त्य अनुरूपं मिथुनं कृतम् । तयोस्त्रि-वर्गरतयोः सुचिरं वाञ्छितः सत्पुण्यराशिरिवोज्ज्वलस्तनयोऽभूत् । तदा च श्रेष्ठिना मुदा नगराश्चर्यभूतं विश्वविस्मापनं विशिष्टं वर्द्धापनं कृतम् । अम्बया गर्भसमये स्वप्ने वरः सागरः पीत इति विमृश्य पित्रा तस्य मुदा *गुणसागर* इत्याख्या ददे । स पञ्चभिर्धात्रीभिः पालितः कलाभ्यासं च कारितः क्रमात् तरुणीजनजीवनं लावण्यसेवधिं तारुण्यं प्राप्तः।

बालाः प्रौढाः सुशीलाश्चाऽखिलाः स्त्रियस्तं पश्यन्ति, तथाप्यसौ वारिणा पद्मवत् कामेन न लिप्यते ।

अथ तस्मिन्नेव पुरे श्रेष्ठिनां *गुणसुन्दर्या*दिका गुणाढ्याः शिष्टा अष्टौ सुता मनोहरा दिक्कन्यका इव सन्ति । अन्यदा चैकत्र स्थाने सस्नेहं रममाणाभिस्ताभी राजमार्गे व्रजन् समित्रो *गुणसागरो* दृष्टः । तं च सुभगाकारं कुमारं वीक्ष्य मदानातुरास्ता 'अमुं विनाऽन्यं नैव वृणुमः' इति निश्चयं जगृहुः । ता योग्यस्थान-रागिणीर्मत्वा पितरो भृशं मुदिताः, स्वसुतानिश्चयं च सद्यो *रत्नसञ्चयम*ज्ञापयन् । तत् श्रुत्वा श्रेष्ठी जगाद - 'पूगा-ऽहिवल्लीवत् सदृशोऽयं योगः, युष्मद्दत्ताश्च मया स्वसुतहेत-वेऽङ्गीकृताः' ।

अस्मिन्नवसरे वातायनस्थो *गुणसागर*कुमारः पुरं पश्यन् तपस्तप्तवपुर्यष्टिं, युगान्तन्यस्तलोचनं, गोचरे भ्रमन्तमेकं मुमुक्षुं[1] वीक्ष्य व्यचिन्तयत् - 'अहो ! अस्य सुन्दरो वेषः, दृग्निवेशोऽपि निश्चलः, इन्द्रियाणि सुगुप्तानि, गतिरप्यस्य मन्थरा, इदं नेपथ्यं मया क्वचिद् भवेऽनुभूतपूर्वम्' । इति ईहां कुर्वन् झटित्यतुच्छां मूर्च्छां प्राप्तः । ततः सम्भ्रान्तैः सुहृद्भिः शीतलवारिणा सिक्तः, सच्चन्दनेन लिप्तः, तालवृन्तैश्च वीजितः क्षणात् स्वस्थो जातः । ततो दुःखितैः पित्रादिभिरिति पृष्टः - 'हे जात[2] ! त्वदङ्गे विड्वरोपमकाण्डे किं जातम् ? । नगरविहारिणीं किं काञ्चिद् यौवनहारिणीं दृष्ट्वा त्वमेवं जातः ?, अथवा सामन्तकन्यां मन्त्रिकन्यां वा दृष्ट्वा त्वमीदृशो जातः ? । यद् हृद्गतं भवेत् तद् ब्रूहि, यथाऽधुनैव तत् समर्थयामः' । ततः कुमारः पितरौ प्राह -

1. मोक्षं इच्छन्ति मुमुक्षुः (साधुः) । 2. पुत्र !

"मोहौत्सुक्याऽरतिप्रदे जडेऽनिष्टे दुःखमूले च भोगे रोगवन्मे मनो न प्रवर्त्तते । यतो मया पुरा सुरलोकेषु भोगा भुक्ताः, परं तैरपि तृप्तिर्न जाता, तदा एतैस्तुच्छैः सा कथं भविता ? । मम मनो देवभोगा अपि न रञ्जयन्ति, तर्हि बीभत्सा मानुषाः के ? । योऽमृतेऽपि निष्पिपासः स कोविदः किं विषं पिबेत्?। हे पितः ! यदि मदीयान् मनोरथान् पूरयितुं भवान् प्रसीदेत् तर्हि मां श्रामण्यग्रहणायाऽनुमन्यतु । यतो मुनिदर्शनात् चिरतनं चारित्रं ममाऽद्य स्मृतं, तस्मात् संसारगहने क्षणमपि स्थातुं न शक्नोमि। अहं च मानसे किञ्चिदालम्बनम् अवाञ्छन् योगमाश्रये, यो हंसवत् श्वेतपक्षः स पङ्केन नैव लिप्यते"। तत् श्रुत्वा पिता प्राह – " हे पुत्र! तव तारुण्ये चारित्रावसरो न हि, यतः सतां वर्यैस्त्रयो वर्गा यथावसरमादृताः । उक्तं च –

प्रथमे नाऽर्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये नार्जितो धर्मः, चतुर्थे किं करिष्यति ? ॥११॥

ततो हे वत्स ! यौवनेऽर्थ-कामौ प्रागनुभूयते, पश्चाद् भुक्तभोगानां जरतां धर्मार्जनं वरं प्रोक्तम्" । गुणसागरोऽवक्– "हे तात ! सत्यं यद् धर्मतः शर्म भवेत् तत् सुचिरमपि भुक्तैः काम-भोगैर्न भवेत् । यतः –

अविदितपरमानन्दो, वदति जनो 'विषय एव रमणीयः'।
तिलतैलमेव मिष्टं, येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥१२॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादधिकपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधते ॥१३॥

हे तात ! अनादौ संसारे यद् भोजनं षड्रसादिजं भुक्तं तदेकत्र पुञ्जीकृतं धराधरमप्यधरयेत्, यानि जलौघानि प्राणी पपौ तानि सर्वाब्धिषु न स्युः, यानि फलानि भुक्तानि तानि समग्रवृक्षेषु नो । अस्मिन् संसारे ते भोगा न सन्ति ये जीवैरनन्तशो न भुक्ताः, परं तैरपि रङ्कस्य स्वप्नभुक्तिवत् तृप्तिर्न जाता । आस्तां भवान्तरोदन्तः, जीवस्याधुनिकेऽपि भवे सकलमतीतं सुखं स्वप्नेक्षणप्रायं भवति । तस्माद् हे तात ! बुध्यस्व, मा मुह्य, भोगभुक्तितो न तृप्तिः । हे तात ! मुक्तौ रक्ता विवेकिनो भोगार्थं धर्मं न कुर्युः, सा हि मुक्तिर्व्रतात् स्यात्, ततो विघ्नं मा कार्षीः, प्रव्रजाम्यहम्" । एवं पुत्रस्य निश्चयं ज्ञात्वा यावत् पिता वक्तुं न शक्नोति, तावन्माता रुदती प्राह - "हे वत्स ! त्वज्जनुषा मन्मनोऽवनौ आशाद्रुरुद्गतः, स त्वयैव विनयाऽम्बुना सिक्तः, अधुना तु स एव प्रातिकूल्यकुवायुना वन्ध्यो न कार्यः । वत्स ! त्वां विना पक्वफलवद् मम हृदयं स्फुटति । हे पुत्र ! त्वं जरायोगजर्जरौ स्नेहनिर्भरौ आवां पालय, पश्चाद् यथोचितं स्वमनोमतं त्वया विधेयम्" । तत् श्रुत्वा पुत्रः प्राह - "हे मातः ! त्वया सूक्तं, परं मृत्योर्न हि क्रमः, कदाप्यसौ शिशुं हन्ति, वृद्धं रोगिणं च रक्षति। मृत्युः कस्य मित्रं भवेत् ? । *यो जानाति–अहममरोऽस्मि, अथवा मरणं यस्य सखा भवेत्, स पुमान् संयमे प्रमाद्येत्,* अहमीदृशो नाऽस्मि । अन्यच्च, हे मातः ! अस्मिन्नसारे संसारे सत्त्वा अनन्तशः पुत्रा जाताः, अनन्तशश्चाऽम्बतां प्राप्ताः, सर्वे जीवाः पितृ-पुत्र-

मातृ-भगिनी-भ्रातृ-शत्रु-मित्र-कलत्र-स्नेहित्वे कर्माधीनां स्थितिं प्राप्ताः, ततो हे अम्ब ! मत्कृते किं खिद्यसे ? । चेदहं तवेष्टोऽस्मि तदा मरणेऽवश्यम्भाविनि संसारान्निःसरन् त्वया न वार्यः । हे मातः ! अन्धकूप-ज्वलद्गेह-वार्धि-रुग्-दौःस्थ्यसङ्कटाद् निर्यान्तं राज्यं चाऽर्जयन्तं स्वसुतं को निवारयेत् ? । ततो भवावर्त्तान्निर्यान्तं मां हे अम्ब ! मा विलम्बय । यतः -

शेषकार्येष्वपि प्रायो, विलम्बो हानिकृन्मतः ।
तत्प्रसिद्धश्च लोकेऽस्मिन्, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥१४॥

नित्यायुक्ता ज्ञानिनोऽपि, ध्रुवभाविशिवा जिनाः ।
धर्मे चेन्न प्रमाद्यन्ति, तत्कथं मादृशोऽलसाः ? ॥१५॥

इति पुत्रवचनं श्रुत्वा पुनः सा प्राह - 'हे वत्स ! त्वं मृदुः कथं प्रव्रजिष्यसि ? । यतः शिरसा महाव्रतपर्वता नित्यं सोढव्याः, पुनः समग्रा अपि परिषहोपसर्गा धीरत्वेन सोढव्याः, तांश्च सुकुमाराङ्गत्वेन त्वं कथं सहिष्यसे ? । हे पुत्र! चरणम् अतिदुश्चरं, त्वं तु सुकुमारोऽसि, अतो गृहिधर्मं सुखेन कुर्याः । तव कियन्मात्रं कथ्यते ?' । तत् श्रुत्वा *गुणसागरो*ऽवदत् - "हे मातः ! मया नरके वैतरणी-कूटशाल्मली-तप्तवालुका-कुम्भीपाक-शूल्यारोप-करवर्तकदारण-कुन्ताऽसिच्छेद-मुद्गरभेदा-ऽसिवन-शूनाग्रसनादीनि सङ्ख्यातीतानि दुःखानि सोढानि, तिर्यक्षु शकटखेटन-हलवहन-भारारोपण-कशाऽङ्कुशारहनन-क्षुधा-तृट्-शीताऽऽतपादीनि अनन्तशो दुःखानि परवशत्वेनाऽनुभूतानि, मनुजेषु च गर्भ-जन्म-जरा-शोका-ऽनिष्टसंयोगेष्टवियोगशारीरमानसादीनि

दुःखानि भुक्तानि, तानि स्मरन् सुखार्थं यतिक्रियां कथं न कुर्वे?"। इति पुत्रस्य निश्चयं ज्ञात्वा जनन्या तस्याऽङ्घ्री गृहीत्वा इति जल्पितम् - 'हे वत्स ! त्वं सनिश्चयो-ऽसि, तथापि निःसत्त्वाया मे हृदयालम्बनं देहि । करपीडनं विधेहि, यथा नवोढं त्वां वीक्ष्य कृतार्था त्वामनुप्रव्रजामि'। पुत्रः प्राह - 'नैवं गुणः, तथापि हे अम्ब! मम त्वं मान्या, एवमस्तु । परं हे मातः ! ततः परं त्वया प्रतिबन्धो न कार्यः, यतो व्रतग्रहणे कृतनिश्चयोऽहम् । कन्यानां पितरोऽप्येतदर्थे स्पष्टं वाच्याः' । तदाकर्ण्य पितृभ्यां सम्मदाद् वैवाहिका आकार्य इति प्रोक्ताः - 'यदि युष्माकमिच्छा भवेत् तर्हि स्वेच्छमुद्वाहं कुरुध्वं, परं विवाहानन्तरं सुतोऽयं प्रव्रजिष्यति'। इति श्रुत्वा ते किङ्कर्त्तव्यजडा जाताः । तदा कन्याभिरिति भणितम्- "द्विर्नैव दीयते कन्या । यतः -

सकृज्जल्पन्ति राजानः, सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः ।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥१६॥

ततो विवाहः क्रियतां, यतो वयमप्यस्य गृहिणीशब्दं लब्ध्वा संयमं ग्रहीष्यामः । अथ यदि यूयं विवाहं न करिष्यथ तदाऽनूढा अपि तत्पृष्ठौ व्रतं ग्रहीष्याम इति नो निश्चयोऽस्ति" ।

ततः प्रमुदितैर्माता-पितृभिः दुकूलोल्लोचराजिता मौक्तिक-चूलाभिर्युक्ता मणिमण्डिता मण्डपाः कृताः । तत्र च-

दिव्यभूषाजितस्वर्गः, सुहृद्वर्गश्च मीलितः।
पुष्प-चन्दन-ताम्बूल-रत्न-स्वर्णा-ऽम्बरादि च ॥
अनेकभोज्य-सत्पेय-खाद्य-स्वाद्यसुवस्तुभिः ।

तैस्तु विस्तरतस्तत्र, रसवत्यो विनिर्मिताः ॥१७॥

वर्यतूर्यादिसन्नादगर्जाऽन्वितः, प्रस्फुरद् भूषणालितडिद्भाकृतः।
दिव्यगन्धाम्बुवृष्ट्या सपङ्कोद्गमस्तैर्महो निर्मितो नव्यमेघोपमः ॥१८॥

पूर्यमाणमनःकामे-ऽभिरामे भोगसम्पदा ।
महामहे वर्त्तमाने, दुर्लभा गम-निर्गमाः ॥१९॥

इतश्चः कृतकुलाचारो *गुणसागरः* कुमारः प्रौढाडम्बरेण तोरणद्वारमागतः । तस्मिन्नवसरे सुवासिनीभिर्माङ्गल्यानि गीयन्ते, मृदु मर्दला वाद्यन्ते, भट्टाश्चट्टाश्चोच्चैःस्वरं वरं स्तुवन्ति, आशीर्वादांश्च वितरन्ति । हर्षोत्कर्षात् सिंहनादाः स्फुरन्ति । मान-सन्मानपूर्वकं महादानानि दीयन्ते ।

अस्मिन्नवसरे *गुणसागरकुमार*श्चिदानन्दे लीनः सर्वं वैवाहिकविधिं तत्त्ववृत्त्येति व्यचिन्तयत् - "उभये वैवाहिकाः प्रोच्यन्ते तत्सत्यं, वै इति निश्चितं वाहनात्-संसारसमुद्रे पातनाद् वैवाहिकाः। पूगीफलपरावर्तनेन पुण्ये पापस्यारोपणां कुर्वन्ति । शरावसम्पुटे भग्ने धर्ममङ्गलं भग्नम् । यत्तु मालया कर्षणं तदस्याऽपराधिनोऽपमानं बुध्यताम् । इषुप्रोक्षणादिषुणा जीवान् हनिष्यति १, मुशलाज्जीवान् दलयिष्यति २, युगेन साम्प्रतमस्यैव स्कन्धे भारः पतिष्यति ३, [1]तर्कुणाऽयं जीवः कर्मसूत्राणि कर्त्तयिष्यति ४ । इत्यादिः प्रोक्षणानामाचारो विदुषां मतः । मायागृहप्रवेशेन सत्या माया गृहाभिधा । चतुरिकायां चतुर्वारं भ्रमणं, तेन चतुर्गतिभव भ्रमः सञ्जायते । रात्रौ मिथः कंसारभक्षणात् त्रपा-ऽऽचारौ गतौ। *कौरवस्त्रपरिधानात् पावित्र्यमपि दूरे गतम्* । यद् ब्राह्मणः

1. चर्खा ।

'पुण्याहम् पुण्याहम्, सावधान सावधान' इत्यादि वक्ति तदपि सत्यमेव, इयत्कालं तु पुण्याहम्, अथ पापदिनागमः, अतोऽधुना पलायनस्य समयो वर्तते, इति गुरुणोदितम् अज्ञो न जानाति। तदा वरमालाच्छलात् प्राणी संसारे पात्यते। एवं *विवाहे साक्षात् सर्वा विडम्बना दृश्यन्ते,* परं पीवरपापवानसौ क्लीबो जीवः किमपि न पश्यति"।

एवं *गुणसागरकुमारे*ऽन्तरङ्गवृत्त्या पश्यति बहिर्वृत्त्या चाऽखिले जने पश्यति जगदानन्दकः स विवाहमह आसीत्। ततो विवाहानन्तरं *गुणसागरकुमारः* सहस्रपुरुषवाहिन्यां शिबिकायामष्टभिर्वधूभिर्युतः स्थितः सन् स्वजनैः सहितः स्वसौधं प्रति चलितः। अथ श्लोकाः -

इन्द्रयत् कुमरं द्रष्टुं, सुरीयत् सोत्सया द्रुतम्।
नागर्यो मिलिताः सर्वा-स्त्यक्त्वा कार्यपरम्पराम् ॥२०॥

वीक्ष्य काश्चिद् वदन्त्येवं, मुग्धेऽयं स्मरतोऽधिकः।
श्रिता रतिजयिन्योऽष्टौ, वध्वोऽमुं कथमन्यथा ? ॥२१॥

अन्या भणति यद्येता-स्त्यक्त्वा प्रव्रजिता न हि।
तदा धन्योऽन्यथा मन्ये, नाऽधन्योऽन्यो जगत्यतः ॥२२॥

वदन्त्यन्या वयस्येऽस्य, किंवदन्ती व्रतस्य का ?।
वेष्टितस्याऽऽभिरष्टाभि-र्वागुराभिरिवाऽभितः ॥२३॥

अन्याः प्राहुरयं धन्यो, मुक्त्वैताः प्रव्रजिष्यति।
त्यागी सद्वस्तुनस्त्यागी, खल्वाटो मुण्डितोऽन्यथा ॥२४॥

परा: प्रोचुरिमा मूढा, याभिर्वैराग्यवान् वृतः ।
सौवर्णी क्षुरिका चेत्स्यात्, किं तयात्माऽपि घात्यते? ॥२५॥

जल्पन्त्यः पौरनार्यस्तु, शृण्वानस्तद्वचोऽखिलम् ।
वाद्यमानेषु तूर्येषु, समहं स गृहं गतः ॥२६॥

असौ भद्रासने भव्ये, वामे पार्श्वे पितुः स्थितः ।
वामे तस्य च माताऽपि, सर्वा वध्वस्तदन्तिके ॥२७॥

तस्मिन्नवसरे नदन्मर्दलं, गुञ्जत्सद्वंशवेणु-वीणामनोहरं, कौतुकाक्षिप्तसल्लोकं च प्रवृत्तं नृत्यमद्भुतम् । तदा च दान्तेन्द्रियः कुमारस्तु नासाऽग्रन्यस्तदृग्युगः शमामृततृप्तात्मा स्वचित्तेऽचिन्तयदिति - "भवतरोर्बीजं स्त्रियः, यतस्ताभ्यः सन्ततिर्भवेत्, तन्निर्वाहकृते च जन्तुः पापं कुर्यात्, ततो भवरक्तेऽपि या विरक्तास्ताः स्त्रियः कः कामयेत ? । अहं तु विरक्तेऽपि सततं रक्तां मुक्तिकान्तां प्रार्थये, ततः प्रभाते प्रव्रजिष्यामि, गुरोर्विनयं करिष्यामि, शुभध्यानं धरिष्यामि, भवोदधिं च तरिष्यामि" । इत्याद्यन्तश्चिन्तयन् प्राग्भवोत्थं श्रुतं स्मरन् स *गुणसागरकुमारः* शुक्लध्यानविधानतः केवलज्ञानं प्राप्तः । तदा दान्तं शान्तरसनिमग्नं च स्वस्वामिनं पश्यन्त्यो निश्चलेक्षणा लज्जाऽवनतमौलयः सर्वा वध्व इदं दध्युः - "गृहस्थोऽप्येष धन्यः, यः शमसंपदालङ्कृतः स सावद्यकर्मनिधिष्वस्मासु कथं रज्येत ? । वयं धन्या, याभिरयं शिवंगमी भर्ताऽलभ्यत । अतोऽस्माभिरपि तमन्वेव दीक्षा लास्यते, परमं पदं च यास्यते"। एवममुना शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धना वध्वोऽपि तमनु केवलज्ञानं प्राप्ताः, यतः *स्त्रियः पत्यनुगाः स्युः* । तस्मिन्नवसरे

सुरैर्नदद्देवदुन्दुभिरवेण गगनं पूरितं, सुगन्धोदकवृष्टिः सञ्जाता, सरसपञ्चवर्णपुष्पपुञ्जश्च गृहाङ्गणे बभूव । तदा दीप्यत्कुण्डलैर्देवैर्भवनं मण्डितं वीक्ष्य विस्मितः पुरीजन इति वक्तुं प्रवृत्तः - "भो भो ! आश्चर्यमाश्चर्यं, यदद्य वणिजो विवाहे पूर्वपुण्याकृष्टाः सुरा अपि वर्द्धापकाः प्राप्ताः । अथैषा क्रिया दुष्करा यदीदृशे मोहराज्ये मोहमहामल्लं मथित्वा केवलज्ञानलक्ष्मीः समुपार्जिता"। ततो देवैः साधुवेषः समर्पितः, देवैर्नमस्कृत्य केवलज्ञानोत्सवो रचितः तद्वीक्ष्य क्षिप्तकर्मणोः पित्रोरप्यभवत् केवलज्ञानम् । तन्नगराधिपतिः श्रीशेखरनृपोऽपि तं वृत्तान्तं ज्ञात्वा विस्मितस्तत्र गत्वा भक्तिपूर्वकं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य नत्वा च पुरतः संस्थितः" ।

इत्थं *सुधनः* कथयति, *पृथ्वीचन्द्रश्च* शृणोति । पुनरपि *सुधनो*ऽकथयत् - "हे पृथ्वीचन्द्र ! हे देव ! अहं पुनरिहागन्तुमनाः पूर्वप्रेषितवाहनोऽप्यद्भुतम् असम्भाव्यं श्रुत्वा विस्मितस्तत्र गतः । तं च वन्दित्वा 'किमस्य सत्यं केवलं सञ्जातम् अथवा परः परमार्थोऽस्ति ?' इति सवितर्कोऽहं निषण्णवान् । ततः प्रोक्तं केवलिना *गुणसागरेण* - "भोः सौम्य *सुधन* ! त्वं स्वयम*योध्यां* गन्तुं प्रस्थितोऽपि कौतुकादत्रागतोऽसि । 'सार्थो दूरे गतः, पुनरिदं कौतुकं सुलभं न' इति चिन्ताव्याकुलस्त्वं गन्तुं स्थातुं वा न शक्नोषि । परं हे *सुधन* ! इदं कियच्चित्रम् ? तत्रा*ऽयोध्या*यामधिकं द्रक्ष्यसि"। इति केवलिनाऽऽदिष्टे हृष्टोऽत्रैवाऽहमागतः, शुल्कवर्जितवाणिज्यांश्च वणिजो वीक्ष्य विस्मितः । हे देव ! युष्मत्पादान्तिके गाढबद्धोत्कण्ठोऽहमागमम् ।

इति *गुणसागर*वृत्तं निशम्य गुणरागवान् *पृथ्वीचन्द्र*नृपो

निस्तन्द्र इति भावनामभावयत् - "महामुनिर्महात्मा च सत्यं स *गुणसागरः*, येन जितमोहानुबन्धेन स्वकार्यं साधितम् । निरीहाणां महात्मनां तु प्रौढाऽपि भोगसामग्री अत्रापि सदा धर्मान्तरायं न हि कुरुते, अहं तु विदन्नपि पित्रोर्दाक्षिण्यवशतो विकटे राज्ययन्त्रकूटे पतितः । स वासरः कदा भावी ? यत्र धर्मिष्ठमौलिमणीनां मुनीनां दुर्लभां गणनां किल लप्स्ये । गुरुभक्तो रत्नत्रयधरः कदा भविष्यामि ?। पुनर्मद्वपुषि क्षमालक्ष्मीः कदा क्रीडिष्यति ? । पुनः शून्यागारे श्मशाने शैलाग्रे सरित्तीरे वा समतान्वितः स्वाध्याय-ध्यानवांश्च कदा कार्योत्सर्गं करिष्यामि ?" ।

एवं संवेगरङ्गवान् स *पृथ्वीचन्द्र*राड् अपूर्वकरणक्रमात् शिववेश्मनो निःश्रेणिं क्षपकश्रेणीमारोहत् । क्रमाच्च क्षीणमोहो-ऽन्त्यसमये शुक्लध्यानानलेन घनघातिनां कर्मणां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकलक्षणाश्चतुर्दश प्रकृतीः क्षपयित्वा केवलज्ञानं सम्प्राप्तः । तदा प्रपन्नद्रव्यलिङ्गस्य *पृथ्वीचन्द्र*मुनेः सौधर्मेन्द्रः सुरैः सार्द्धं केवलज्ञानोत्सवमकरोत् । ततः सुवर्ण-कमलासीनं मुनीन्द्रं मौलिनाऽऽनम्य पुनः पादौ स्पृशन् भक्त्या-ऽस्तवीदिति -

जय निर्द्रोह निर्मोह !, जय राज्यर्द्धिनिःस्पृह ! ।
जय नीरोष निर्दोष !, जय त्वं सच्छिरोमणे ! ॥२८॥

पापपङ्केन नो लिप्तो, मनागपि भवानहो ! ।
संसारसागरस्थोऽपि, भुवनेऽपि तदद्भुतम् ॥२९॥

इति सुरेन्द्रः स्तुत्वा करसम्पुटं कृत्वा पुरतो निषण्णः ।

तस्मिन्नवसरे *हरिसिंहो*ऽपि राजा *पद्मावत्या* राज्ञ्या सहायातः। तौ व्रतिनं ज्ञानिनं विश्वानन्दनं च नन्दनं वीक्ष्य आह्लादा-ऽऽदरयुक्तौ नमस्कृत्य वक्तुं प्रवृत्तौ - 'कुलक्रमाप्तसद्धर्मयोगयोर्भुक्तभोग-योरावयोर्दीक्षा ग्रहीतुं युक्ता, सा त्वया रयात्कथमात्ता ?। त्वं संसारान्निःसरन् मोहमूढाभ्यामावाभ्यां यद् जर्जरे राज्यपञ्जरे क्षिप्तोऽसि, तन्मिथ्या दुष्कृतमस्तु'। एतद् ज्ञात्वा विकसितनेत्राः षोडश देव्यस्तत्रागताः, केवलिनं च नत्वा *पद्मावत्याः* देव्याः पृष्ठतः स्थिताः। तदा केवलिभगवतः प्रशान्तमुद्रां विलोकयन्तीनामेतासामपि संवेगातिशयात् केवलज्ञानमभूत्। गृहीतद्रव्यलिङ्गास्ता इन्द्राद्यैर्नताः स्तुताश्च। तद् दृष्ट्वा *सुधन*सार्थवाहोऽचिन्तयत्- 'चित्रं यद् *गुणसागर*केवली जगौ तदेतदेव'।

अस्मिन्नवसरे *पृथ्वीचन्द्र*केवलिना धर्मदेशना दत्ता। यथा- "भो भोः सत्त्वा ! मा प्रमत्तास्तिष्ठत, ध्वस्तदुरितद्वेषिसङ्गमं संयमं गृह्णीत। जन्म-जरा-मृत्युनीरे, कषायातुच्छमत्स्ये, राग-द्वेषोल्लसद्वेले ईदृशे भवाब्धौ सुसम्यक्त्वप्रतिष्ठानं, संवरपञ्चकेन निराश्रवं, निपुणज्ञानानाविकं चारित्रपोतं विना नैव तीर्यते। चारित्रं च नृत्वादिसामग्रीविरहे दुर्लभं, वणिक्सुतविकीर्णबहुरत्नपिण्डवत्। यथा-

ताम्रलिप्त्यां पुर्यां *श्रीकीर्त्तिर्नयवान्* नृपोऽभूद् जनप्रियः। स इभ्यान् जनान् वीक्ष्य विशेषतोऽहृष्यत्। प्रजालोका अपि राज्ञः सौम्यदृशं वीक्ष्य भृशमहृष्यन्। तत्र यावत्यो यस्य द्रव्यकोटयः सन्ति स तावतो ध्वजान् गेहोपरि ऊर्ध्वीचकार। योऽधिको धनवान् सोऽत्र सर्वतः प्रथमं मानं लभते, भट्ट-चारणैश्च गीयते।

अथ तत्र *धनदः* श्रेष्ठ्यस्ति यत्नतो रत्नसङ्ग्रही, स प्रारब्धेऽपि नवोत्सवे केतून्[1] नोर्ध्वीकरोति । तस्य श्रेष्ठिनो मानधनास्तनयाः स्वयशोऽर्थिनः सन्ति, ते हि परान् भट्टाद्यैर्वर्णितान् वीक्ष्य हृदि खिद्यन्ते । अथ पुत्रैः केतुकृते बहुशो विज्ञप्तोऽपि पिताऽभ्यधात् - 'भोः पुत्राः ! अस्माकं धनसङ्ख्या नास्ति, मृषा गीर्नोचिता सताम्। हे पुत्राः ! धर्मकार्यं विना बह्वाडम्बरोऽपि सतां न सुन्दरः । *स्वगुडोऽपीह स्वयं चोरयित्वा खाद्यते, इति लोकगीः*' । एवं पित्रा वारिता अपि ते कदाग्रहाद् नैव विरमन्ति, परं पितुर्वचनं नोल्लङ्घयितुं क्षमाः, कियत्कालं च तथा स्थिताः । अन्यदा विवाहे स्वजनाहूतो *धनदः* पुरान्तरेऽगात् । ततः सुतैरवसरं लब्ध्वा रत्नानि द्रुतं विक्रीतानि, सकलं च द्रव्यं सङ्ख्याय कोटिसङ्ख्यया सौधोपरि स्वर्णकुम्भमण्डिता ध्वजा उत्तम्भिताः । ततस्ते बन्दिभिर्वर्ण्यमाना मुदा मिथः स्वं स्वं प्राशंसन् कथयामासुश्च - 'इयत्कालं पित्रा वार्द्धक्यमूढेन वयं वञ्चिताः' । अथ रत्नग्राहका व्यवहारिणः स्वस्वपुरे गताः । अस्मिन्नवसरे श्रेष्ठिना वेश्मन्यागत्य केतूदन्तं सुताः पृष्टाः । ततस्तेऽपि स्वमतिगर्विता रत्नविक्रयवार्त्तां प्राहुः। कथयामासुश्च -

[2]किं तीए सिरीए, पीवराए छन्नाए गेहनिहिआए ।
विप्फुरइ जए न जओ, मियंककिरणुज्जला कित्ती ॥३०॥

तद्वचनं श्रुत्वा रुष्टः श्रेष्ठी प्रोवाच - 'रे कुलाङ्गाराः कुपुत्राः

1. केतून् - ध्वजाः
2. किं तया श्रिया, पीवर्या छन्नया गेहनिहितया ? ।
विस्फुरति जगति न यतो, मृगाङ्ककिरणोज्ज्वला कीर्तिः॥

कुजन्मानः कुकर्माणः कुधियः कुलक्षणाः ! अनया सर्वश्रिया ममैकरत्नस्य मूल्यं नास्ति, ततो मद्गेहाद् निर्यात, अथवा रत्नान्यानयत' । एवं पित्रा धिक्कृतास्ते महीमण्डले भ्रान्ताः, परम् अज्ञातनाम-धामानो रत्नानि नैव लेभिरे ।

हे भव्याः ! कदाचिद्दैवतस्तानि लभ्यन्ते तथापि प्राप्तमुक्ता हि धर्मसामग्री नाप्यते । उक्तं च -

※[1]माणुस्स-[2]खित्त-[3]जाई, [4]कुल-[5]रूवा-[6]रोग्गमाउयं[7] [8]बुद्धी।
[9]यसणुग्गह [10]सद्धा संजमो[11] य लोगम्मि दुलहाइं ॥२१॥

ततो लब्धामिमां सामग्रीं कषाय-विषयैर्यूयं मा हारयत । भो भव्याः ! निर्वाणस्थानयानं संयमोद्यमं कुरुध्वम्"।

इति केवलिवचनं श्रुत्वा प्रबुद्धा भव्या जना यथाशक्ति साधु-श्राद्धयोर्धर्मौ प्रपेदिरे । ततः *पद्मावत्या* देव्या भणितम् - 'हे भगवन् ! ज्ञाताऽर्हद्धर्मयोरप्यावयोस्त्वयि महान् स्नेहः कथम् ?'। इति प्रश्नान्ते केवली प्राह - 'पूर्वभवेऽयं मम पिता *जय*भूपतिः, त्वं पूर्वभवे *प्रियमती* माता, *कुसुमायुध*नामा युवयोरहं पुत्रः । सम्यक्संयमाराधनाद् युवां *विजये*ऽनुत्तरविमाने देवौ जातौ, *सर्वार्थसिद्धे* विमानेऽहं सुरो जातः । अस्मिन् भवेऽपि स एव संयोगो जातः । युवयोर्मयि तन्निमित्तो प्राग्भवोद्भवः स्नेहः' । तच्छ्रुत्वा जातजातिस्मृत्योस्तयोः केवलज्ञानमुत्पन्नम् । ततः सुभक्तेन सौधर्मेन्द्रेण तयोरपि केवलज्ञानोत्पत्तिमहः कृतः । तस्मिन्नवसरेऽ*योध्यायां* पुर्यां जगदाश्चर्यकारको महानन्दो जातः।

※ मानुष्य-क्षेत्र-जातयः, कुल-रूपा-ऽऽरोग्यमायुर्बुद्धिः ।
व्यसनोद्‌ग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि ॥

अथ *सुधनः* सार्थवाहो मुनीश्वरं नत्वोवाच - 'हे भगवन् ! त्वं तथा *गुणसागरः* सद्गुणौ कस्मात् ?' । ततः केवली भगवान् *शङ्ख-कलावत्यो*र्भवादारभ्य केवलज्ञानपर्यन्तं स्ववृत्तान्तमभ्यधात्। ततोऽकथयत् - "भोः *सुधन* ! आवयोः प्रतिभवं यत् पुण्यानुबन्धि पुण्यं समं पुष्टम्, तच्च नौ तुल्यसुखसन्तत्या परिणतम् । हे श्रेष्ठिन् ! आसन्नसिद्धि-सौख्यानां तत्त्वार्थवेदिनां जीवानां मनांसि विषेष्विव विषयेषु नैव रमन्ते । अनन्तरजन्मोत्थाः स्त्रियः संयमाराधनाद् अनुत्तरे सुरा बभूवुः, अत्रापि भवे ता मद्वनिता जाताः, उत्तमाश्च ताः केवलं प्रापुः । यतः प्रायेण सद्गुणवतां प्राणिनां प्रेम भवेत्, राजहंसस्य रामाः किं काकेषु कदापि रमन्ते?"। इति केवलिमुखाद् देशनां श्रुत्वा प्रबुद्धः *सुधनो* धर्मं प्राप्तवान्, अन्येऽपि बहवो जना धर्मं लब्धवन्तः । अथ वासवेन द्वितीयो *हरिसिंह*राट्सुतो *हरिषेणो* राज्ये संस्थापितः।

क्षितितलयियदङ्के भव्यपङ्केरुहाणा-
मथ रचितयिकाशौ दुस्तमस्तोमनाशौ ।
सदुपकृतियिलासौ दुर्ग्रहाऽग्रस्तभासौ,
चिरमिय रयि-चन्द्रौ निर्गतौ द्वौ मुनीन्द्रौ ॥३२॥

तौ स्नेहमुक्तौ सुगुणौ जगद्गृहे, समस्तयस्तुप्रतिभासकौ सदा।
निर्दोषभासौ सुदृशां सुखप्रदौ, गतौ च निर्वाणमपूर्वदीपवत्॥३३॥

क्षान्त्यादिमुक्ताफलमद्भुतं यः,
शीलाङ्गरत्नं सुतपोमणीद्धम्।
गृह्णाति चारित्रनिधिं हि पृथ्वी-

चन्द्रर्षियल्लाति स मुक्तिलक्ष्मीम् ॥३४॥

इति श्रीतपागच्छे संविग्नशाखायां
कोविदकुलकमलभास्कराणां
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिपादारविन्दानां
पर्युपासनापरागास्वादनैकचञ्चरीकेण शिष्याणुना
पण्डितश्रीरूपविजयगणिना विरचिते श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रे
गद्यबन्धे श्रीपृथ्वीचन्द्रराजर्षि-गुणसागरयोः केवलज्ञानप्राप्ति-
मोक्षगमनवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥

श्री ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

आसीत् श्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बरेऽहर्मणिः,
सूरिः श्रीविजयादिसिंहसुगुरुश्चारित्रचूडामणिः ।
शिष्यास्तस्य द्विपञ्चसङ्ख्यप्रमिताः शास्त्रार्थसंवादका-स्तेषु
सप्तदशाऽपि भारतिवरप्राप्ताः प्रसिद्धा भुवि ॥१॥

तेष्वाद्यो गुणवान् क्रियाकृतरुचिः संविग्नमार्गाग्रणीः,
श्रीसत्याद्विजयाभिधो मुनिपतिः शास्त्राम्बुधौ चन्द्रमाः ।
तत्पट्टोदयपर्वतेन्द्रशिखरे भास्वानिवोद्द्योतकृत्,
कर्पूराद्विजयाभिधो गणिवरोऽभूच्छिष्यवर्गाग्रणीः ॥२॥

सच्चारित्रक्रियाकृतौ कृतरुचिः सच्छीललीलां धरन्,
श्रीक्षेमाद् विजयाभिधो मुनिवरस्तच्छिष्यमुख्योऽभवत् ।
शब्दा-ऽलङ्कृति-तर्क-काव्यनिपुणः सिद्धान्तवारांनिधि[1]-
स्तच्छिष्यो जिनशब्दतो विजययुक् ख्यातोऽभवद् भूतले ॥३॥

शिष्यास्तस्य [2]निधानसङ्ख्यप्रमितास्तेष्वन्तिमश्चान्तसत्[3],
श्रीमानुत्तमशब्दतो विजययुक् [4]राद्धान्तपारीणभाक् ।
यद्वैराग्यरसाञ्चिता मधुरगीः स्याद्वादमुद्राङ्किता,
भव्यानां भवसागरे निपततां त्रातुं क्षमा पोतवत् ॥४॥

1. वारांनिधिः समुद्रः । 2. नवसंख्यपरिमाणाः । 3. अन्तसत् शिष्यः ।
4. सिद्धान्तपारगामी ।

तत्पट्टाम्बरद्योतनैकद्युतिमान् मिथ्यात्वजाड्ये रविः,
सत्सिद्धान्तप्ररूपणांशुनिवहैरज्ञानध्वान्तान्तकृत् ।
भव्याब्जप्रतिबोधनैकनिपुणश्चारित्रचारं चरन्,
जीयात् श्रीगुरुपद्मतो विजययुग् विद्वज्जनोल्लासकृत् ॥५॥

आर्याच्छन्दः ॥

तत्पदपङ्कजमधुकृत्–सदृशा शिष्येण *रूपविजयेन* ।
पृथ्वीचन्द्रचरित्रं, दृब्धं वरगद्यभाषया ललितम् ॥६॥

पूर्वाचार्यप्रणीतं, कठिनं वरनालिकेरफलतुल्यम् ।
❀गोस्तनिफलवन्मधुरं, कृतं मया बालबोधकृते ॥७॥

स्वच्छे श्रीतपागच्छे, विजय*जिनेन्द्रा*ह्वसूरिवरराज्ये ।
विजय*जिनेन्द्रमुनीश्वर*–नूतनरवितुल्यराज्ये च ॥८॥

स्थित्वा चातुर्मास्यां, चाऽहम्मदावादनाम्नि वरनगरे ।
नेत्र[२]–करि[८]–गज[८]–चन्द्रे[१] (१८८२) वत्सरे श्रावणे मासे ॥९॥

❀नेमिजिनजन्मदिवसे, ग्रन्थोऽयं पूर्णभावमापन्नः ।
मेरुरिव विबुधगणैः, सेव्यमानश्चिरं जीयात् ॥१०॥

[१]चन्द्र–व्योम[०]–[९]ग्रहैर्बाण[५]–संख्याः (५९०१) श्लोकाश्च भाषिताः।
ग्रन्थेऽस्मिन् परिमाणेन, वर्णाश्च [२४]जिनसङ्ख्यया ॥११॥

॥ श्रीपृथ्वीचन्द्रचरित्रं समाप्तम् ॥

❀ गोस्तनिफलम् – द्राक्षा । ❀ श्रावणशुक्लपञ्चमीतिथौ ।

श्लोककी अनुक्रमणिका

प्रथम सर्ग

श्लोक नं.	श्लोक	सर्ग	पृष्ठ
४४	अइलालिया वि	१	२८
७३	अदान्ताः कुपथा-	१	४२
८९	अन्नाणदोसा पुण	१	५०
५०	अमेध्यं मन्यते	१	३१
१५	अवश्यभव्येष्व	१	७
५४	अशुचिः पापकर्मा	१	३३
२८	असारस्य पदार्थस्य	१	१२
८१	अहो मे सुलहो	१	४६
२३	आक्रामत्युल्लसत्तेजाः	१	१०
७१	आयल्लोकं	१	४१
९०	आरंभिणो कामगुणेसु	१	५०
३२	आवइगयं पि	१	१८
३४	ईदृगापन्निमग्नाया	१	१९
७०	उच्चैर्गेयं दाप्यद्देयं	१	४१
४	ऋद्धिसिद्धिप्रदातारं	१	१
२१	एषा त्यक्तकलद्क	१	९
१९	कान्तेनापि	१	९
८७	कालोचितगीतार्थो	१	४९
३१	किं दैव! कुपितं	१	१७
८४	कृतकर्मक्षयो नास्ति	१	४८
५६	कूपेषु चाऽधमं	१	३३
१४	कोऽतिभारः	१	५
३९	कोहो पिइं	१	२३
२७	गज्जंति मियं	१	१२
५७	गृहे चैयोत्तमं	१	३४
६९	चिन्तामणिमरुद्धे	१	४०
५८	चित्तं रागादिभिः	१	३४
५९	चित्तं शमादिभिः	१	३४
७२	चुल्लग पासग धन्ने	१	४२
८०	जगज्जन्तुनिस्तारणे	१	४६
१७	जम्मंतीए सोओ	१	८
८८	जयणा य धम्मज-	१	४९
३३	जय देवि! चिरं	१	१९
४८	जरद्धस्त्रस्फुरत्कुम्भी	१	३०
८६	तणसंथारनिसन्नो	१	४९
५१	तथाविधं निजोच्चारं	१	३१
७८	त्वद्दारिताऽरितरुणी	१	४५
१६	ते केइ मिलंति	१	८
१२	दुपरिच्चयघरणिघरो	१	५
४७	दुष्कर्ममर्महृद्	१	३०
६१	देवयात्राविवाहेषु	१	३४
२५	देयास्तु भद्रं तव	१	१०
९	धर्माद्धनमनन्तं	१	२
८	धर्मोपदेशो	१	२
६७	न कोपो न लोभो	१	३९
१३	नज्जंति चित्तभासा	१	५
४३	नयनाभ्यां मुखं	१	२६
५३	नरः कार्ये हि	१	३३
५२	नातः परमहं मन्ये	१	३२
७९	निजासने सा	१	४५

४६	पढमं चिय रोसभरे	१	२९
२०	पदे पदे निधानानि	१	९
६०	परदार-परद्रव्य-	१	३४
४१	पादपा इव	१	२४
२२	प्रारभ्यते न	१	१०
७४	प्रासादेषु महोत्सवा	१	४३
११	बुभुक्षितैर्व्याकरणं	१	५
३	भगवद्वदनाम्भोज	१	१
६८	भिक्षामात्रोपजीवी	१	३९
२९	मनसि वचसि	१	१३
७५	मुक्ता बन्दिजनाश्च	१	४३
१८	या जाता जनयन्ति	१	९
१०	यादृक् श्रवणैः	१	२
३६	यासां मनोगृहे	१	१९
३५	रज्जंति जाव कज्जं	१	१९
६६	रागद्वेषकषायमोह	१	३९
२६	रंजइ सउणा	१	१२
४२	लक्षं सन्देशकस्याऽर्थो	१	२४
४०	लुब्धः स्वैः कामुकः	१	२३
७६	वक्त्रं पूर्णशशी	१	४४
८२	वसिऊण मज्झ	१	४७
८५	वहमारणब्भक्खाण	१	४८
३०	वादकवादितमङ्ग-	१	१४
६५	शीलं प्राणभृतां	१	३८
६२	शुचि भूमिगतं	१	३४
१	सच्चिदानन्द	१	१
५५	समता सर्वभूतेषु	१	३३
७	सम्पद्यते	१	२
६	स्वभावान्निर्मला	१	२
६३	सव्वो पुव्वकयाणं	१	३६
६४	सव्वो पुव्वकयाणं	१	३७
७७	स्वाभावतो	१	४४
२	सर्वातिशयसंयुक्ताः	१	१
४५	सहसा विदधीत	१	२९
९१	सावद्यमुक्ताः किल	१	५०
४९	सुयणाण निद्धणत्तं	१	३१
२४	सुवर्णाढ्या च	१	१०
८३	हठान्नीचतरं कार्यं	१	४७
३७	हरिकरे वसनं	१	२१
३८	हितं विजयभूपस्य	१	२१
५	ज्ञान-ध्यान-	१	१

द्वितीय सर्ग

१६	अनित्यानि शरीराणि	२	६१
५४	अवि चलइ	२	८७
१५	आत्मसुखार्थं क्रियते	२	६१
२१	इदं मानुष्यमासाद्य	२	६५
४९	इन्द्रियैः पञ्चभिर्यत्र	२	८४
८	उच्छिट्ठं पिव	२	५४
३९	उत्पन्नमशुचेर्वृद्धं	२	७६
६७	उषित इह	२	१०४
५६	एक दुःखमिदं	२	९०
१७	कटरे शमामृतकुण्ड!	२	६२
४६	कड्ढिज्जंति गयंदा	२	८२
५२	कष्टे निकृष्ट	२	८५
६३	कुलं विश्वश्लाघ्यं	२	१०१
४२	गिहत्था वि सुसीला	२	७७
२	गीतनृत्याद्भुतं	२	५२
६६	चरित्या चिरं	२	१०४
१४	चला विभूतिः	२	६१

४०	चेद् भवेदस्य देहस्य	२	७६
६१	जाइसराइं नूणं	२	९७
३७	जो कुणइ नियमभंगं	२	७५
२३	ततोऽङ्गीकृत्य	२	६५
१०	त्वद्वियोगाग्नितप्तस्य	२	५८
५८	तावद् व्यालबलं	२	९२
१२	ताः प्राहुर्वयमद्य	२	६०
३३	दत्तस्तेन जगत्य-	२	७०
१९	दानं पुण्यतरोः	२	६३
२४	दीप्यत्तपोग्निना तप्तं	२	६५
३२	दुकूलस्वर्णमुक्तादि	२	७०
४३	धर्मकैरवसुचन्द्र-	२	७७
६२	धर्माज्जन्म कुले	२	१००
५५	न दुःखं विरहो	२	८९
४	नष्टो मानमहाभटः	२	५३
६८	नित्यं तप-संयमयोः	२	१०४
६५	निर्दन्तः करटी	२	१०१
६४	पङ्कात्पद्मं मृदः	२	१०१
९	परस्त्रीषु रतिः	२	५८
३	परोपकारनिरतो	२	५२
३५	प्रवर्त्तिनीनां वचनं	२	७२
३६	पार्थिवानां स्वदेशस्था	२	७४
२६	बज्झन्ति मुक्ख-	२	६७
६	बृहद्भानुर्नदी नारी	२	५४
१८	ब्रह्मेन्द्र-रुद्र-	२	६२
४७	बुभुक्षितः किं न	२	८३
४१	बंभव्वयकयसोहो	२	७७
७	मइलइ विमलंपि	२	५४
३१	मर्दनस्नानशृङ्गाराऽ-	२	७०
४८	मातङ्ग-मीन-	२	८४
२५	मित्ती परोवयारो	२	६७
५९	यक्ष-राक्षस-विद्याध्रा	२	९४
२८	रक्षणीयं धनं	२	६८
३०	रुधिरामिषमेदोऽ-	२	६९
१	लक्ष्मीकीर्तिधृति	२	५१
६०	लोलं लोचनपङ्कजं	२	९६
३८	वपुषि वर्णविन्यासः	२	७५
२७	वाया सहस्समइया	२	६७
२०	विदुषां च	२	६४
२२	विषया अभिलष्यन्ते	२	६५
५०	विषयान् मृगतृष्णा-	२	८५
५१	विषयेभ्यो विनिर्मुक्ता	२	८५
५३	सकृज्जल्पन्ति राजानः	२	८६
११	सख्यो! वः	२	५९
३४	सतीमतल्लिके देवि	२	७२
५	सरियाणं नरिंदाणं	२	५४
५७	सर्वत्र शुचयो धीराः	२	९१
२९	सादिनः सादिभिः	२	६८
४५	सुखदुःखे च	२	८०
१३	सुखं स्वपिति नीरागी	२	६०
४४	क्षीरसागरकल्लोल	२	७८

तृतीय सर्ग

३६	अर्थानामर्जने दुःख	३	१३२
४१	अभ्यक्तोऽपि	३	१३३
४२	अमेध्यपूर्णे	३	१३३
१८	अयहणइ रोगमारिं	३	११४
४८	असतोऽपि गुणान्	३	१३६
१७	अङ्गुष्ठमात्राऽपि	३	११४
३८	आत्मसुखार्थं क्रियते	३	१३३

१२	आराध्यैनं त्रिधा	३	११२	१	प्रणम्य परया भक्त्या	३	१०५
६३	एकत्र तत्र प्रवरे	३	१५०	५६	प्राज्यं राज्यं झटिति	३	१४६
४४	एतानि तानि	३	१३४	१५	प्रायेण कीर्तिप्रिय	३	११४
२०	एवं नाऊण सया	३	११५	३५	परिमलमिलिताली	३	१३२
२९	कलाचतुष्टयस्यान्त-	३	१२७	२२	पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा	३	११५
३१	काऽसावाज्ञा यत्र	३	१३०	३९	ब्रह्म-पुरन्दर-	३	१३३
२	को नाम गुणमरट्टो	३	१०६	९	मर्दलैर्याघमानैश्च	३	१११
३०	खगो ललिताङ्गहतः	३	१२९	५५	मातङ्गा नैव तुङ्गास्तुरग	३	१४४
६१	गच्छतो व्योममार्गेण	३	१४८	२५	मानुष्या-ऽऽर्यक्षेत्र-	३	१२६
५४	गतविषयविकारश्चारु-	३	१४३	५१	यत्नेन पापानि	३	१४१
५	गलन्मानिनिर्मान-	३	१०८	४०	यत् प्रातः संस्कृतं	३	१३३
४६	गेहं जर्जरमाखुभिः	३	१३४	५०	यदि यत्रैव तत्रैव	३	१४०
३७	चला विभूतिः	३	१३३	४९	यस्मिन्महार्घमल्पार्थं	३	१४०
४	चाएण बलेण	३	१०६	७	याजि-वारण-	३	१०९
३३	छुहियाण भोयणमिव	३	१३१	८	विन्ध्याचलनिकुञ्जेषु	३	११०
१९	जिणबिंबपइट्ठाइसु	३	११४	६०	सच्छातकुम्भकुम्भाढ्यं	३	१४८
४५	जं च कामसुह	३	१३४	१३	सत्कीर्तिवल्लीगुरु-	३	११३
३४	तण्हागुणगया बप्पी	३	१३१	५७	सत्तपस्तेजसोज्ज्वाल्य	३	१४६
६२	तुङ्गताचङ्गताऽऽकृष्ट	३	१४९	१४	स्थाने तेन नियोजितं	३	११३
३२	दाडिमफलं व पिम्मं	३	१३०	५९	स्फाटिके मण्डपे	३	१४८
२८	दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये	३	१२६	४३	सल्लं कामा विसं	३	१३४
२६	दुर्लभमति मानुष्यं	३	१२६	५२	सल्लं कामा विसं	३	१४१
२३	दुलहे खलु माणुसे	३	११६	११	सर्वकर्मविनिर्मुक्तः	३	११२
३	धावंतखलंतपडंतयाइं	३	१०६	२४	सिंहो बली द्विरद	३	११९
१६	न यान्ति दास्यं	३	११४	२७	सुखित्वे कामललितै	३	१२६
४७	नामंपि भवंतरवल्लहस्स	३	१३६	१०	क्षिप्यमाणैश्च सद्गन्धैः	३	१११
६	नामंपि सुयं	३	१०९		**चतुर्थ सर्ग**		
५८	नीलरत्नशिलाबद्धं	३	१४८				
२१	नेत्रानन्दकरी	३	११५	१५	अत्थो जसो अ	४	१६५
५३	नेरइया दसविह	३	१४२	२४	अमोघा वासरे विद्युद्	४	१६८

३	अव्याहतगतिः	४	१५३
४२	उत्तमानां च को मानः	४	१८३
२९	उपकारिण्युपकारं	४	१७२
२१	कन्या गौः शङ्ख	४	१६७
३२	किं नारी किम	४	१७५
२०	को किर कुलाभिमाणो	४	१६७
१८	गन्तव्यं नगरशतं	४	१६६
४८	जय भुवनत्रयवत्सल!	४	१९१
२७	जात्यन्धाय च दुर्मुखाय	४	१७०
४७	जितेन्द्रियत्वं विनयस्य	४	१८८
१	जितेन्द्रियं जितक्रोधं	४	१५१
१३	तत्सङ्गोपाय	४	१६३
४९	तपःशुष्कदेहो	४	१९३
२३	तप्पंति तवमणेगे	४	१६८
३४	तावत् स्वभावलोलाभ्यां	४	१७६
४	तुङ्गात्मनां तुङ्गतमाः	४	१५५
३५	दन्ताग्रैश्छिन्नकर्णौष्ठ	४	१७६
१७	देशमेके सभामेकां	४	१६६
१६	देशाटनं पण्डितमित्रता	४	१६५
४५	न्यायो धर्मो दर्शनानि	४	१८८
४६	नरकान्तं तदा राज्यं	४	१८८
३८	पथिकोऽपि पयः	४	१८०
४३	पञ्चाननो वहत्येकः	४	१८४
४४	प्रजानां धर्मषड्भागो	४	१८८
१०	प्रवरोऽयं वरश्चेयं	४	१६१
३३	पातालकन्ये किं	४	१७५
३०	प्रियादर्शनमेवाऽस्तु	४	१७३
१९	प्रौढा श्रीः चतुरैः	४	१६६
२५	पहरइ व पुरत्थं	४	१६८
५	भारत्या नैव रत्याः	४	१५७
१४	मातङ्गा शैलतुङ्गा	४	१६४
४१	यत्र तत्रैव वा यातु	४	१८३
४०	यद् दुर्लभं दुर्गम	४	१८३
२६	रतिसेनाकटाक्षेषु	४	१७०
३७	रथस्यैकं चक्रं	४	१७९
६	रूपं कुलं कला	४	१५८
३९	लक्ष्मीर्दानमयी वपुः	४	१८२
२	वक्त्रं पूर्णशशी	४	१५२
८	वादितान्यथ वाद्यानि	४	१६०
३६	विजेतव्या लङ्का	४	१७९
२८	वेश्याऽसौ मदनज्वाला	४	१७०
२२	श्रमणस्तुरगो राजा	४	१६७
१२	शिवाऽध्वस्यन्दन !	४	१६२
७	स्थापितः पञ्चभिर्दिव्यै	४	१५९
११	सर्वाङ्गसुन्दराह्वं या	४	१६१
५०	सागराण्युषितौ	४	१९३
३१	क्षीरसागरकल्लोल	४	१७३
९	ज्ञातोदन्ताः प्रशंसन्तो	४	१६१

पञ्चम सर्ग

४२	अदत्तादानतो दौस्थ्यं	५	२३२
४८	अद्याऽचिन्त्यमहाफलेन	५	२३९
३	अरोषणा च सरला	५	१९५
१८	असत्यमप्रत्ययमूलकारणं	५	२०७
३५	आत्मानं नरक	५	२२६
५२	इहाऽपि सन्तापभरं	५	२४२
४०	उपार्जयेत् कष्टशतानि	५	२२९
१४	कल्लाणकोडिजणणी	५	२०४
२६	कुर्कुरीणामजानां च	५	२१८
२७	कुग्रामवासः	५	२१८

१७	कुटिला भीषणाश्छिद्रा	५	२०७	१५	विउलं रज्जं रोगेहि	५	२०४
४१	चौरश्चौरापको मन्त्री	५	२३२	४	विकसितसहकाराः	५	१९५
१९	जीयन्तो मृतकाः पञ्च	५	२०८	२५	श्रुत्वा दुर्वाक्यमुच्चैर्ह-	५	२१६
४९	टोलुव्य टलटलंतो	५	२४०	२३	सज्जीकरोति यो	५	२११
५३	तत्रैकस्मिन्नेतयोर्वै	५	२४३	१	सर्वार्थसिद्धिदातारं	५	१९४
३०	त्यज दुर्जनसंसर्गं	५	२२३	३४	स्वाधीनेऽपि कलत्रे	५	२२६
५०	त्वं धन्योऽसि	५	२४०	२२	सहसा विदधीत न	५	२१०
९	तारं किङ्कणिहार-	५	२००	३३	स्मितं किञ्चिद्	५	२२५
१३	दया स्वर्गस्य सोपानं	५	२०३	६	सुगुणा सरला	५	१९८
२९	दुष्प्राप्यं प्राप्य मानुष्यं	५	२२३	५	सौम्यत्वं शशिनो	५	१९६
८	धर्मो मङ्गलमुत्तमं	५	२००	५१	संसारकान्तारविहारभीतः	५	२४२
४३	नित्यं पुष्णन्ति	५	२३३	४५	हास्येनोक्ते मुनौ प्राप्तं	५	२३९
२१	निर्द्रव्यो ह्रियमेति	५	२०८	१६	हे कुमार !	५	२०५
३१	निन्दां मुञ्च	५	२२३		**षष्ठ सर्ग**		
४७	नेदं निस्तरितुं	५	२३९				
३७	प्राणिनः पापबुद्धिं	५	२२७	४५	अर्थानामर्जने दुःख	६	२६८
१२	प्रियस्य विरहे	५	२०२	३३	अदृश्यं रयिणोक्तं	६	२६२
२८	पुरोहितपुत्र्यपि	५	२२२	५१	अभुङ्क्त ताभ्यां	६	२७२
१०	भुञ्जीरन् राज्यलक्ष्मीं	५	२०१	२८	आदौ माधुर्यरूपाः	६	२६०
७	मज्जं विसय-कसाया	५	२००	५	आनन्दं जनका	६	२४५
४६	मुनिराह महापाप	५	२३९	४१	आहाराज्जायते व्याधिः	६	२६३
२४	मूल्येन किञ्चित्	५	२१५	४४	इंदियविजओ आरंभ	६	२६४
३९	यथा यथा भूरिपरिग्र-	५	२२९	५०	एवं चारित्रं विमलं	६	२७१
३८	यथा यथा महत्वं च	५	२२९	२०	कन्दर्पः किल कीदृक्षः	६	२५६
११	यस्मिन् जन्म-जरा-	५	२०१	१४	काऽसावाज्ञा यत्र	६	२५१
३६	येनैवं बहुदुःखदायि	५	२२६	१८	का एका जायते	६	२५५
४४	लोकाः केऽपि	५	२३३	१७	किं विश्वजीवनं प्रोक्तं	६	२५५
२	वक्त्रं चन्द्रविडम्बि	५	१९५	२३	कीर्त्या चन्द्रायमाणो	६	२५८
३२	वक्त्रं चन्द्रविडम्बि	५	२२५	३२	कुन्थु-कण्टक-	६	२६२
२०	वरं वनं व्याघ्र	५	२०८	७	कृतघ्नो निर्दयः	६	२४७

४६	कैवर्त्तकर्कशकरग्रहणा-	६	२६९
४०	चत्वारि खलु कर्माणि	६	२६३
३६	चत्वारो नरकद्वाराः	६	२६३
४८	छिन्नो मिथ्यात्ववृक्षो	६	२७१
४२	तत्त्वं मत्वा न भोक्तव्यं	६	२६३
२६	त्वं धन्योऽसि मुने!	६	२५९
१६	ददाति प्रतिगृह्णाति	६	२५४
४९	दण्डाश्चण्डभटा हि	६	२७१
९	दुर्जनानां कण्टकानां	६	२४८
३	नरसिंहनृपो जीयात्	६	२४४
२२	नाराद्धं निजपूज्यपाद-	६	२५८
२४	निष्पन्नधान्यभर-	६	२५९
१२	नीचेषु जन्तुषु	६	२४८
१	नूतनजलधररुचये	६	२४४
६	नेपथ्यैर्विविध	६	२४५
३७	नोदकं चापि पातव्यं	६	२६३
२५	परिमलमिलितालि-	६	२५९
२	पुण्यानुबन्धिपुण्येन	६	२४४
४	पुत्रं विना कुलं	६	२४५
३५	भानोः करैरसंस्पृष्ट	६	२६३
२९	भुक्त्वैव वान्तान्	६	२६०
३०	भुज्यमानं न भुक्तं	६	२६१
१०	मृग-मीन-सज्जनानां	६	२४८
३८	मृते स्वजनमात्रेऽपि	६	२६३
३४	ये रात्रौ सर्वदाहारं	६	२६३
३९	रक्तीभवन्ति तोयानि	६	२६३
२७	रत्नत्रयोपार्जनसावधान!	६	२५९
८	रे भूपाल !	६	२४७
२१	वलिभिर्मुखमाक्रान्तं	६	२५७
१३	विघटयितुमेव नीचः	६	२४८
३१	विदुषा युज्यते	६	२६२
१५	शास्त्रं बोधाय दानाय	६	२५१
४७	श्रेयांसि बहुविघ्नानि	६	२७०
४३	संपाइमसुहुमतसा	६	२६४
१९	हरिः कां जलधेर्लेभे	६	२५६
११	क्षुद्राः स्वल्पाय	६	२४८

सप्तम सर्ग

४६	अर्जनीयं कलावद्भि	७	३०४
२३	अन्तराया दान	७	२९४
२८	अद्यैव सुदिनं जातं	७	२९६
४३	अलमतिचपलत्वात्	७	३०३
३४	अवद्यमुक्ते पथि	७	२९७
१०	आत्मघातसमं पापं	७	२८२
२९	आर्त्ति-शोक-भयत्राणं	७	२९६
२	उच्चलच्चारकं	७	२७४
२५	कनीनिकेव नेत्रस्य	७	२९५
३३	कल्पद्रुमुन्मूल्य	७	२९७
१६	कलाकलापसम्पन्ना	७	२८८
२४	कामो मिथ्यात्वमज्ञानं	७	२९४
१३	कुशाग्राम्बुचला भोगा	७	२८३
५	गुणमालाऽऽह्वकान्तायां	७	२७८
१९	गुरु-देव-ब्राह्मणर्षि	७	२९०
३२	चिन्तामणेर्वा किल	७	२९७
३९	चेतः पुनाति	७	३०१
४	छित्त्वा पाशमपास्य	७	२७७
१	जिनकल्पद्रुमो जीयाद्	७	२७३
८	जीयान् घ्नतां यत्र	७	२८०
१७	जोग्गा वि धम्मरयणस्स	७	२८९
५३	तयोरगाधेऽद्भुत-	७	३०६

४७	त्यज दुर्जनसंसर्गं	७	३०४
२६	तत्त्वश्रद्धानमेतच्च	७	२९५
२७	तत्त्वं ब्रह्म यथा	७	२९५
४५	दुष्प्रापं प्राप्य मानुष्यं	७	३०४
२१	देवाण य धम्माण य	७	२९१
९	द्यूतं द्यूतकरः सुरां	७	२८१
११	न रामतातस्तिसूभिः	७	२८२
३८	नेत्रानन्दकरी	७	३०१
५१	नो दुष्कर्मप्रयासो	७	३०५
४१	परोमकाराय न	७	३०२
४०	प्रायो भयन्ति	७	३०२
६	पित्रोः सा वल्लभाऽ-	७	२७८
१५	पीडितानां पराभूत्या	७	२८३
४२	पुंसो विषं च	७	३०३
३१	भुंजउ जं वा तं वा	७	२९६
३५	मिथ्यात्वं दुःखदं	७	२९९
४९	मूर्खः कामसुखा-	७	३०५
४४	मोक्षमार्गप्रपन्नानां	७	३०४
७	यत्पृष्ठिं ददतां सदैव	७	२७९
४८	यावत् स्वस्थमिदं	७	३०४
३७	ये द्रव्यव्ययकारिणः	७	३००
२२	लुम्बिका नालिकेराणां	७	२९१
३०	वरमसौ दिवसो न	७	२९६
२०	वाजि-वारण-लोहानां	७	२९१
३६	विषा-ऽहि-रुग्	७	२९९
५०	श्राद्धधर्मस्तालवृक्ष	७	३०५
५२	शुष्काङ्ककौ तीव्र-	७	३०६
१४	सन्त्याज्यः स्वजनस्नेहो	७	२८३
१८	सुद्धे वि दले पडिमा	७	२८९
३	सुभटानां रणे	७	२७५
१२	क्षणक्षयाश्च संयोगा	७	२८३

अष्ठम सर्ग

७	अभिनवमहामान-	८	३१६
१४	अमोघा वासरे	८	३१९
४	अवश्यं भाविनो	८	३१३
२८	आनन्दाश्रूणि	८	३२७
१७	आलावणेण	८	३२१
४६	ईर्ष्या-विषादरहिता-	८	३३८
३९	एकत्र रुघते गेहे	८	३३६
३१	कच्चित् कुशलमार्यस्य	८	३३१
१०	किं जीविएण किं वा	८	३१७
८	कूटसाक्षी सुहृद्द्रोही	८	३१६
६	चक्रि-केशव-रामादि	८	३१३
२७	चित्तं वित्तं च	८	३२६
२२	जन्तुः काल-	८	३२५
३०	ज्येष्ठः पुमर्थेषु	८	३२९
४३	तवेति ज्ञाततत्त्वस्य	८	३३६
४०	तापयन्ति जरा-	८	३३६
२६	देयं वात्सल्य-	८	३२६
२१	देवो नैरयिको राजा	८	३२५
४४	धर्मोऽयं पितृ-मात	८	३३७
२४	नाविर्भवन्ति यत्रैव	८	३२५
४५	निर्दन्तः करटी	८	३३७
१५	निशावियृद्धिः किल	८	३२०
३६	प्रतापकृतदोषान्ता	८	३३५
३	प्राप्तव्यमर्थं लभते	८	३१२
१३	प्रायः सत्यपि वैभवे	८	३१७
५	बध्यन्ते बलिनो	८	३१३
२५	बुभुक्षितैर्व्याकरणं न	८	३२६

३८	भवेद् मृत्युकृते जन्म	८	३३६	९	कर्मायत्तं फलं	९	३४५
४१	भुज्यमानं च यद्	८	३३६	५६	कामारंभपरि-	९	३६९
४२	भोगासक्ताश्च ये	८	३३६	३९	किमुदुम्बर ! तुल्यस्ते	९	३५८
२९	मित्राणि तानि	८	३२८	१३	केऽप्याप्तमपि पुण्येन	९	३४६
१८	मृगा मृगैः सङ्गमनु-	८	३२२	२१	गतानां कुगतौ भूयो	९	३५०
२	यद् भावि तद्	८	३१२	२२	गलत्यायुः सदा	९	३५०
३२	रण्णे कयवासाणां	८	३३१	४६	गुणवदपगुणं वा	९	३६४
१२	रत्नाकरः किं विदधाति	८	३१७	१	जीयाज्जिनेन्द्रगीर्गङ्गा	९	३३९
१	वर्द्धमानजिनो	८	३०७	३६	जीवन्तो मृतकाः	९	३५७
२०	वने रणे शत्रु-जला	८	३२४	२७	ततः श्रीधर्मराजेन्द्रं	९	३५०
३४	विद्यातीर्थे विमलमतयः	८	३३२	२९	त्वया ह्यनुगृहीतोऽहं	९	३५१
३३	वैश्वानरः करस्पर्शे	८	३३२	२६	तिष्ठन्तु स्वजना	९	३५०
९	शरीरं धर्मसंयुक्तं	८	३१६	८	त्रिजगद्व्यापकं वीक्ष्य	९	३४४
११	शास्त्रं बोधाय दानाय	८	३१७	५७	तौ शुद्धसिद्धान्तसुधां	९	३७०
३५	श्रुत्वेति देशनां	८	३३३	२०	दुग्धं न लकुटाघातं	९	३५०
२३	सदैव सेवते साधु	८	३२५	३२	दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये	९	३५४
१६	स्नेहं विमुच्य	८	३२१	५२	धर्मः सुप्तेषु जागर्ति	९	३६६
१९	सब्भावी सब्भाविय	८	३२३	५३	न दत्ते वन्दनं	९	३६८
३७	संसारे सहजाऽसारे	८	३३५	११	नमः क्रोधेभसिंहाभ !	९	३४६
	नवम सर्ग			१२	न्यग्रोधे दुर्लभं पुष्पं	९	३४६
				२३	नरकाद्यापदां मूलं	९	३५०
१७	अर्थाः पादरजःसमा	९	३४६	३१	निग्गंथ-सिणायाणं	९	३५४
१४	अनन्तान्यपि रत्नानि	९	३४६	३३	निर्द्रव्यो धनचिन्तया	९	३५४
१८	अनिन्द्रियगुणं जीव	९	३४७	३५	निर्द्रव्यो ह्रियमेति	९	३५६
६०	अनुत्तरे सद्विषयैः	९	३७०	३	नृत्यत्खेचरसन्नारी	९	३४१
७	अरिशब्दो गतश्चक्रे	९	३४४	४५	परयसणहरिसियमणा	९	३६२
४०	अवलोइओ म्हि	९	३५९	२४	प्राणिनां ये प्रिय-	९	३५०
५४	अश्राद्धोऽपि	९	३६८	३८	पुरिसेण माणधण-	९	३५७
१५	आयुषः क्षण एकोऽपि	९	३४६	१६	पूज्यपूजा दया दानं	९	३४६
१०	आलस्य हि मनुष्याणां	९	३४५	४	भट्ट-बन्दि-	९	३४१

२	भुक्त्वाऽर्हद्गीः फलं	९	३४०
५	मातङ्गपूगास्तुरगाश्च	९	३४२
४३	माय-पिय-पुत्त-	९	३६२
४८	मित्रश्रीदर्शनादक्ष्णोः	९	३६४
४९	मित्रं विना कथं	९	३६४
४४	मुखे मिष्टा हृदि	९	३६२
१९	मोहंधयारपडिया	९	३४८
३०	यः पापी पातयत्यन्यं	९	३५३
२५	ये तु पुत्र-कलत्राद्याः	९	३५०
५१	रणेऽर्णवे गणेऽरीणां	९	३६६
५८	रत्नत्रयोपासनसावधानौ	९	३७०
४१	व्यसनागमे न दैन्यं	९	३६०
३७	वरं वनं व्याघ्रगणै-	९	३५७
२८	श्रुत्वेति दलितग्रन्थि	९	३५१
६	सद्धर्मो दुर्लभो	९	३४२
५५	सब्भावेण वहन्ति	९	३६८
३४	सुखित्वे कामललितै	९	३५५
५०	संयोगाः स्युर्वियोगान्ता	९	३६४
४२	संसारविसमविसपाय-	९	३६०
४७	हा हा ! केन कृतं	९	३६४
५९	हेमन्ते तिष्ठतस्तौ	९	३७०

दशम सर्ग

२२	अनन्तभवसम्भवानाम	१०	४००
२०	कंदुक्खणणं नियदेस-	१०	३९७
२	चंदो चंदणपंको	१०	३७३
१०	जाएसु जेसु	१०	३८५
१	जीयात् शङ्खेश्वरः	१०	३७२
३	तल्पं तामरसं	१०	३७३
५	दत्तस्तेन जगत्य-	१०	३७४
१७	धन्यानामपि	१०	३९५
१८	धन्यानां सुप्रसन्नाश्च	१०	३९५
१२	धनेनैव हि साध्यन्ते	१०	३९१
४	धारायन्त्रतुषारसार-	१०	३७३
९	द्यूतं च मांस	१०	३८४
८	न जीवइ सुहं	१०	३८०
१५	निर्दन्तः करटी	१०	३९४
१६	पिता माता भ्राता	१०	३९५
११	प्रोक्तं प्रेम रतेः	१०	३९१
१९	या षट्खण्डमही-	१०	३९७
७	याः पश्यन्त्यः	१०	३७८
१३	रम्यं रूपमरोगता	१०	३९४
१४	लक्ष्मीर्वेश्मनि	१०	३९४
२१	शमाम्भोधिमग्नौ	१०	३९९
६	हारो नारोपितः	१०	३७८

एकादशः सर्ग

२२	अन्या भणति	११	४२०
२४	अन्याः प्राहुरयं	११	४२०
१३	अवश्यं यातारश्चिर-	११	४१५
१२	अविदितपरमानन्दो	११	४१५
२७	असौ भद्रासने	११	४२१
२०	इन्द्रवत् कुमरं	११	४२०
१०	उपदा बहुधाऽऽयाताः	११	४१२
२	करिणो सिणीहि	११	४०२
८	क्लिश्यन्ते केवलं	११	४०६
३०	किं तीए सिरीए	११	४२५
१	जयत्यर्हन्मताम्भोधि	११	४०१
२८	जय निर्द्रोह निर्मोह!	११	४२३
२६	जल्पन्त्यः पौरनार्यस्तु	११	४२१

३३	तौ स्नेहमुक्तौ	११	४२७
१७	दिव्यभूषाजितस्वर्गः	११	४१८
५	नवस्रोतःस्रवद्विस	११	४०४
१५	नित्यायुक्ता	११	४१७
२५	पराः प्रोचुरिमा	११	४२१
११	प्रथमे नाऽर्जिता	११	४१५
२९	पापपङ्केन ना	११	४२३
७	पिङ्गाक्षी कूपगल्ला	११	४०५
१९	पूर्यमाणमनःकामे	११	४१९
३१	माणुस्स-खित्त	११	४२६
९	राजराजो जयत्येवं	११	४१२
६	लसत्कमलनेत्रासु	११	४०५
२३	वदन्त्यन्या वयस्येऽस्य	११	४२०
१८	वर्यतूर्यादिसन्नादग-	११	४१९
४	वसा-ऽसृग्-मांस	११	४०४
२१	वीक्ष्य काश्चिद्	११	४२०
१४	शेषकार्येष्वपि	११	४१७
१६	सकृज्जल्पन्ति	११	४१८
३	सव्वं विलयिय	११	४०३
३४	क्षान्त्यादिमुक्ताफल-	११	४२७
३२	क्षितितलयियदङ्के	११	४२७

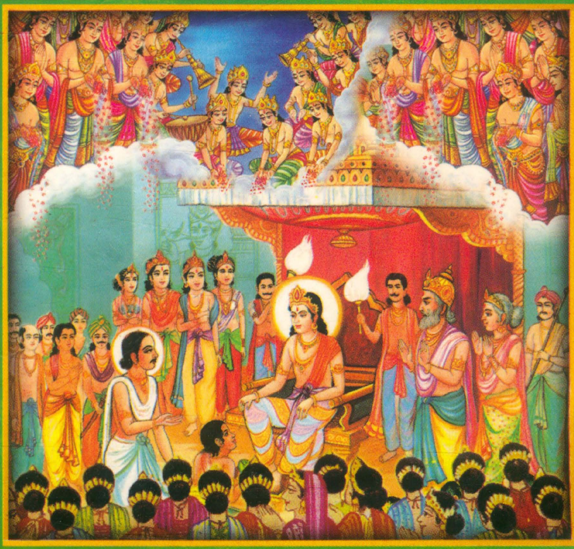

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222